THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली

★

६०४

क्रम संख्या 2३ पु/दस्वा

काल नं०

खण्ड २८२०

सत्य-समाज-ग्रन्थमालाका ११ वाँ पुष्प

जैनधर्म-मीमांसा

दूसरा भाग

लेखक—

दरबारीलाल सत्यभक्त
संस्थापक सत्यसमाज

प्रकाशक—

सत्याश्रम वर्धा [सी. पी.]

अगस्त १९४०

मूल्य डेढ़ रुपया

प्रकाशक—

सूरजचन्द सत्यप्रेमी [डाँगी]

सत्याश्रम वर्धा, [सी. पी.]

मुद्रक—

सत्येश्वर प्रिन्टिङ्ग, प्रेस.

वर्धा [सी. पी.]

—: विषय-सूची :—

चौथा अध्याय [सर्वज्ञत्व-मीमांसा]

सम्यग्ज्ञान	१
सर्वज्ञता का मनोवैज्ञानिक इतिहास	४
अनन्त का प्रत्यक्ष असंभव	१६
सप्त-भंगी	२९
असत् का प्रत्यक्ष असंभव	४१
अनेक विशेष	५२
युक्त्याभासों की आलोचना	५३
पहला युक्त्याभास	५४
दूसरा युक्त्याभास	६२
तीसरा युक्त्याभास	७०
अन्य युक्त्याभास	७८
सर्वज्ञता और जैनशास्त्र	८१
उपयोग के विषय में मतभेद	८२
केवलज्ञानोपयोग का रूप	९१
केवली और मन	१०३
केवली के अल्पज्ञान	१२७
सर्वज्ञ शब्द के अर्थ	१४६
वास्तविक अर्थ का समर्थन	१५३
सर्वज्ञता की बाह्य परीक्षा	१७०

विविध केवली १७०
संघ में केवली का स्थान १७२
सर्वज्ञत्व की जाँच १७५
महावीर और गोशाल १७८
सर्वज्ञम्मन्य १८४
सर्व विद्या-प्रभुत्व १८५
सर्वज्ञ चर्चा का उपसंहार १८५

पाँचवाँ अध्याय [ज्ञान के भेद]

प्रचलित मान्यताएँ १८९
दिवाकरजी का मतभेद १९२
अन्य मतभेद १९७
श्रीधवल का मत २०२
शंकाएं २१०
उपयोगों का वास्तविक स्वरूप २१३
दर्शन के भेद २२३
ज्ञान के भेद २२६
मतिश्रुत का स्वरूप २३७
मतभेद और आलोचना २४९
श्रुतज्ञान के भेद २९५
अंगप्रविष्ट ३१२
आचारांग ३१२
सूत्रकृतांग ३१२

स्थानांग	३१४
समवायांग	३१४
व्याख्याप्रज्ञप्ति	३१५
न्याय-धर्म-कथा	३१६
उपासकदशांग	३१९
अंतकृद्दशांग	३२४
अनुत्तरौपपातिक दशांग	३२६
प्रश्नव्याकरण	३२७
विपाकसूत्र	३३४
दृष्टि-वाद	३३४
अंग-बाह्य	३७७
श्रुतपरिमाण	३८०
अवधिज्ञान	३८८
मनःपर्ययज्ञान	४०४
केवलज्ञान	४१०

प्रस्तावना

जैन-धर्म-मीमांसा का प्रथम भाग निकलने के सवा चार वर्ष बाद उसका दूसरा भाग निकल रहा है। इस भाग में मीमांसा के चौथे और पाँचवें अध्याय हैं, जिनमें ज्ञान की आलोचना की गई है। जैनसमाज में मीमांसा के जिस अंश के द्वारा सब से अधिक क्षोभ हुआ है वह इसी भाग में है।

जैनशास्त्रों की प्रणाली इतनी व्यवस्थित रही है कि उसे वैज्ञानिक कहा जा सकता है, जैनियों को इस बात का अभिमान भी है, मुझे भी एक दिन था। पर जैन-जनता इस बात को भूल रही है कि वैज्ञानिकता जहां गौरव देती है वहां हरएक नूतन सत्य के आगे झुकने का विनय भी देती है, निष्पक्षता भी देती है। जिस में यह विनय और निष्पक्षता न हो उसे वैज्ञानिकता का दावा करने का कोई अधिकार नहीं है।

आज तक के जीवन का बहुभाग मैंने जैनशास्त्रों के अध्यापन में बिताया है। पिछले चार वर्ष से ही इस कार्य से छुट्टी मिली है। इस लम्बे समय में प्रारम्भिक लम्बा काल ऐसा बीता जिसमें मैं जैनधर्म का प्रेमी नहीं, मोही था। मैं चाहता था कि जैनधर्म को ऐसा अकाट्य रूप दूं जिसका कोई खंडन न कर सके और इस रूप को देखकर नास्तिक व्यक्ति भी जैनधर्म की वैज्ञानिक सचाई के आगे झुक जाय।

इसी मोह के कारण मैंने 'जैनधर्म का मर्म' शीर्षक लेखमाला लिखी थी। इस खोज के कार्य में भगवान सत्य की ऐसी झाँकी देखने को मिली कि मैं समझने लगा कि जैनधर्म ही नहीं संसारके प्रायः सभी धर्म वैज्ञानिक और हितकारी हैं। इस प्रकार समभाव के आने पर मेरे जीवन की कायापलट हो गई, सत्यसमाज की स्थापना हुई इसका श्रेय अधिकांश में जैनधर्म को दिया जा सकता है मैंने उसके अनेकान्त को सर्वधर्म-समभावके रूपमें समझकर अपने को कृत्यकृत्य माना।

इस विशाल मीमांसा के कारण जैन-समाज ने मुझे जैनधर्म का निंदक समझा, मेरा विरोध और बहिष्कार किया, उपेक्षा भी की इससे मुझे कुछ कष्ट तो सहना पड़ा, आर्थिक हानि भी काफ़ी कही जा सकती है पर सत्पथ में आगे बढ़ने का श्रेय इसे कुछ कम नहीं दिया जा सकता। खेद इतना ही है कि जैन-समाज के इने-गिने लोगों को छोड़कर किसीने मेरे दृष्टि-बिन्दु और जैन-धर्म के विषय में मेरी भक्ति को समझने की चेष्टा न की। सान्त्वना के लिये मुझे निष्काम कर्मयोग का ही सहारा लेना पड़ा।

फिर भी इतना तो मुझे सन्तोष है ही कि इस ग्रंथ से जैन विद्वानों की विचार-धारा में काफ़ी परिवर्तन हुआ है। कुछ मित्रों के कथनानुसार निकट भविष्य में जैनधर्म इसी दृष्टि से पढ़ा जायगा। हो सकता है कि मैं तब भी निन्दक ही कहलाता रहूं, परन्तु अगर इससे किसी की विचारकता जगी तो मैं अपनी निंदा को अपना सौभाग्य ही समझूंगा।

जैन जगत् में यह भाग ६—७ वर्ष पहिले निकला था। कुछ विद्वानों ने इसका विरोध किया था जिसका विस्तृत उत्तर

भी तभी एक लेखमाला के द्वारा दे दिया गया था। पुस्तकाकार छपाते समय अगर वे सब उत्तर शामिल किये जाते तो काफ़ी पिष्ट-पेषण होता, कलेवर भी बढ़ता। इस बात में सब से अधिक चिंता की बात थी पैसों का ख़र्च। इसलिये विरोधी बन्धुओं के वक्तव्य को प्रश्न बनाकर उनका उत्तर बीचबीच में दे दिया गया है इससे पिष्टपेषण और शाब्दिक झगड़ों में जगह नहीं घिर पाई है। संशोधन करते समय यह चिन्ता बराबर सवार रहती थी कि पुस्तक बड़ी न होने पावे अन्यथा प्रकाशन-ख़र्च बढ़ जायगा। फिर भी यह भाग पहिले भाग से बढ़ ही गया, सवाये से अधिक हो गया, पर इसका कुछ उपाय न था। विशेष संशोधन सर्वज्ञ-चर्चा या चौथे अध्याय में ही किया गया है। पाँचवाँ अध्याय तो क़रीब क़रीब ज्यों का त्यों है।

इस भाग के प्रकाशन में निम्नलिखित विद्वान सज्जनों से इस प्रकार सहायता मिली है। इसके लिये उन्हें धन्यवाद देने के बदले बधाई दूँ तो गुस्ताख़ी न होगी।

२००) श्री नाथूरामजी प्रेमी बम्बई

२००) श्री मोहनलाल दलीचन्दजी देसाई
बी. ए. एल- एल बी. बम्बई।

७५) श्री कस्तूरमलजी बाँठिया प्रीतमाबाद।

फिर भी कुछ रक़म सत्याश्रम से लगाना पड़ी है। अगर इन सज्जनों की सहायता न मिलती तो और न जाने कितने वर्ष यह भाग जैन-जगत् की फायलों में सड़ता रहता जैसा कि अर्थाभाव से तीसरा भाग सड़ रहा है।

तीसरे भाग में जैनाचार पर विचार हैं। ज्ञान के समान आचार भाग में भी काफ़ी क्रान्ति की गई है। नियम, साधु-संस्था

आदि इस युगके लिये कैसे होना चाहिये इसका विस्तृत विवेचन किया गया है। अगर कोई सज्जन उसके प्रकाशन के लिये पूरी या आंशिक सहायता देंगे तो वह भाग भी शीघ्र प्रकाशित किया जा सकेगा।

अन्त में मैं जैनसमाज से यही कहना चाहता हूं कि आज मैं पूर्ण सर्वधर्मसमभावी और सर्वजातिसमभावी हूं इसलिये जैनसमाज का सदस्य नहीं हूं पर जैनधर्म पर या उसके संस्थापक म. महावीर पर मेरी भक्ति कुछ कम न समझें। जैसे अनन्त तीर्थंकरों में बट-कर भी जैनियों की महावीर-भक्ति कम नहीं होती उसी प्रकार राम कृष्ण बुद्ध ईसा मुहम्मद जरथुस्त आदि महात्माओं में बटकर भी मेरी महावीर-भक्ति कम नहीं है। क्योंकि न तो इन सब महात्माओं में मुझे कुछ विरोध मालूम होता है न परायापन।

म. महावीर का अनुचर बनने की इच्छा रखने पर भी मैंने जैनशास्त्रों की आलोचना की है, सर्वज्ञता के उस असंभव रूप का खण्डन किया गया है जो म. महावीर की महत्ता के लिये कल्पित किया गया था। यह सिर्फ इसलिये किया है कि जैनधर्म अन्ध श्रद्धालुओं का धर्म न रह जाय, बुद्धि विकास में वह बाधा न डाले सत्यसे विमुख होकर वह अधर्म न बन जाय और म. महावीर सरीखी प्रातःस्मरणीय दिव्य विभूति अन्धश्रद्धामें लुप्त न हो जाय।

आज का जैनसमाज मेरे मनोभावों को समझे या न समझे पर मुझे विश्वास है कि भविष्य का जैनसमाज मेरे मनो-भाव को समझेगा वह मुझे शाबासी दे या न दे पर सेवक जरूर मानेगा, निंदक या शत्रु कदापि न मानेगा। जीवनमें इस आशा के अनुरूप कुछ देखूं या न देखूँ पर इसी आशा के साथ मरूंगा यह निश्चय है।

सत्याश्रम वर्धा ता. १ जून १९४० **—दरबारीलाल सत्यभक्त**

समर्पण

महात्मा महावीर की सेवा में

महात्मन् !

आपने अनेकान्त देकर समन्वय सिखाया, धर्म को वैज्ञानिक बनाया, अन्धश्रद्धा हटाई, परीक्षकता बढ़ाई, सुधारक मनोवृत्ति पैदा की, पर आपके पीछे इन बातों की ऐसी प्रतिक्रिया हुई कि जिनने आपके जीवन के और साहित्य के मर्म को समझा उनका हृदय रोने लगा उन्हीं रोनेवालों में से मैं भी एक हूँ।

मेरी शक्ति थोड़ी थी पर आपके जीवन ने कुछ ऐसा साहस दिया कि उस प्रतिक्रिया को दूर करके, विकार को हटाने की इच्छा मैं न रोक सका, इसी इच्छा का फल यह मीमांसा है। इस में थोड़ी बहुत भूल हुई होगी पर यह जैनत्व के दर्शन के मार्ग में बाधा नहीं डाल सकती। पद-चिह्न देखकर राह चलनेवाले के पैर पद-चिह्नों पर न भी पड़ें तो भी राह कुराह नहीं होती इसी आशा पर यह साहस किया है और इस का फल आपके चरणों में समर्पित कर रहा हूँ।

आपका पुजारी

—दरबारीलाल सत्यभक्त

महावीर स्वामी

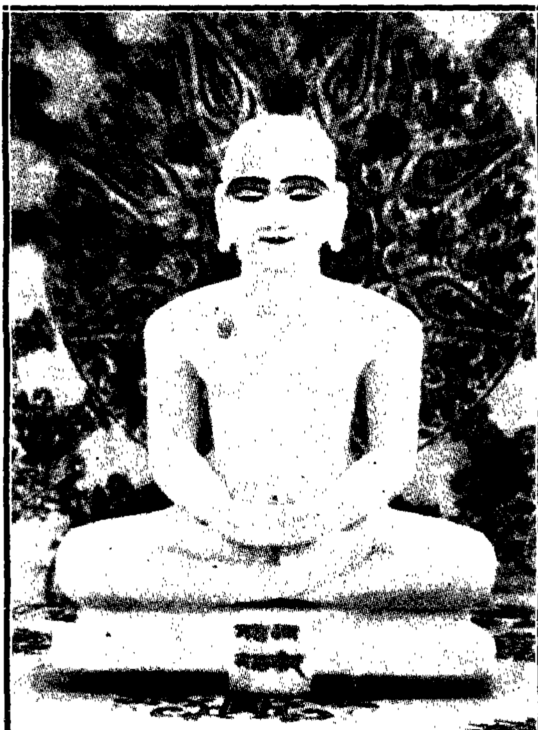

सत्याश्रम वर्धा के मन्दिर में विराजमान मूर्ति।

सत्य-समाज के संस्थापक

दरबारीलाल सत्यभक्त

जैनधर्म-मीमांसा

चौथा अध्याय

सर्वज्ञत्व मीमांसा

सम्यग्ज्ञान

सम्यग्ज्ञान शब्द का अर्थ है सच्चा ज्ञान। अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसे उसी प्रकार जानना सम्यग्ज्ञान * है। साधारण व्यवहार में और वस्तुविचार में सम्यग्ज्ञान की यही परिभाषा है, परन्तु धर्मशास्त्र में सम्यग्ज्ञान की परिभाषा ऐसी नहीं है। व्यवहार में किसी वस्तुका अस्तित्व-नास्तित्व जानने के लिये 'सम्यक्' और 'मिथ्या' शब्दोंका व्यवहार किया जाता है परन्तु धर्मशास्त्र में कोई ज्ञान तबतक सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता जबतक वह हमारे सुख का कारण न हो। मैंने पहिले कहा है कि धर्म सुख के लिये है। इसलिये धर्मशास्त्रों की दृष्टि में वही ज्ञान सच्चा ज्ञान कहलायगा जो हमारे कल्याण के लिये उपयोगी हो। यही कारण है कि धर्मशास्त्र में सम्यग्दृष्टि का प्रत्येक ज्ञान सच्चा कहा जाता है और मिथ्यादृष्टि का प्रत्येक ज्ञान मिथ्या कहा जाता है। चतुर्थ गुणस्थान से (जहां से जीव सम्यग्दृष्टि होता है) प्रत्येक ज्ञान सम्यक् ज्ञान है। इसके

पहिले मति और श्रुतज्ञान कुमति और कुश्रुत कहलाते हैं। जहां सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन का मिश्रण रहता है वहां सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान का भी मिश्रण * माना जाता है।

सम्यग्दर्शन से हमें वह दृष्टि प्राप्त होती है जिससे बाह्यदृष्टि से जो मिथ्याज्ञान है वह भी कल्याण का साधक होजाता है। एक आदमी सम्यग्दृष्टि है किन्तु आँखों की कमजोरी से, प्रकाश की कमी से या दूर होने से रस्सी को सर्प समझ लेता है तो व्यवहार में उसका ज्ञान असत्य होने पर भी धर्मशास्त्र की दृष्टि में वह सम्यग्ज्ञानी ही है, क्योंकि इस असत्यता से उसके कल्याण मार्ग में कुछ बाधा नहीं आती।

यह तो एक साधारण उदाहरण है, परन्तु इतिहास, पुराण, भूवृत्त, स्वर्ग नरक, ज्योतिष, वैद्यक, भौतिक विज्ञान आदि अनेक विषयों पर यही बात कही जा सकती है। इन विषयों का सम्यग्दृष्टि को अगर सच्चाज्ञान है तो भी वह सम्यग्ज्ञानी है और मिथ्याज्ञान है तो भी वह सम्यग्ज्ञानी है।

तात्पर्य यह है कि जिससे आत्मा सुखी हो अर्थात् जो सुख के सच्चे मार्ग को बतलाने वाला है वही सम्यग्ज्ञान है। जिसने सुख के मार्ग को अच्छी तरह जान लिया है अर्थात् पूर्णरूप में अनुभव कर लिया है वही केवली या सर्वज्ञ कहलाता है। आत्मज्ञानकी परम

---

* ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानेषु मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिश्चास्ति आभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञानेषु असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीन ···· । सर्वार्थसिद्धि १-८ । मिस्सुदये सम्मिस्सं अण्णाणतियेण णाणतियमेव। गो जी ।३०२।

प्रकर्षता भी इसीका नाम है। मैं जिस लेखनी से लिख रहा हूं उस में कितने परमाणु हैं, प्रत्येक अक्षरके लिखने में उसके कितने परमाणु घिसते हैं, मैंने जो भोजन किया उसमें कितने परमाणु थे, और एक एक दाँत के नीचे कितने परमाणु आये आदि अनन्त कार्य जो जगत में हो रहे हैं उनके जानने से क्या लाभ है ? उसका आत्मज्ञान से क्या सम्बन्ध है ?

किसी जैनेतर दार्शनिक ने ठीकही कहा है:—

सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु ।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥

सब पदार्थों को देखे या न देखे परन्तु असली तत्त्व देखना चाहिये। कीड़ों मकोड़ों की संख्या की गिनती हमारे किस कामकी ?

तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम् ।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते गृद्धानुपास्महे ॥

इसलिये कर्तव्य के ज्ञानका ही विचार करना उचित है दूरदर्शी को प्रमाण मानने से तो गृद्धोंकी पूजा करना ठीक होगा।

ये श्लोक यद्यपि मज़ाकमें कहे गये हैं फिर भी इनमें जो सत्य है वह उपेक्षणीय नहीं है। जो ज्ञान आत्मोपयोगी है वही पारमार्थिक है, सत्य है, उसी की परमप्रकर्षता केवलज्ञान या सर्वज्ञता है।

सर्वज्ञता की परिभाषा के विषय में आज कल बड़ा भ्रम फैला हुआ है। सम्भवतः महात्मा महावीर के समय से या उनके कुछ पीछे से ही यह भ्रम फैला हुआ है जोकि धीरे धीरे और

बढ़ता गया है। जैनविद्वानों की मान्यता के अनुसार केवलज्ञान का अर्थ है—लोकालोक के सब द्रव्यों की त्रैकालिक समस्त पर्यायों का युगपत् (एक साथ) प्रत्यक्ष ज्ञान। यह अर्थ कैसे बन गया और यह कहांतक ठीक है, इस बात पर मैं कुछ विस्तृत और स्पष्ट विवेचन करना चाहता हूँ।

सर्वज्ञता की मान्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास

विकासवादके अनुसार, जब मनुष्य पाशव जीवन से निकल कर सभ्यताका पाठ पढ़ने के लिये तैयार हुआ उस संक्रान्ति काल में और प्रचलित धर्मों की मान्यता के अनुसार जब स्वार्थ के कारण भ्रष्ट हुआ और आपसमें लड़ने लगा तब कुछ लोगों के हृदय में यह विचार आया कि अगर हम स्वार्थवासना को पशुबल के साथ स्वच्छन्द फैलने देंगे तो मनुष्य सुखी न हो सकेगा। चोरों के हृदय पर राजा का आतंक बैठाया जाता है, परन्तु जब राजा लोग ही अत्याचार करने लगें तब उनके ऊपर किसी ऐसे आत्मा का आतंक होना चाहिये जो अन्यायी न हो, इसी आवश्यकता का आविष्कार ईश्वर की कल्पना है। परन्तु जिन लोगों के हृदय पर ईश्वर का आतंक बैठाया गया उनके हृदय में यह शंका तो हो ही सकती थी कि ईश्वर सर्वशक्तिशाली भले ही हो परन्तु जब ईश्वर को मालूम ही न होगा तब वह हमें दंड कैसे देगा ? इसलिये ईश्वर को सर्वज्ञ मानना पड़ा। एक बात और है कि जब एक दंडदाता ईश्वर की कल्पना हुई तब उसे स्रष्टा और रक्षक भी मानना पड़ा। अन्यथा कोई कह सकता था कि उसे क्या अधिकार है कि वह किसी को

दंड दे ? परन्तु ईश्वर जगत्कर्ता माननेसे इनका और ऐसी अनेक शंकाओं का समाधान हो गया । परन्तु ईश्वर जगत बनावे, रक्षण करे और दंड दे; ये कार्य सर्वज्ञ हुए बिना नहीं हो सकते । इसलिये जगत्कर्तृत्व के लिये सर्वज्ञता की कल्पना हुई ।

परन्तु कुछ सत्यान्वेषी ऐसे भी थे जो इस प्रकार की कल्पना से संतुष्ट नहीं थे। ईश्वर की मान्यता में जो बाधाएँ थीं और हैं उन्हें दूर करना कठिन था फिरभी शुभाशुभ कर्मफल की व्यवस्था बनसकती थी। उनका कहना था कि प्राणी जो अनेक प्रकार के सुख दुःख भोगते हैं, उनका कोई अदृष्ट कारण अवश्य होना चाहिये, किन्तु वह ईश्वर नहीं हो सकता; क्योंकि प्राणियों को जो दुःखादि दंड मिलता है वह किसी न्यायाधीश की दंडप्रणाली से नहीं मिलता, किन्तु प्राकृतिक दंडप्रणाली से मिलता है। अपथ्य-भोजन जैसे धीरे धीरे मनुष्य को बीमार बना देता है उसी प्रकार प्राणियों को पुण्य-पाप-फल भोगना पड़ता है। इस प्रचार पुण्य-पाप फल प्राकृतिक हैं। ऐसे विचारवाले लोगों की परम्परा में ही सांख्य, जैन और बौद्ध दर्शन हुए हैं।

इन लोगोंने जब ईश्वर को न माना तब ईश्वरवादियों की तरफ से इन लोगों के ऊपर खूब आक्रमण हुए। उन लोगों का कहना था कि जब तुम ईश्वर को नहीं मानते तब पुण्यपाप का फल मिलता है, यह कैसे जानते हो ? क्या तुमने परलोक देखा है ? क्या तुम्हें प्राणियों के कर्म दिखाई देते हैं ? क्या तुम्हें कर्मकी शक्तियों का पता है ? इन सब प्रश्नों का सीधा उत्तर तो यह था कि हमें विचार करने से इन बातों का पता लगा है। परन्तु वह युग ऐसा था कि उस समय की जनता

सिर्फ विचार से निर्णीत वस्तु पर विश्वास करने को तैयार न थी। स्वरुचिविरचितत्व एक दोष माना जाता था इसलिये अपनी बात को प्रमाणसिद्ध करने के लिये अनीश्वरवादियों ने ईश्वर की सर्वज्ञता मनुष्य में स्थापित की। सर्वज्ञत्व आत्मा का गुण माना जाने लगा। अब ईश्वरवादियों के आक्षेपों का समाधान अनीश्वरवादी अच्छी तरह से करने लगे। इसके बाद अनीश्वरवादियों ने भी ईश्वरवादियों से वे ही प्रश्न किये कि ईश्वर सर्वज्ञ है और जगत्कर्ता है यह बात तुमने कैसे जानी? तुम भी तो ईश्वर को, उसके कार्य को, परलोक को, पुण्य पाप को देख नहीं सकते। इस आक्षेप से बचने के लिये अनीश्वरवादियों की तरह ईश्वरवादियों ने (जिनके आधार पर न्याय वैशेषिक योग दर्शन बने) अपने योगियों को सर्वज्ञ माना। इस प्रकार ईश्वर की सर्वज्ञता, अनीश्वरवादी योगियों में और ईश्वरवादी योगियों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप से उतरती गई। इस का कारण यह था कि सभी लोग अपने अपने दर्शनों को पूर्ण सत्य साबित करना चाहते थे।

मीमांसक सम्प्रदाय का पन्थ इन सबसे निराला है। उसे एक तरह से अनीश्वरवादी कहना चाहिये, परंतु आस्तिक होने पर भी उसने सर्वज्ञ मानना उचित न समझा। जिस भयसे लोग सर्वज्ञ योगियों की कल्पना करते थे उस भय को उसने वेदों का सहारा लेकर दूर किया है।

मीमांसकों की दृष्टि में वेद अपौरुषेय हैं, अनादि हैं सत्यज्ञानके भंडार हैं। जो सम्पूर्ण वेदोंका जानने वाला है वही सर्वज्ञ है। अनन्त पदार्थों को जाननेवाला सर्वज्ञ असम्भव है। इस चर्चा का निष्कर्ष

यह है कि अपने अपने सिद्धान्तों को पूर्णसत्य साबित करने के लिये लोगोंने सर्वज्ञता की कल्पना की है।

इस प्रकार सामान्य सर्वज्ञता स्वीकार कर लेने के बाद उसके विषयमें और भी अनेक प्रश्न हुए हैं। सर्वज्ञता अनादि अनन्त है या सादि अनन्त है या सादि सान्त है ? इसी प्रकार एक और प्रश्न था कि सर्वज्ञता प्रतिसमय उपयोग रूप रहती है या लब्धिरूप ? इन सब प्रश्नोंके उत्तर भी जुदे जुदे दर्शनों ने जुदे जुदे रूप में दिये हैं।

जो ईश्वरवादी हैं उनकी दृष्टि में तो ईश्वर अनादि से अनन्तकाल तक जगत का विधाता है इसलिये उसकी सर्वज्ञता भी अनादि अनन्त होना चाहिये। परन्तु जो योगी लोग हैं उन्हें इतनी लंबी सर्वज्ञता की क्या जरूरत है ? उनका काम तो सिर्फ इतना है कि जबतक वे जीवित रहें तबतक वे हमें सच्चा उपदेश दें। मृत्यु के बाद उन्हें उपदेश देना नहीं है, इसलिये उस समय वे सर्वज्ञता का क्या करेंगे ? इसलिये उनकी सर्वज्ञता मृत्यु के बाद छीन ली जाती है। मृत्यु के बाद भी अगर वे सर्वज्ञ रहेंगे तो अनन्त कालतक रहेंगे इसलिये एक तरह ईश्वरके प्रतिद्वन्द्वी हो जाँयगे। यह बात ईश्वरवादियों को पसन्द नहीं है। असली बात तो यह है कि ईश्वरवादी किसी दूसरे का सर्वज्ञ होना नहीं चाहते, परन्तु अगर सर्वज्ञयोगी न हो तो उनको सच्चाई का प्रमाण कैसे मिले इसके लिये थोड़े समयके लिये उनने सर्वज्ञयोगियों को माना है और काम निकल जाने पर उनकी सर्वज्ञता छीन ली है। इस तरह इन लोगों के मतमें ईश्वर अनादि अनन्त सर्वज्ञ और योगी सादि सान्त सर्वज्ञ हैं। यह मान्यता कणाद (वैशेषिक) गौतम (न्याय) और पतञ्जलि (योगदर्शन) की है।

मैं पहिले कह चुका हूँ कि मीमांसक सम्प्रदाय ने वेदों का सहारा लेकर आत्मरक्षा की परन्तु वेदों को अपौरुषेय साबित करना कठिन था। बिना अन्धश्रद्धा के वेदों को अपौरुषेय नहीं माना जा सकता था। इसलिये न्याय-वैशेषिक दर्शनोंने वेदों को मान करके भी उन्हें अपौरुषेय न माना और सर्वज्ञयोगियों से उनने प्रमाणपत्र लिया। परन्तु मीमांसक सम्प्रदाय न्याय वैशेषिक से प्राचीन होने से वेद को अपौरुषेय मानने की अन्धश्रद्धा को रख सका इसलिये उसे सर्वज्ञ योगियों की जरूरत नहीं रही।

परन्तु सांख्यदर्शन में इन दोनों विचारों का मिश्रण है। वह वेद को अपौरुषेय भी मानता है और सादिसान्त सर्वज्ञ योगियों को भी मानता है। हाँ, अनीश्वरवादी होने से अनादि अनन्त सर्वज्ञ नहीं मानता। मीमांसक सम्प्रदाय जिस प्रकार वेद के भरोसे रहता है उस प्रकार यह नहीं रहता। यह वेद को अपौरुषेय मानकर के भी सर्वज्ञ योगियों की कल्पना करके अपने को मीमांसकों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित कर लेता है। सांख्यों की सर्वज्ञ मान्यता का एक कारण यह है कि वेद को अपौरुषेय सिद्ध करना कठिन है। अगर कर भी दिया जाय तो वास्तविक अर्थ कौन बतावे? रागद्वेष अज्ञान सहित मनुष्य तो वास्तविक अर्थ बतला नहीं सकता क्योंकि ऐसे पुरुष आप्त नहीं हो सकते। अगर अर्थ करनेवाला आप्त न हो तो उस पर कौन विश्वास करेगा? सर्वज्ञ मानकर मीमांसकों की इस कमजोरी से सांख्यदर्शन बच गया है। और न्याय-वैशेषिक तो वेद को अपौरुषेय मानने की अन्धश्रद्धा से भी बच गये हैं।

जब सर्वज्ञता की कल्पना योगियों में भी की गई तब यह प्रश्न उठा कि योगी लोग सर्वज्ञ कैसे हो सकते हैं। इसका उत्तर सरल था। प्रायः सभी आस्तिक दर्शन आत्मा के साथ कर्म, प्रकृति माया अदृष्ट आदि मानते हैं। बस, इसके बन्धन छूट जाने पर आत्मा सर्वज्ञ हो जाता है।

परन्तु इसके साथ एक जबर्दस्त प्रश्न उठा कि यदि बन्धन छूट जाने से आत्मा सर्वज्ञ हो जाता है तो ज्ञान आत्माका गुण कहलाया, इसलिये बन्धन छूट जाने पर उसे सदा प्रकाशमान रहना चाहिये। वह एक समय अमुक पदार्थ को जाने, और दूसरे समय दूसरे पदार्थ को जाने, यह कैसे हो सकता है? बन्धनमुक्त आत्मा का ज्ञान तो सदा एकसा होगा। वह कभी इसे जाने, कभी उसे जाने, इस प्रकार के उपयोग बदलने का कोई कारण तो होना चाहिये? जो कारण होगा वही बन्धन कहलायगा। इसलिये बन्धनमुक्त आत्मा या तो असर्वज्ञ होगा या प्रतिसमय उपयोगात्मक सर्वज्ञ होगा।

इस प्रश्नने दार्शनिकों को फिर चिन्तातुर किया। सांख्यदर्शन तो इस प्रश्न से सहज ही में बच गया। उसने कहा कि पदार्थों को जानना यह आत्माका गुण नहीं है। वह तो जड़ प्रकृति का विकार है। बिलकुल बन्धनमुक्त होने पर तो आत्मा ज्ञाता ही नहीं रहता। परन्तु जो लोग ज्ञान या बुद्धि को आत्माका गुण मानते थे उनको जरा विशेष चिन्ता हुई। न्याय वैशेषिक यद्यपि मोक्ष में ज्ञानादि गुणों का नाश मानते हैं इसलिये मुक्तात्माओं के विषय में उन्हें कुछ चिन्ता नहीं हुई, न्याय वैशेषिक का मुक्तात्मा सांख्योंके

मुक्तात्मा से कुछ विशेष अन्तर नहीं रखता, परन्तु मुक्त होने के पहिले ज्ञान तो आत्मा में रहता ही है, उस अवस्था में जो योगी सर्वज्ञ होगा वह कैसा होगा ? सर्वदा उपयोग रूप या कभी कभी उपयोग रूप ? त्रिकालत्रिलोकवर्ती पदार्थों का सर्वदा युगपत् प्रत्यक्ष करने वाले योगी की कल्पना तो एक अटपटी कल्पना है। क्योंकि ऐसा योगी किसी की बात क्यों सुनेगा ? किसी से वह प्रश्न क्यों पूछेगा ? और उसका उत्तर क्यों देगा ? क्योंकि उसका उपयोग त्रिकाल त्रिलोक में विस्तीर्ण है, वह किसी एक जगह कैसे आ सकता है ? सामने बैठे हुए मनुष्य की जैसे वह बात सुन रहा है उसी तरह वह अनंत कालके अनंत मनुष्यों अनंत पशुओं अनंत पक्षियों और अनन्त जलचरों के शब्द सुन रहा है। अब किसकी बात का उत्तर दे ? अमुक मनुष्य वर्तमान है, इसलिये उसकी बात का उत्तर देना चाहिये और बाकी का नहीं देना चाहिये—इस प्रकार का विचार भी उसमें नहीं आ सकता क्योंकि इस विचार के समान अनन्तकाल के अनंत विचार भी उसी समय उनके ज्ञान में झलक रहे हैं। तब वे किसके अनुसार काम करें ? इतना ही नहीं किन्तु 'किस विचार के अनुसार काम करें' यह भी एक विचार है जोकि अन्य अनन्त विचारों के समान झलक रहा है। इस प्रकार सार्वकालिक सर्वज्ञ मानने में योगी लोग उपदेश भी नहीं दे सकते। इस प्रकार जिस बात के लिये सर्वज्ञ योगियों की कल्पना की गई थी उसी को आघात होने लगा। दूसरी तरफ अगर इस प्रकार के योगी नहीं मानते तो उपयोग के बदलने का कारण क्या ? इस तरह दोनों ही तरह से आपत्ति है।

इस आपत्ति से बचने के लिये न्यायवैशेषिकों ने योगियों की दो श्रेणियाँ मानलीं। एक युक्त दूसरी युञ्जान। जो त्रैकालिक पदार्थों का सर्वदा प्रत्यक्ष करनेवाले योगी हैं उनको युक्त योगी कहते हैं, और जो चिन्तापूर्वक किसी बातको जानते हैं वे युञ्जान* कहलाते हैं। परन्तु जैनदर्शन ने इस विषय में क्या किया, यह एक विचारणीय प्रश्न है और इसी पर यहाँ विचार किया जाता है।

ऐसा मालूम होता है कि जैनलोग भी एक समय सर्वदा उपयोगात्मक प्रत्यक्षवाले [युक्तयोगी] सर्वज्ञको नहीं मानते थे। परन्तु पीछे उपयोग परिवर्तन का ठीक ठीक कारण न मिलने से समाधानके लिये इनने भी युक्त योगी माने। परन्तु युक्तयोगी मानने से वार्तालाप उपदेश आदि भी नहीं हो सकता था इसलिये इनने उपयोग के दो भेद किये—एक दर्शनोपयोग और दूसरा ज्ञानोपयोग, और इन दोनों उपयोगों को स्वभाव से परिवर्तनशील माना। परन्तु इन उपयोगों के क्षणिक परिवर्तन से भी समस्या पूरी न हुई बल्कि गुत्थी और उलझ गई। इस समय दो उपयोगों की मान्यता तो मिट नहीं सकती थी इसलिये दोनों उपयोगों को एक साथ मानने का सिद्धान्त चला। परन्तु एक आत्मा में दो उपयोग एक साथ हो नहीं सकते इसलिये सिद्धसेन दिवाकरने दोनों उपयोगों को फिर एक कर दिया। गुत्थी को सुलझाने के लिये ज्यों ज्यों कोशिश होती गई त्यों त्यों वह और उलझती गई।

---

* योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः
युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः ॥६५॥ कारिकावली

इस गुत्थी को सुलझाने के लिये दर्शन और ज्ञान की परिभाषा ही बदलदी गई। उनके भेदोंकी भी परिभाषा बदलदी गई जैसे अचक्षुर्दर्शन की परिभाषा सिद्धसेन ने बदलदी है इतना ही नहीं किन्तु ऐतिहासिक और पौराणिक चरित्रों पर भी इस चर्चा का बड़ा विकट प्रभाव पड़ा। उदाहरण के लिये दिगम्बरों का महावीर चरित्र देखिये।

दिगंबर सम्प्रदाय में महावीर-जीवन नहीं के बराबर मिलता है। इसके अनेक कारण हैं, परन्तु मुख्य कारण सर्वज्ञता की चर्चा की गुत्थियाँ हैं, जो सुलझ नहीं सकी हैं। मैं पहिले कह चुका हूँ कि युक्तयोगी मानने से कोई बातचीत प्रश्नोत्तर आदि नहीं कर सकता। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में तो पुराना सूत्र साहित्य माना जाता था और उसमें महावीर का जीवन था जिसे वे हटा नहीं सकते थे, दूसरी बात यह कि इनमें क्रमवाद प्रचलित था इसलिये महावीर जीवन के वे भाग—जिनमें महावीर बातचीत करते हैं प्रश्नोत्तर करते हैं, शास्त्रार्थ करते हैं, आदि बने हुए हैं। परन्तु दिगंबरों ने सूत्रसाहित्य छोड़ दिया, इसलिये सूत्रसाहित्य में जो महावीर चरित्र था उसकी उनको पर्वाह न रही और इधर वे केवलदर्शन ज्ञान का क्रमवाद नहीं मानते थे इसलिये उपयोग-परिवर्तन की बिलकुल संभावना न थी, इन सब आपत्तियों से बचने के लिये महावीर जीवन के वे सब भाग–जिनमें महावीर किसीसे बातचीत करते हैं— उड़ गये। श्वेताम्बर साहित्य में धर्म का परिचय महावीर गौतम के संवादरूप में है जब कि दिगंबर साहित्य में गौतम और श्रेणिक के संवादरूप है। इसका कारण यह है कि महावीर सर्वज्ञ थे, वे प्रति

समय त्रिकालत्रिलोक की वस्तुओं का साक्षात्प्रत्यक्ष करते थे इसलिये किसी एक बात की तरफ उपयोग कैसे लगा सकते थे। यही कारण है कि दिगंबरों में गोशाल जमालि आदि का भी उल्लेख नहीं मिलता।

प्रारम्भ में तो सिर्फ इतनी ही कल्पना की गई कि अरहंत स्वामी वार्तालाप, शंका समाधान, या शास्त्रार्थ नहीं कर सकते, वे सिर्फ व्याख्यान दे सकते हैं, क्योंकि व्याख्यान देने में किसी दूसरे आदमी के शब्दों पर ध्यान नहीं देना पड़ता। परन्तु इतना सुधार करने पर भी समस्या ज्योंकी त्यों खड़ी रही, क्योंकि व्याख्यान में भी किसी खास विषय पर तो ध्यान लगाना ही पड़ता है। युक्तयोगी में यह उपयोगभेद कैसे हो सकता है?

इस आपत्ति के डरसे व्याख्यान देने की बात भी उड़ गई। उसके बदले में अनक्षरी दिव्यध्वनि का आविष्कार हुआ, जो मेघ-गर्जना के समान थी। परन्तु इस मेघगर्जना को समझेगा कौन? तो इसके दो उत्तर दिये गये। पहिला यह कि भगवान के अतिशय से वह सब जीवों को अपनी अपनी भाषा में सुनाई पड़ती है। जबतक कान में नहीं आई तबतक निरक्षरी है और जब कान में पहुँची तब साक्षरी अर्थात सर्वभाषामयी हो गई। दूसरा उत्तर यह कि उस भाषा को गणधरदेव समझते हैं और वे सबको उपदेश देते हैं। इस दूसरे उत्तरने महावीर-चरित्र में एक और विशेष बात पैदा कर दी।

श्वेताम्बरों के अनुसार महात्मा महावीरने केवलज्ञान पैदा होने पर प्रथम उपदेश दिया परन्तु वह सफल न हुआ अर्थात् उन्हें एक

भी श्रावक न मिला। परन्तु दिगंबर कहते हैं कि कोई गणधर न होने से महावीर स्वामी छयासठ दिन तक मौन रहे; क्योंकि उनकी दिव्य-ध्वनि का अर्थ लोगों को समझावे कौन ? केवलज्ञानी तो किसी के साथ बातचीत या प्रश्नोत्तर कर नहीं सकता। अन्त में बेचारे इंद्र को चिन्ता हुई। वह किसी प्रकार गौतम को वहाँ लाया। मानस्तम्भ देखते ही इन्द्रभूति का मान गलगया; बिना किसी बातचीत के गौतम गणधर बन गये, आपसे आप उन्हें चार ज्ञान पैदा हो गये। तब दिव्यध्वनि खिरी, आदि।

अब दूसरी तरफ देखिये। एक प्रश्न यह उठा कि बिना इच्छा और विशेष उपयोग के भगवान ओष्ठ जीभ तालु आदि कैसे चलाँयगे ? तो कहा गया कि भगवान् मुँह से नहीं बोलते किन्तु सर्वांग से वाणी खिरती है। श्रोताओं के पुण्य के द्वारा उनके सर्वांग से मृदंग की तरह आवाज़ निकलती है। फिर शंका हुई कि भगवान बिना किसी विशेष उपयोग के खास जगह जाँयगे कैसे ? तो उत्तर मिला कि वे तो पद्मासन लगाये आपसे आप उड़ते जाते हैं।

इस प्रकार सर्वज्ञता की कल्पनाने इतना गोरखधंधा मचा दिया है कि जिसमें से निकलना असंभव हो गया है। अन्त में जान बचाने के लिये अन्धश्रद्धापूर्ण अतिशयों की कल्पना करके किसी तरह से संतोष किया गया है। कुछ का परिचय मैं दूसरे अध्याय में दे चुका हूँ। कुछ की आलोचना आगे करूंगा। यहाँ तो सिर्फ रेखाचित्र दिया गया है।

अन्याय को रोककर मनुष्य को सुखी बनाने के लिये सदाचार-धर्मकी सृष्टि हुई। इन नियमों का पालन कराने के लिये जगन्नियन्ता ईश्वर कल्पित किया गया। उसके जगन्नियन्तृत्व के लिये सर्वज्ञता आई। जिनने ईश्वर नहीं माना उनने विश्वकी समस्या सुलझाने का तथा सदाचार आदि के स्थिर रखने का स्वतन्त्र प्रयत्न किया किन्तु उसकी प्रामाणिकता के लिये सर्वज्ञ योगियों की कल्पना की, इस तरह ईश्वर की सर्वज्ञता का प्रतिबिंब अनीश्वरवादी योगियों पर पड़ा। परन्तु अगम्य होने से ईश्वरवादियों को भी सर्वज्ञयोगी मानना पड़े। बाद में सर्वज्ञवाद पर जब अनेक तरह के आक्षेप हुए तब सर्वज्ञता के अनेक भेद हो गये और अन्त में घोर अन्धश्रद्धा में उसकी समाप्ति हुई। जो चित्र प्रारम्भसे ही बिगड़ जाता है उसे स्याही पोतपोतकर सुधारने से वह और भी बिगड़ता है। उसी प्रकार इस सर्वज्ञताके प्रश्नकी दुर्दशा हुई। यदि प्रारम्भ से यह प्रयत्न किया गया होता कि कल्याण मार्ग के ज्ञानके लिये इतने लम्बे चौड़े सर्वज्ञ की आवश्यकता नहीं है, तो मनुष्य का बहुत कल्याण हुआ होता। परन्तु दूरभूत में मनुष्य समाज इतना अविकसित था कि वह इस विवेकपूर्ण तर्क को सह नहीं सकता था। और जब इस तर्क को सहने की शक्ति आई तब मनुष्य उन पुराने संस्कारों में इतना रँग गया था कि वह नये विचारों को अपनाना नहीं चाहता था। वह विद्वान हो करके भी अपनी विद्वत्ता का उपयोग पुरानी बातों के समर्थन में करता था। ऐसा करने से साधारण जनसमाज भी उसे अपनाता था। इस प्रलोभनको न जीत सकने के कारण, बड़े बड़े

विद्वान भी पुराने कानूनों के अनुसार वकालत करते रहे परन्तु सच्चे कानूनों की रचना न कर सके ।

जैनधर्म सरीखा तार्किक धर्म भी अन्त में इसी झमेले में पड़ गया है । जैनशास्त्रोंने वास्तविक सर्वज्ञता के प्रश्नको झमेले में डाल दिया है और अनेक मिथ्या कल्पनाएँ करके सत्यको बहुत नीचे दबा दिया है, फिर भी दिगम्बर श्वेताम्बर शास्त्रों में इस विषय में इतनी अधिक सामग्री है कि वास्तविक सत्य ढूँढ़ निकलना कठिन होने पर भी अशक्य नहीं है । यहाँ तो मैंने सर्वज्ञता के इतिहास का रेखाचित्र दिया है, जिससे पाठकों को अगली बात समझने में सुभीता हो ।

युक्ति विरोध

जैनशास्त्रों का आधार लेकर विचार करने के पहिले यह देखना चाहिये कि युक्तियों की दृष्टिसे सर्वज्ञता की प्रचलित मान्यता क्या सम्भव है ? जैनियों की वर्तमान मान्यता है कि "त्रिकाल त्रिलोक (अलोक सहित) के समस्त पदार्थोंका सर्वगुण पर्यायोंसहित युगपत् प्रत्यक्ष केवलज्ञान है" परंतु ऐसा केवलज्ञान सम्भव नहीं है । इसके कई कारण हैं—

१–अनन्त का प्रत्यक्ष असम्भव

जैसा ऊपर बतलाया गया है वैसा अनन्त का प्रत्यक्ष असम्भव है । क्योंकि जो अनन्त है उसका एक प्रत्यक्ष में अन्त कैसे आसकता है और जबतक किसी चीज का अन्त न जानलिया जाय तबतक वह पूरी जानली गई यह कैसे कहा जासकता है ? वस्तुको अगर

काल की दृष्टिसे पूर्ण रूपमें जान लिया जाय तो वस्तु का अन्त आजायगा, वस्तु नष्ट होजायगी। परन्तु किसी सत् वस्तुका विनाश नहीं हो सकता उसका सिर्फ परिवर्तन होता है। वस्तुकी सीमा मानना या केवलज्ञान के विषय-प्रकाशन की सीमा मानना इन दोमेंसे किसी एक का चुनाव करना पड़ेगा।

अवस्थाएँ क्रमवर्ती होती हैं। एक समय में एक की दो अवस्थाएँ नहीं होतीं। इसलिये एक की सब अवस्थाओं के प्रत्यक्ष करलेने पर उनमें से कोई ऐसी अवस्था अवश्य होना चाहिये जो सबसे अंतिम है। अगर सबसे अंतिम कोई अवस्था नहीं झलकी तो पूरी वस्तुका प्रत्यक्ष कैसे हुआ? अगर सबसे अंतिम अवस्था झलकी तो इसका अर्थ हुआ कि इसके बाद कोई अवस्था नहीं है। और बिना अवस्था के– बिना पर्याय के– वस्तु रह नहीं सकती इसलिये वस्तुका नाश मानना पड़ा जो कि असम्भव है।

जैनसिद्धान्त, अन्यदर्शन, वैज्ञानिक लोग और हमारा अनुभव, ये सब इस बातके साक्षी हैं कि वस्तु का नाश नहीं होता अवस्था का परिवर्तन होता है। इसलिये एक प्रत्यक्ष के द्वारा अनन्त पर्यायों को जान लेना असम्भव है। इसलिये केवलज्ञान की उपर्युक्त परिभाषा मिथ्या है।

प्रश्न— अगर वस्तु अनन्त है तो केवलज्ञान वस्तुको अनन्त रूपमें जानेगा।

उत्तर–अनन्त रूपमें जानना अर्थात् अन्त नहीं पा सकना, यह तो केवलज्ञान के उपर्युक्त अर्थ का खण्डन हुआ। यों तो वस्तु को

अनन्तरूप में अकेवली भी जान सकता है। वस्तु नित्य है उसका अन्त नहीं है, यह तो अनन्तत्व या नित्यत्व नामक एक धर्म का ज्ञान है जो कि थोड़े विचार से हर एक जान सकता है इसके जानने के लिये केवलज्ञान की वह असम्भव परिभाषा क्यों बनाई जाय।

प्रश्न--हम लोगों की दृष्टि में वस्तु अनन्त है परन्तु केवली की दृष्टि में नहीं।

उत्तर--तो केवली की दृष्टि में वस्तु का नाश दिखेगा जोकि असम्भव है। इस प्रकार तो केवली मिथ्याज्ञानी होजाँयगे।

प्रश्न--अनन्त में अनन्त का प्रतिभास होजाता है और वस्तुको भी सान्त नहीं मानना पड़ता। जैसे कोई लोहे की पटरी अनन्त हो और उसके सामने सीसे की पटरी अनन्त हो तो एक अनन्त में दूसरा अनन्त प्रतिबिम्बित होजायगा।

उत्तर--पटरीका प्रतिबिम्बित होनेवाला भाग और सीसेका प्रतिबिम्बित करनेवाला भाग दोनों सान्त हैं। क्षेत्रकी दृष्टि से पटरी को अनन्त कल्पित किया तो क्षेत्रकी दृष्टि से सीसे को अनन्त कल्पित करना पड़ा। इसी प्रकार ज्ञान भी सान्त है और उस में प्रतिबिम्बित होनेवाला विषय भी सान्त। विषय समय की दृष्टि से अनन्त हुआ कि इस को भी समय की दृष्टि से अनन्त बनना पड़ेगा। इस प्रकार अनन्त प्रत्यक्षोंमें अनन्त विषय-पर्याय-प्रतिबिम्बित हुए परन्तु प्रश्न एक प्रत्यक्ष में अनन्त के प्रतिबिम्बित होने का है। यों तो अनन्त में अनन्त का प्रतिभास साधारण तुच्छज्ञानी को भी होता है। एक नित्य निगोदिया भी भूतकाल के अनन्त

तो हम कहेंगे कि आप मिथ्याज्ञानी हैं क्योंकि वस्तुका नाश नहीं होता न पर्यायहीन वस्तु होती है।

अगर केवली कहें कि जितनी पर्यायें मुझे दिखीं उनमें ऐसी कोई पर्याय नहीं है जिसके बाद कोई पर्याय न हो।

तब हम कहेंगे कि जितनी पर्यायें आपको दिखीं उनके बाद में भी कोई न कोई पर्याय है तो वह पर्याय या वे पर्यायें आप को क्यों नहीं दिखीं ?

बस ज्ञान की शक्ति का अन्त आ गया इसके सिवाय केवली और कुछ नहीं कह सकते।

सर्वज्ञता की उपर्युक्त कल्पित परिभाषा का यहीं खण्डन हो गया। इस स्पष्ट बाधा को लोहे सांसे की पटरियों की कल्पना हटा नहीं सकती।

प्रश्न—केवलज्ञान का विषय आप कितना भी मानिये परन्तु वह अनन्तकाल तक उतने विषय जानता है इसलिये अनन्तकाल में अनन्त को तो जान ही लिया।

उत्तर--पर एक काल में अनन्त को न जान पाया अनन्त-काल में अनन्त को जानना तो कोई भी तुच्छ प्राणी कर सकता है।

प्रश्न--जिसे हमने अनन्त समय में जाना उसे हम एक समय में भी जान सकते हैं। क्योंकि अनन्त समय का ज्ञान शक्ति-रूप में सदा है। अगर शक्तिरूप में नहीं है तो वह पैदा कैसे हो गया ? जो शक्तिरूप में नहीं है वह न तो पैदा हो सकता है न नष्ट हो सकता है क्योंकि असत् की उत्पत्ति और सत् का

विनाश नहीं होता। अनादि अनन्तकाल में जितने पदार्थों का ज्ञान हम कर सकते हैं उन सब पदार्थों का ज्ञान शक्तिरूप में आत्मा में मौजूद है। इससे सिद्ध होता है कि अनन्तज्ञता आत्मा का स्वभाव है। और जो स्वभाव है उसका कभी प्रगट होना उचित ही है।

उत्तर—एक आत्मा, मनुष्य हाथी घोड़ा गधा ऊंट साँप बिच्छू शेर उल्लू मच्छर आदि पर्यायें धारण कर सकता है इसलिये कहना चाहिये कि शक्तिरूप में ये समस्त पर्यायें आत्मामें मौजूद हैं इससे सिद्ध हुआ कि ये सब पर्यायें आत्मा का स्वभाव हैं। और जो स्वभाव है उसका प्रगट होना कभी न कभी सम्भव है, इसलिये एक ही समय में आत्मा मनुष्य और हाथी आदि बन जायगा। पर क्या यह सम्भव है? क्या एक एक समय में आत्मा की दो पर्यायें हो सकती हैं? हां, यह हो सकता है कि आत्मा कोई एक ऐसी पर्याय धारण करे जिसमें दो चार पशुओं के कुछ कुछ चिह्न हों जैसे नृसिंह या गणेश के रूप की कल्पना की जाती है। पर यह एक स्वतन्त्र पर्याय कहलायी। समस्त पर्यायों का एक साथ होना सम्भव नहीं है।

घटज्ञान पटज्ञान आदि ज्ञान की अनेक अवस्थाएँ हैं, वे शक्तिरूप में भले ही मौजूद हों पर एक साथ सब पर्यायों का होना सम्भव नहीं है। उनकी व्यक्ति क्रमसे ही होगी। केवलज्ञान भी पदार्थ को जानेगा तो क्रमसे जानेगा। इसलिये एक समय में वह कभी अनन्तज्ञ नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि 'असत् का उत्पाद नहीं होता सत् का विनाश नहीं होता' यह नियम द्रव्य या शक्ति के विषय में है

उनकी अवस्थाओं के विषय में नहीं। अवस्थाएँ या पर्यायें तो पैदा भी होती हैं और नष्ट भी होती हैं। हां, द्रव्य पैदा नहीं होता गुण पैदा नहीं होता। इस प्रकार आत्मा पैदा न होगा ज्ञान पैदा न होगा, किन्तु घटज्ञान पटज्ञान रूप जो ज्ञानकी पर्यायें हैं वे तो पैदा भी होंगीं नष्ट भी होंगीं। वे अनादि नहीं हैं कि उनका कभी न कभी प्रगट होना सम्भव हो।

तीसरी बात यह है कि हमें तो यह सिद्ध करना है कि एक समय में आत्मा अधिक से अधिक कितना जान सकता है? अनन्त समयों में अगर आत्माने अनन्त पदार्थों को जाना है तो वह एक समय में सब को जान लेगा यह कैसे सिद्ध हो गया। ज्ञान शक्ति की मर्यादा का विचार हमें एक समय की दृष्टि से ही करना है और करना भी चाहिये। एक समय में अनन्त पर्यायों का ज्ञान असिद्ध तो है ही, साथ ही वस्तु के सान्त होने की बाधा से विरुद्ध भी है।

प्रश्न-- काल की अनन्तता वस्तु को नित्य मानने से जानली जाती है किन्तु क्षेत्र की अनन्तता अनन्तप्रदेशों का ज्ञान हुए बिना कैसे सम्भव है? जब कि क्षेत्र का भी अनन्त ज्ञान होता है इससे सिद्ध है कि आत्मा में अनन्त को जानने की शक्ति है।

उत्तर--जैसे पहिली पर्याय के नाश होने पर अवश्य ही दूसरी पर्याय आती है इसलिये काल अनन्त है इसी प्रकार एक प्रदेश बीतने पर तुरन्त ही दूसरा प्रदेश आता है इसलिये क्षेत्र अनन्त है। क्षेत्र का यह अनन्तत्व धर्म अनुमान से जान सकते हैं।

प्रश्न--यों तो पृथ्वी के बाद भी पृथ्वी आती है समुद्र आने पर भी पानी के नीचे पृथ्वी है ही तो क्या पृथ्वी को अनन्त मानलें ?

उत्तर--पृथ्वी को अनन्त कैसे मानलें ऊपर की ओर उसके अंत पर तो हम बैठे ही हैं। अनन्त के विषय में हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि अनन्त वहीं मानना उचित है जहां किसी तरह अन्त बन न सकता हो। हम ऐसी जगह की कल्पना कर सकते हैं जहां कोई चीज़ न हो, पर ऐसी जगह की कल्पना नहीं कर सकते जहाँ जगह न हो। जगह का अभाव बताने के लिये भी जगह की ज़रूरत है। इसलिये जगह अर्थात् क्षेत्र अनन्त है। उसकी अनंतता जानने के लिये प्रत्येक प्रदेश [जगह का सब से छोटा अंश] को जानने की ज़रूरत नहीं है।

प्रश्न--अवयवों को जाने बिना अवयवी को कैसे जान सकते हैं अनन्त प्रदेशों को जाने बिना अनंतप्रदेशित्व का ज्ञान कैसे होगा।

उत्तर--जैसे कुछ समयों के ज्ञान से काल की अनन्तता जानली जाती है उसी प्रकार कुछ प्रदेशों के ज्ञान से क्षेत्र की अनन्तता जानी जा सकती है। काल में अनन्तता नित्यत्व रूप है क्षेत्र में व्यापकत्वरूप। जैसे प्रत्येक समय अपने भविष्य समय से जुड़ा हुआ है उसी प्रकार प्रत्येक प्रदेश आगामी प्रदेश से जुड़ा है इसलिये समय की परम्परा और प्रदेश की परम्परा अनन्त है। कुछ समयों और कुछ प्रदेशों के ज्ञान से बाकी प्रदेशों और बाकी समयों के स्वभाव का ज्ञान हो जाता है और उससे अनन्तत्व नामक धर्म का ज्ञान होजाता है।

प्रश्न--जिस प्रकार चाँदी का ज्ञान एक पर्याय है सोने का ज्ञान दूसरी पर्याय है तीसरी पर्याय ऐसी हो सकती है जिस में चाँदी और सोना दोनों का ज्ञान हो। पर्याय यह तीसरी है परन्तु इसमें पहिली दोनों पर्यायों का विषय प्रतिबिम्बित हो रहा है। इसी प्रकार अनन्त काल में होनेवाले अनन्त प्रत्यक्षों के विषय को जाननेवाली एक केवलज्ञान पर्याय हो तो क्या हानि है।

उत्तर--अनेक पदार्थों को विषय करनेवाली एक ज्ञान पर्याय भी होती है पर उसमें अनेक अपनी विशेषता गौण करके एक पदार्थ बन जाता है। जैसे सेना के प्रत्यक्ष में प्रत्येक सिपाही की विशेषता नहीं मालूम होती किन्तु बहुत से सिपाहियों का दल मालूम होता है। सिपाहियों को विशेषरूप में जानने के लिये अलग अलग प्रत्यक्ष होते हैं। केवलज्ञान अगर बहुत पदार्थों को जाने तो उसका सामान्य प्रतिभास करेगा जोकि सत्ता रूप होगा।

दूसरी बात यह है कि अनेक पदार्थों का संकलन उतना ही माना जा सकता है जितना असंभव न हो। अनंत का प्रत्यक्ष तो असम्भव है क्योंकि इससे वस्तु में सान्तता का दोष आता है जैसा कि पहिले बताया जा चुका है।

प्रश्न--अनन्त का ज्ञान मानने से वस्तु सान्तता की जो जबर्दस्त बाधा है उसका परिहार नहीं हो सकता इसलिये अनन्त का ज्ञान नहीं मानना चाहिये। फिर भी मनमें एक प्रकार की शंका लगी ही रहती है कि जिस चीज को हम जानते हैं उसके जानने की विशेष शक्ति हमारे भीतर है। अनादिकाल से हमने अनन्त पदार्थों को जाना है उनके जानने की विशेष शक्ति हमारे भीतर

अवश्य है तब वह एक साथ प्रगट क्यों नहीं हो सकती ? और प्रगट हो सकती तो आत्मा अनन्तज्ञ क्यों नहीं ?

उत्तर—यहाँ शक्ति के स्वरूप के विषय में ही भ्रम है। ज्ञानमें अमुक अमुक पदार्थ के जानने की शक्ति जुदी जुदी नहीं होती किसी पदार्थ को जानना यह तो निमित्त की बात है। जैसे हममें एक मील तक देखने की शक्ति हो तो जो पदार्थ उसके भीतर आजाँयगे उन्हें हम देख सकेंगे। पर हम यहाँ बैठकर एक मील देख सकते हैं इसीप्रकार अमेरिका यूरोप आदि हरएक जगह बैठकर एक मील देख सकते हैं तो इसका मतलब यह नहीं है कि उन लाखों मीलोंमें आये हुए समस्त पदार्थों को देखने की योग्यता हमारे भीतर आगई। योग्यता का किसी खास पदार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। घड़े को देखने की योग्यता अलग, कपड़े को देखने की योग्यता अलग ऐसी योग्यता नहीं होती। योग्यता इस प्रकार होती है कि इतनी दूर तक का देखा जा सकता है इतना सूक्ष्म देखा जा सकता है। अब उस मर्यादा के भीतर जो पदार्थ आजाँयगे वे उपयोग लगाने पर दिख पड़ेंगे। किसी में देखने की शक्ति अधिक होती है किसी में सुनने की, किसी में विचारने की, ये जो योग्यता के नानारूप हैं वे निमित्तभेद से हैं। जैसी द्रव्येन्द्रियाँ, जैसी रुचि, जैसा शिक्षण और जैसे साधन मिल जाते हैं ज्ञान की योग्यता उसी रूप में काम करने लगती है। जैसे हमारे पास कुछ बिजली की शक्ति है और वह १०० यूनिट है अब उसका उपयोग हम प्रकाश में ले सकते हैं गति में ले सकते हैं थोड़ी थोड़ी बाँटकर दोनों में ले सकते हैं। यह नहीं हो सकता कि सौ यूनिट प्रकाश में ले लें। और १००

यूनिट गति में लेलें। हम किसी एक में सौ यूनिट ले सकते हैं अथवा पचास पचास यूनिट दोनों में ले सकते हैं। ज्ञान की भी यही बात है। हममें जो शक्ति है उससे चाहे हम वैज्ञानिक बन जाँय चाहे गणितज्ञ चाहे कवि चाहे और कुछ। हम उसी शक्ति से सब नहीं बन सकते। बनेंगे तो थोड़े थोड़े बनेंगे।

मानलो आत्मा में सौ पदार्थ जानने की शक्ति है तो उससे कोई भी योग्य सौ पदार्थ जाने जा सकते हैं। वह अनादि से सौ सौ पदार्थों को जानता रहा हो तो इससे अनन्त पदार्थ का ज्ञान उसमें न कहलायगा, क्योंकि जिस समय सौ से बाहर कोई नया पदार्थ जाना जायगा उस समय कोई पुराना भूल जायगा। इस प्रकार के अनुभव हमें जीवन में पद पद पर मिलते हैं। हमारे पास एक डिब्बी है जिसमें सौ रुपये बनते हैं इससे अधिक रखने की शक्ति उसमें नहीं है फिर भी क्रमसे उसमें हजारों रुपये आ सकते हैं। नये रुपये आते जायेंगे और पुराने निकलते जाँयगे इस प्रकार हजारों रुपयों को रखकर भी वह एक समय में हजारों रुपये नहीं रख सकती इसलिये उसकी शक्ति हजारों रुपये रखने की नहीं कहलाती। हमारी ज्ञान शक्ति सीमित है फिर भी क्रमसे असीम समय में वह असीम को भी जान चुकता है पर एक समय में वह सीमित ही जानता है।

प्रश्न--सभी आत्मा स्वभाव से बराबर शक्ति रखते हैं तब एक आत्मा जिसे जान सकता है उसे दूसरा क्यों नहीं? आत्मा अनंत हैं इसलिये अनंतका ज्ञान सबको होना चाहिये। खासकर जब आवरण कर्म हट जाँय तब तो होना ही चाहिये।

उत्तर--आवरण के हट जाने पर सबकी शक्ति बराबर प्रगट हो जायगी पर शक्ति बराबर रहने पर भी बाह्य पदार्थों का ज्ञान निमित्तभेद के अनुसार होगा। जैसे बराबर शक्ति के चार दर्पण हैं वे एक खंभे के चार तरफ लगाये गये। उनमें प्रतिबिम्ब चार तरह के आयेंगे। पूर्व दिशा की तरफ जो दर्पण लगा है उसमें जो प्रतिबिंब है वह पश्चिम दिशा की तरफ लगे हुए दर्पण में नहीं है। पर पश्चिम दिशा के दर्पण को पूर्वदिशा में लगा दो तो उसमें भी पूर्व की तरह प्रतिबिम्ब पड़ेगा यही उनकी शक्ति की समानता है। समानता का यह मतलब नहीं है कि कोई दर्पण एक दिशा में लगा हुआ सब दिशाओं के दर्पणों के प्रतिबिम्ब बता सके।

समान शक्ति के विषय में एक दूसरा उदाहरण भी लो। समझलो कि दस आदमी हैं जिनकी शरीर-सम्पत्ति पाचन-शक्ति बराबर है। हरएक आदमी एक दिन में एक सेर खाद्य पचा सकता है। किसी को एक सेर गेहूँ दिये गये किसी को एक सेर ज्वार, किसी को एक सेर चावल, किसी को एक सेर मिठाई मतलब यह कि भोजन की विविध सामग्री एक एक सेर परिमाण में रक्खी गई, इनमें से किसी को कोई भी हिस्सा दिया जायगा तो पचा जायगा, यह उनकी बराबरी है। बराबरी भोजन के प्रकार में नहीं, शक्ति में है। अब कोई यह कहे कि प्रत्येकको दसोंकी खुराक पचा जाना चाहिये तो यह नहीं हो सकता। इसी प्रकार जानने की शक्ति सब निरावरण ज्ञानियों में बराबर होने पर भी अनन्त जीवों का ज्ञान एक में नहीं आ सकता। हां, किसी भी एक निरावरणज्ञानी की शक्ति से दूसरे निरावरणज्ञानी की शक्ति बराबर होगी पर विषय जुदा

जुदा हो सकता है। जैसे दो आदमी समान ज्ञानी हों अर्थात् दोनों एम. ए. हों, पर एक गणित में हो दूसरा रसायन में। साधारणतः दोनों समानज्ञानी कहलाँयगे पर विषयमें काफी अन्तर होगा। यही बात निरावरणज्ञानियों के विषय में है।

प्रश्न—यह ठीक है कि एक समय में किसी आत्मा में अनंत पदार्थों की जानकारी नहीं हो सकती पर अधिक से अधिक कितना जान सकता है इसका भी कुछ निर्णय नहीं है। तब ज्ञान की सीमा क्या मानी जाय ?

उत्तर—इसकी निश्चित सीमा नहीं बताई जा सकती सिर्फ इतना निश्चय से कहा जा सकता है कि अनन्त नहीं है क्योंकि अनंत में पहिले बताई हुई जबर्दस्त बाधा है। इसलिये उसे असंख्य कहसकते हैं। असंख्य का अर्थ कुछ लम्बी संख्या है जिसका हम जल्दी हिसाब नहीं लगा सकते। जैसे वर्षा के बिन्दुओं को या जलाशय के बिन्दुओं को हम असंख्य कह देते हैं यद्यपि उन्हें गिना जा सकता है पर वह गिनती लम्बी और दुःसाध्य है इसलिये वह असंख्य है इसी प्रकार ज्ञान की सीमा के विषय में है। हमें नास्ति अवक्तव्य भंग की अपेक्षा से इस प्रश्न का उत्तर समझना चाहिये कि ज्ञान अनंत नहीं जान सकता पर कितना जान सकता है यह कहा नहीं जा सकता।

प्रश्न--सप्तभंगी में अवक्तव्य भंग का उपयोग वहीं किया जा सकता है जहाँ अस्ति और नास्तिको हम एक साथ बोल न सकें पर आप तो इस भंग का उपयोग कुछ दूसरे ही ढंग से करते हैं। यह क्या बात है ?

उत्तर—सप्तभंगी के विषय में जैनाचार्यों से बड़ी भूल हुई है। यद्यपि यह प्रकरण सप्तभंगी का नहीं है पर सप्तभंगी को ठीक ठीक समझने से भी सर्वज्ञ प्रकरण समझने में सुभीता होगा इसलिये सप्तभंगी का कुछ विस्तार से स्वतन्त्र विवेचन कर लिया जाता है।

सप्तभंगी

किसी प्रश्न के उत्तर में या तो हम 'हाँ' बोलते हैं, या 'न' बोलते हैं। इसी 'हाँ' और 'न' को लेकर सप्तभंगी की रचना हुई है। इस प्रकार उत्तर देने के जितने तरीके हैं उन्हें 'भंग' कहते हैं और ऐसे सात तरीके हो सकते हैं, इसलिये सातों भंगों के समूह को सप्तभंगी कहते हैं। सप्तभंगी की शास्त्रीय शब्दों में परिभाषा यों की जाती है:—

"प्रश्न के वशसे एक ही वस्तु में विरोध रहित विधिप्रतिषेधकल्पना करना सप्तभंगी है।" *

इसके विशेष विवेचन में कहा जाता है—"सात प्रकार के प्रश्न हो सकते हैं, इसलिये सप्तभंगी कही गई है। सात प्रकार के प्रश्नों का कारण सात प्रकार की जिज्ञासा है और सात प्रकार की जिज्ञासा का कारण सात प्रकार के संशय हैं और सात प्रकार के संशयों का कारण उसके विषयरूप वस्तु के धर्मों का सात प्रकार होना है।"+

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सप्तभंगी के सात भंग

---

* प्रश्नवशादेकत्र वस्तुनि अविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी।
—त० राजवार्तिक

+ अष्टसहस्री १४

केवल शाब्दिक कल्पना ही नहीं हैं परन्तु वस्तुके धर्म के ऊपर अवलम्बित हैं, इसलिये सप्तभंगी को समझते समय हमें इस बात का खयाल रखना चाहिये कि उसके प्रत्येक भंग का स्वरूप वस्तुके धर्म के साथ सम्बद्ध हो।

वे सात भंग निम्नलिखित हैं—

[१] अस्ति (है) (२) नास्ति (नहीं है) (३) अस्ति नास्ति, (४) अवक्तव्य [कहा नहीं जा सकता] (५) अस्ति अवक्तव्य, (६) नास्ति अवक्तव्य, (७) अस्ति नास्ति अवक्तव्य।

किसी भी प्रश्न का उत्तर देते समय इन सात में से किसी न किसी भंग का उपयोग हमें करना पड़ता है। अगर किसी मरणासन्न रोगी के विषय में पूछा जाय कि उसके क्या हालचाल हैं तो इसके उत्तर में वैद्य निम्नलिखित सात उत्तरों में से कोई एक उत्तर देगा।

१--अच्छी तबियत है [अस्ति]

२--तबियत अच्छी नहीं है [नास्ति]

३--कलसे तो अच्छी है [अस्ति] फिर भी ऐसी अच्छी नहीं है कि कुछ आशा की जा सके [नास्ति]

४--अच्छी है कि खराब, कुछ कह नहीं सकते (अवक्तव्य)

५--कल से तो अच्छी है फिर भी कह नहीं सकते कि क्या हो।

६--कल से अच्छी तो नहीं है, फिर भी कह नहीं सकते कि क्या हो [नास्ति अवक्तव्य]

७--यों तो अच्छी नहीं है, फिर भी कलसे कुछ अच्छी है, लेकिन कह नहीं सकते कि क्या हो [अस्ति नास्ति अवक्तव्य]

ये सातों ही उत्तर अपनी अपनी कुछ विशेषता रखते हैं और रोगी की अवस्था का विशेष परिचय देते हैं, इसलिये प्रत्येक भंग रोगी की अवस्था से सम्बन्ध रखता है। इसी तरह का एक उदाहरण दार्शनिक क्षेत्र का लीजिये।

१--परिमित पदार्थ ही जाने जा सकते हैं।

२--अनन्त पदार्थ नहीं जाने जा सकते।

३--जिस पदार्थ का स्वयं या किरणादिक के द्वारा इन्द्रियों से सम्बन्ध होता है उसे जान सकते हैं, बाकी को नहीं जान सकते। अर्थात् परिमित को जान सकते हैं, अपरिमित को नहीं जान सकते

४--प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमा कहाँ है, कह नहीं सकते।

५ परिमित पदार्थ ही जाने जा सकते हैं, परन्तु कितने जाने जा सकते हैं यह नहीं कह सकते।

६--अनन्त पदार्थ नहीं जाने जा सकते यह निश्चित है, फिर भी कितने जाने जा सकते हैं यह नहीं कह सकते।

७ अनन्त तो नहीं जाने जा सकते, परिमित ही जाने जा सकते हैं, पर कितने ? यह नहीं कह सकते।

इस प्रकार और भी दार्शनिक प्रश्नों का सप्तभंगी के ढंगसे उत्तर देकर विषय को स्पष्ट किया जा सकता है। इसी प्रकार धार्मिक प्रश्नों के विषय में भी सप्तभंगी का उपयोग किया जा सकता है। प्रसिद्ध प्रश्न हिंसा (द्रव्य हिंसा-प्राणियों को मारना)

को ही लीजिये। अगर इसके विषय में कोई पूछे; कि यह पाप है कि नहीं तो इसके उत्तर भी सात ढंग के होंगे।

१ हिंसा पाप है।

२ स्त्रियों के साथ बलात्कार करने वाले, निरपराध मनुष्यों के प्राण लेनेवाले आदि पापी प्राणियों की हिंसा पाप नहीं है।

३ नीति भंग में सहायता पहुँचानेवाली हिंसा पाप है, नहीं तो पाप नहीं है।

४ परिस्थिति का विचार किये बिना, हिंसा पाप है कि नहीं यह नहीं कह सकते।

५ हिंसा पाप है, परन्तु सदा और सर्वत्र के लिये कोई एक बात नहीं कही जा सकती।

६ आत्मरक्षण आदि के लिये अत्याचारियों के मारने में तो पाप नहीं है, परन्तु सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टि से कोई एक बात नहीं कही जा सकती।

७ साधारणतः हिंसा पाप है, परन्तु ऐसे भी अवसर आते हैं जब हिंसा पाप नहीं होती; फिर भी कोई ऐसी एक बात नहीं कही जा सकती जो सदा सर्वत्र के लिये लागू हो।

जो बात हिंसा-अहिंसा के विषय में है वही आचार-शास्त्र के प्रत्येक नियम के विषय में समझना चाहिये। यदि आचार-शास्त्र के प्रत्येक नियम को सप्तभंगी के रूप में दुनियाँ के सामने रक्खा जाय तो सभी सम्प्रदायों में एकता नजर आने लगे। कौनसा नियम किस परिस्थिति में अस्तिरूप है और किसमें नास्तिरूप, इस

के पता लग जाने से हम वर्तमान परिस्थिति के अनुरूप नियमों का चुनाव कर सकते हैं । इसलिये किसी नियम को बुरा भला कहने की आवश्यकता नहीं है । सिर्फ वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल या प्रतिकूल कहने की आवश्यकता है । इससे किसी धर्म की निन्दा किये बिना हम सत्यकी प्राप्ति कर सकते हैं । सप्तभंगी का यही वास्तविक उपयोग है, जिसकी तरफ जैनलेखकों का ध्यान प्रायः आकर्षित नहीं हुआ । सप्तभंगी का उपयोग करने के लिये इसी प्रकार के विवेचन की आवश्यकता है ।

सप्तभंगी में मूल भंग तीन हैं । अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य । बाकी चार भंग तो इन्हीं को मिलाकर बनाये गये हैं ।

अवक्तव्य शब्दका सीधा अर्थ तो यही है कि 'जो कहा न जा सके' परन्तु कहे न जा सकने के कारण दो हैं । एक तो यह कि हम उसे ठीक ठीक नहीं जानते इसलिये नहीं कह सकते; दूसरा यह कि ठीक ठीक जानते तो हैं, परन्तु उसको निर्दिष्ट करने के लिये हमारे पास शब्द नहीं हैं । जैसे-हमसे कोई पूछे कि विश्व कितना महान् है ? तो हम कहेंगे कि 'कह नहीं सकते' । यहाँ पर कह न सकने का कारण हमारा अज्ञान अर्थात् ज्ञान की अशक्ति है । परन्तु जब कभी हमें ऐसी वेदना होती है जिसे हम कह नहीं सकते, हम इतना तो कहते हैं कि वेदना होती है, बहुत वेदना होती है, परन्तु वह कैसी होती है यह नहीं बतला पाते क्योंकि वेदना के सब प्रकारों और सब मात्राओं के लिये भाषा में शब्द नहीं हैं, इसलिये यहाँ भी हमें अवक्तव्य शब्द से ही कहना पड़ता है ।

अवक्तव्यता के ये दोनों कारण सत्य और व्यावहारिक हैं, परन्तु जैन लेखक इन दोनों कारणों का उल्लेख नहीं करते । वे उसका कुछ विचित्र ही वर्णन करते हैं जिसकी किसी भी तरह संगति नहीं बैठती । उनका कहना है कि "अस्ति और नास्ति इन दोनों शब्दों को हम एक साथ नहीं बोल सकते, जब अस्ति बोलते हैं तब नास्ति रह जाता है और जब नास्ति बोलते हैं तब अस्ति रह जाता है, इसलिये वस्तु अवक्तव्य है ।"

अवक्तव्य के इस अर्थ में वस्तु के किसी ऐसे धर्म या अवस्थाका निर्देश नहीं होता जिसे अवक्तव्य कह सकें । अवक्तव्य शब्द से जिन धर्मोंका उल्लेख होता है, वे धर्म तो हमारे लिये भी वक्तव्य रहते हैं । वक्तव्य होनेपर भी उन्हें अवक्तव्य कोटि में डालना निरर्थक है । कल कोई कहे कि वस्तु वक्तव्य तो है परन्तु उसे नाकसे नहीं बोल सकते इसलिये अवक्तव्य है । अवक्तव्यता के ऐसे कारणों का उल्लेख करना जैसा निरर्थक है वैसा जैन लेखकों का है । आप तो अस्ति और नास्ति को एक साथ बोलने का निषेध करते हैं, परन्तु यों तो 'अस्ति' भी एक साथ नहीं बोला जा सकता क्योंकि जिस समय 'अ' बोलते हैं उस समय "स्" रह जाता है, जब "स्" बोलते हैं तब 'ति' रह जाती है । परन्तु जिस प्रकार हम 'अस्ति' के स्वर व्यञ्जनों में अक्रमकी कल्पना से अवक्तव्यता का आरोप नहीं करते, उसी प्रकार अस्ति नास्ति में भी नहीं करना चाहिये । अस्ति और नास्तिका अक्रम से उच्चारण नहीं होता, इसीलिये किसी वस्तुको अवक्तव्य कह देना अनुचित है ।

दूसरी बात यह है कि सात प्रकार के भङ्गों का कारण वस्तु के धर्मों का सात प्रकार होना है। परन्तु अवक्तव्यताका ऐसा ही कारण माना जाय तो वस्तुधर्म के साथ उसका सम्बन्ध ही नहीं बैठता, क्योंकि वस्तु में दोनों ही धर्म एक साथ हैं। अवक्तव्य शब्द से किसी ऐसे धर्म का पता नहीं लगता जो अस्ति और नास्ति से न कहा गया हो। इसलिये सात प्रकार के धर्म से सात प्रकार के भङ्गों का कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता।

तीसरी बात यह है कि भिन्न भिन्न पदार्थों की सप्तभंगियों में चार भङ्गों का भेद ही नहीं रहता। घटका द्रव्यक्षेत्रकालभाव और पटका द्रव्यक्षेत्रकालभाव जुदा जुदा है, इसलिये उसके अस्ति और नास्ति भंगसे कुछ विशेष धर्म का बोध होगा। परन्तु घट के अस्ति और नास्ति एक साथ नहीं कहे जा सकते और पटके अस्ति और नास्ति एक साथ नहीं कहे जा सकते, इन दोनों के अवक्तव्य में कोई अन्तर नहीं रहता। इसलिये अवक्तव्यादि चार भंग निरर्थक ही हो जाते हैं।

चौथी बात यह है कि इससे सप्तभंगी की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। ये सात भंग तो सात तरह के प्रश्नों पर अवलम्बित हैं और सात तरह के प्रश्न सात तरह के संशयोंपर अवलम्बित हैं। परन्तु अवक्तव्य का जैसा अर्थ जैनाचार्य और जैन पंडित करते हैं उसमें सात तरह के प्रश्न ही नहीं होते। प्रश्नकर्ता भी तो आखिर शब्द बोलकर पूछेगा और जब वह स्वयं यह अनुभव करता है कि मैं प्रश्न करने में जितने अक्षरों का उपयोग करता हूँ उनको एक साथ नहीं बोल सकता-आज तक जब कभी किसी के मुँह से दो

शब्दों या दो अक्षरों का उच्चारण एक साथ नहीं हुआ, न हो सकता है-जब शब्द मात्र और अक्षर मात्र के लिये यह नियम है, तब वह किसी से यह प्रश्न ही कैसे पूछ सकता है कि क्या आप घट के अस्तित्व और नास्तित्व को एक साथ बोल सकते हैं ? यह सन्देह तो तभी हो सकता है जब कि किसी वस्तु का अस्तित्व नास्तित्व एक साथ बोला जा सकता हो और किसी का न बोला जा सकता हो। जब शब्द मात्र का युगपत् उच्चारण नहीं होता तब युगपत् उच्चारण के विषय में सन्देह कैसे हो सकता है ? और सन्देह नहीं तो प्रश्न क्या ? और प्रश्न के अभाव में यह भंग कैसे बनेगा ?

इस बात को जरा ऊपर के उदाहरणों में देखिये। पहिले मैंने रोगी का उदाहरण दिया है। कोई रोगी की तबियत पूछे और डॉक्टर को उत्तर देने में अच्छी और बुरी दोनों बातें कहना हो तो वह यही कहेगा कि 'कल से तो अच्छी है परन्तु ऐसी अच्छी नहीं है कि कुछ आशा की जा सके।' इसके बाद कोई ऐसा नहीं पूछता कि ' डॉक्टर साहिब, क्या आप इन दोनों बातों को एक साथ ही बोल सकते हैं ? इस प्रश्न से रोगी की हालत का सम्बन्ध ही क्या ? इस प्रकार का अवक्तव्य भंग व्यर्थ ही हो जाता है। फिर अवक्तव्य के साथ मिले हुए भंगों की तो बात ही क्या है ? न तो इस प्रकार के प्रश्न होते हैं, न इस प्रकारकी जिज्ञासा होती है, न ऐसी अवक्तव्यता का वस्तुके धर्म के साथ कोई सम्बन्ध ही है। इससे साफ मालूम होता है कि जैनाचार्यों की इस विषय में बड़ी भारी भूल हुई है।

सप्तभंगी का वास्तविक रूप वही है जो मैंने ऊपर बतलाया है। वह व्यवहार्य और युक्तिसंगत तो है ही, साथ ही समन्वय और समभाव की दृष्टि से कल्याणकारी भी है। पहिले पहल किसी जैनाचार्य से अवक्तव्य भंग के स्वरूप में भूल हुई है और परम्परा को सुरक्षित रखने के लिये उस भूल की परम्परा निर्द्वन्दभाव से चली आई है। नहीं तो अवक्तव्यभंग के स्वरूप-विचार में ऊपर की चार बातें इतनी जबर्दस्त हैं कि वे अवक्तव्यभंग की वर्तमान मान्यता को किसी तरह नहीं टिकने देतीं।

इस प्रकार आज सप्तभंगी के स्वरूपमें दो प्रकार के संशोधनों की आवश्यकता है। पहिला-अवक्तव्य के विकृत लक्षण को दूर करके उसे ठीक कर लेना; दूसरा-उसका उपयोग कर्तव्य आदि धार्मिक तत्वोंके विवेचन में करना, जिसमें साम्प्रदायिक कट्टरता और अहंकार को हटाकर कर्तव्य मार्ग का वास्तविक ज्ञान हो।

इस प्रकार के संशोधन होजाँय तो सप्तभंगी की वास्तविक उपयोगिता प्रगट होजाय। सप्तभंगी का सिद्धांत बहुत उच्च और कल्याणकारी है। कह नहीं सकते कि यह सप्तभंगी म० महावीर ने प्रचलित की थी या इसका विकास पीछे हुआ। परन्तु यह बात कुछ ठीक माळूम होती है कि यह सप्तभंगी पहिले त्रिभंगी के रूप में थी (अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य)। भगवती सूत्रमें त्रिभंगी के रूपमें ही इसका उल्लेख मिलता है। परन्तु त्रिभंगी और सप्तभंगी में विशेष अंतर नहीं है; त्रिभंगी की विशेष व्याख्या सप्तभंगी है।

इस सप्तभंगी का सिद्धांत व्यावहारिक और बिल्कुल बुद्धिगम्य होने पर भी साम्प्रदायिक पक्षपात के कारण अनेक प्राचीन आचार्यों

ने बिना समझे ही इसका विरोध कर डाला है। उनका कहना यह है कि किसी वस्तुको अस्ति और नास्ति ये दोनों ही कहना परस्पर-विरुद्ध है। इसी विरोध-दोषको मूल दोष बनाकर और भी सात दोषों की कल्पना की जाती है।

जब अस्तित्व और नास्तित्व परस्परविरोधी हैं, तब अस्तित्व का जो आधार है वह नास्तित्वका आधार नहीं हो सकता इस प्रकार दोनों का जुदा जुदा अधिकरण होने से वैयधिकरण्य दोष कहलाया।

जैसे किसी वस्तुमें सात भंग लगाये जाते हैं, वैसे ही अस्ति भंग में भी सात भंग लगाये जा सकते हैं। इस दूसरी सप्तभंगी में— जोकि अस्ति भंग में लगाई गई है-जो अस्तिभंग आवेगा उसमें भी फिर सप्तभंगी लगाई जावेगी। इस प्रकार अनंत सप्तभंगियाँ होनेसे 'अनवस्था' दोष होगा।

जब अस्ति और नास्ति एक ही जगह रहेंगे तब जिस रूपमें अस्ति है, उसी रूपमें नास्ति भी होगा। इस प्रकार अस्ति और नास्ति की गड़बड़ी होने से 'संकर' दोष होगा।

पदार्थ जिस रूपसे अस्ति है उस रूपसे नास्ति भी हो जायगा, इस प्रकार परस्पर अदला बदली होने से व्यतिकर दोष होगा।

एक ही वस्तु में अस्ति और नास्ति सरीखे परस्पर विरोधी धर्म मानने से संशय हो जायगा। जहाँ संशय है वहाँ वस्तुकी प्रतिपत्ति (ज्ञान) नहीं हो सकती, इसलिये अप्रतिपत्ति नामक दोष हो जायगा। जब वस्तुका ज्ञान ही न हुआ तब वस्तुका सद्-भाव सिद्ध न होने से अभाव होगया।

जो लोग सप्तभंगी पर इस प्रकार के दोष मढ़ते हैं, वे सप्तभंगी के स्वरूप को जानबूझकर भुलाते हैं। सप्तभंगी यह नहीं कहती कि जो पदार्थ जिस रूपसे अस्ति है उसी रूपसे नास्ति है। एक क्षेत्रकालादि की अपेक्षा अस्ति है और दूसरे क्षेत्रादि की अपेक्षा नास्ति। इसमें विरोध क्या है? आम बेर की अपेक्षा बड़ा है और कटहल की अपेक्षा बड़ा नहीं है-इसमें विरोध क्या है? अमुक कार्य अमुक जमाने में अमुक व्यक्ति के लिए कर्तव्य है और दूसरे समय में दूसरे व्यक्ति के लिए कर्तव्य नहीं है--इसमें विरोध कैसा? इससे स्पष्ट है कि सप्तभंगी में विरोध की कल्पना भ्रांत है। जब उनमें विरोध नहीं रहा तब वैयधिकरण्य भी न रहा।

यहाँ अनवस्था दोष भी नहीं है, क्योंकि कल्पना के अनंत होने से ही अनवस्था दोष नहीं होता। अनवस्था दोष वहीं होता है जहाँ कल्पना अप्रामाणिक हो। प्रत्येक मनुष्य माता पितासे पैदा होता है, इसलिये अगर मातृपितृपरम्परा अनंत मानना पड़े तो इसे अनवस्था दोष न कहेंगे, क्योंकि यह परम्परा प्रमाणसिद्ध है। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखना चाहिये कि धर्म में धर्म की कल्पना ठीक नहीं है। घट में अगर घटत्व है तो घटत्व में घटत्वत्व और उसमें घटत्वत्वत्व आदि की कल्पना नहीं की जाती। जैसे यहाँ पर धर्म में धर्म की कल्पना न करके अनवस्था से बचते हैं, उसी प्रकार सप्तभंगी में भी बचना चाहिये। फिर, इस दोष का संबंध खास सप्तभंगी से ही क्यों जोड़ना चाहिये? किसी पदार्थ में अस्तित्व और नास्तित्व धर्म मानने से ही अस्तित्व में अस्तित्व की कल्पना क्यों करना चाहिये? जो सप्तभंगी नहीं मानते—अस्तित्व के

साथ नास्तित्व नहीं मानते केवल अस्तित्व ही मानते हैं--उनसे भी यह कहा जा सकता है कि तुम पदार्थों में अस्तित्व मानोगे तो अस्तित्व में भी अस्तित्व मानना पड़ेगा, इस प्रकार अनवस्था होगी। परन्तु क्या इसीलिये पदार्थ में अस्तित्व भी न माना जावे ? इसलिये यह अनवस्था दोष असिद्ध है।

जब अस्तित्व और नास्तित्व अपेक्षाभेदसे जुदे जुदे सिद्ध होगए, तब संकर और व्यतिकर दोष तो आ ही कैसे सकते हैं ? संशय का कारण विरोध था, परन्तु जब विरोध ही न रहा तब संशय भी न रहा और उसीसे अप्रतिपत्ति और अभाव भी दूर हो गये। इस प्रकार सप्तभंगी निर्दोष है।

आवश्यकता इस बात की है कि सप्तभंगी का उपयोग सम-न्वय की दृष्टि से व्यापक क्षेत्र में किया जाय और उसके अवक्तव्य का स्वरूप ठीक कर लिया जाय जैसा प्रारम्भ में मैंने दिया है।

इस प्रकार नास्ति अवक्तव्य भंग से ज्ञान की सीमा के विषय में निर्णय करना चाहिये।

आत्मा का स्वभाव, आवरणनाश आदि की दुहाई का यहाँ कोई मूल्य नहीं है क्योंकि ये सब बातें अनिश्चित हैं, संदिग्ध हैं, जब कि 'अनन्त का प्रत्यक्ष असम्भव' नामक बाधा बिलकुल साफ है। जबतक यह बाधा दूर नहीं हो जाती और वस्तुके अंत होने की समस्या का हल नहीं हो जाता तबतक स्वभाव आदि की अन्य बातें बेकार हैं।

असत् का प्रत्यक्ष असम्भव

केवलज्ञान की प्रचलित परिभाषा में दूसरा दोष यह है कि उसमें असत का प्रत्यक्ष मानना पड़ता है जो कि असम्भव है। जो वस्तु है ही नहीं उसका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? अगर असत् का प्रत्यक्ष होने लगे तो गधे के सींग का भी प्रत्यक्ष होने लगे। भूत और भविष्य के पदार्थ हैं ही नहीं तब उनका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ?

प्रश्न--जब हमें दूरके पदार्थों का प्रत्यक्ष हो सकता है तब भूत भविष्य के पदार्थों का प्रत्यक्ष क्यों नहीं हो सकता ? व्यवधान तो दोनों जगह है एक जगह क्षेत्र का व्यवधान है तो दूसरी जगह काल का।

उत्तर--व्यवधान में प्रत्यक्ष नहीं होता यह सामान्य नियम है किन्तु जहां व्यवधान किसी माध्यम के द्वारा मिट जाता है वहां व्यवधान प्रत्यक्ष में बाधक नहीं होता। जैसे चन्द्र सूर्य तारे हमसे बहुत दूर हैं पर उनकी किरणें हमारी आँख पर पड़ती हैं इस प्रकार किरणों के माध्यम के द्वारा क्षेत्र का अन्तराल दूर हो जाता है इसलिये प्रत्यक्ष में बाधा नहीं है। इसी प्रकार जहां माध्यम के द्वारा काल का अन्तराल भी दूर हो जाता हो वहाँ भी प्रत्यक्ष में बाधा नहीं आती। जैसे कोई तारा ऐसा है जिससे किरण एक घंटे में आती है तो इस समय जो हमें तारे का प्रत्यक्ष होगा वह तारे की एक घंटा पूर्व की अवस्था का होगा। पर उस तारे की सवा घंटा पूर्व की अवस्था का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि माध्यम की अपेक्षा भी वह पाव घंटा भूत हो गया है इसी प्रकार पौन घंटा

पूर्व की अवस्था का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि माध्यम की अपेक्षा वह पाव घंटा भविष्य है।

क्षेत्र से व्यहित पदार्थ वहीं तक प्रत्यक्ष होता है जहां तक किरण आदि के माध्यम द्वारा अव्यवहित बन जाय इसी प्रकार कालसे व्यवहित भी तभी प्रत्यक्ष होता है जब किरणादि माध्यमके द्वारा उसका व्यवधान मिट जाय। जिसके काल व्यवधान को दूर करने वाला कोई माध्यम नहीं है उसे असत् कहते हैं। भविष्य पदार्थ के लिये तो माध्यम मिल ही नहीं सकता क्योंकि वह तो अभी सत्ता में ही नहीं आया है इसलिये उसका प्रत्यक्ष तो असम्भव है। रहा भूत सो भूत उसी क्षण में प्रत्यक्ष हो सकता है जिस क्षणसे सम्बद्ध माध्यम वर्तमान में इंद्रियों से मिल रहा है उससे अधिक भूत सर्वथा भूत होने से असत् है और उससे बाद का भूत भविष्य है क्योंकि उससे सम्बद्ध माध्यम इन्द्रियों से मिल सकने वाला है अर्थात् वर्तमान हो सकने वाला है।

मतलब यह कि वर्तमान एक ही क्षण है उससे आगे पीछे भूत भविष्य है। भूत का अर्थ है जो हो गया भविष्य का अर्थ है जो होनेवाला है, हैं दोनों ही नहीं, इसालिये असत् हैं और असत् का प्रत्यक्ष नहीं होता।

केवली के द्वारा एक समय में किसी पदार्थ की कोई एक ही पर्याय माध्यम द्वारा मिल सकती है इसलिये उसी का प्रत्यक्ष हो सकता है बाकी आगे पीछे की अनन्त पर्यायों का प्रत्यक्ष माध्यम के अभावके कारण नहीं हो सकता। क्षेत्र में भी जहां माध्यम नहीं मिलता वहाँ प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

प्रश्न–भूत भविष्य को खरविषाण का उदाहरण ठीक नहीं, क्योंकि खर विषाण तो कभी भी संभव नहीं है जब कि भूत भविष्य अपने अपने समय में सम्भव है।

उत्तर–खरविषाण कभी सम्भव नहीं है तो वर्तमान की तरह उसका भूत भविष्य में प्रत्यक्ष न होगा। पर वर्तमान में भी अप्रत्यक्ष तो भूत भविष्य का भी है और खरविषाण का भी। क्यों कि वर्तमान में दोनों असत् हैं। यही दोनोंकी समानता है जिस से दृष्टान्त दार्ष्टान्त्यभाव बनगया है।

प्रश्न–भूत भविष्य के प्रत्यक्ष में बाधा तो तब आवे जब अर्थ प्रत्यक्ष में कारण हो, पदार्थ को प्रत्यक्ष में कारण मानना ही अनुचित है। क्योंकि बिना पदार्थ के भी प्रत्यक्ष होता है। मरीचिका आदि में जल न होने पर भी जलज्ञान होता है। सत्य स्वप्न ज्ञान और भावना ज्ञान बिना पदार्थ के होते ही हैं।

उत्तर–मरीचिका में जल के बिना जलज्ञान होता है पर वह ज्ञान मिथ्या है। वहाँ भी पदार्थ तो कारण है ही, तप्तवालुका पर पड़नेवाली तीक्ष्ण किरणें यह भ्रम पैदा करती हैं। आंखों में विकार होने से भी कुछ का कुछ दिखने लगता है। असत्य ज्ञान में असत्यरूप में पदार्थ कारण होता है जैसा ज्ञान होता है वैसा ही पदार्थ कारण नहीं होता इसीलिये तो वह ज्ञान असत्य कहलाता है।

स्वप्न भावना आदि ज्ञान तो मनपर पड़े हुए अव्यक्त संस्कारों के फल हैं। पुराने अनुभव, वे व्यक्त हों या अव्यक्त, सूक्ष्म या स्थूल वासना के अनुसार मिश्रित होकर नाना रूपमें दिखते हैं,

या भविष्य के विषय में व्यक्त अव्यक्त कल्पनाएँ आकांक्षाएँ सम्भावनाएँ भयवृत्तियाँ दिखती हैं। ये तो जैसी जागृत अवस्था में होती हैं वैसी स्वप्न में भी। कभी सफल होतीं कभी अफल। इनको प्रत्यक्ष नहीं कह सकते ये तो सूक्ष्म स्थूल तर्कणाएँ हैं जोकि परोक्ष हैं। परोक्ष में अर्थ की आवश्यकता नहीं होती किन्तु विचार करने के लिये संस्कार से आये हुए ज्ञान की आवश्यकता होती है।

प्रत्यक्ष में पदार्थ कारण है इसका कार्यकारणभाव या अन्वयव्यतिरेक अनुभवसिद्ध है। एक आदमी हमारे सामने आता है उसका प्रत्यक्ष होता है, ओट में हो जाता है प्रत्यक्ष रुक जाता है। सौबार वह ओट में जायगा तो प्रत्यक्ष सौबार रुक जायगा जब जब सामने आयगा तभी तभी प्रत्यक्ष होगा। इससे मालूम हुआ कि उस आदमी के प्रत्यक्ष में वह आदमी कारण है क्योंकि उसके होनेपर ही प्रत्यक्ष हुआ उसके न होने पर कदापि न हुआ।

प्रश्न–पदार्थ तो सिर्फ़ चेतनाको जगाता है वह प्रत्यक्षमें कारण नहीं होता। चेतना न जगे तो पदार्थ होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं होता।

उत्तर–एक ही कारण से कार्य नहीं होता। कार्य के लिये पूरे कारणों की आवश्यकता है। प्रत्यक्ष में पदार्थ भी चाहिये और चेतना का जागरण भी। एक कारण होने से दूसरे कारण का अभाव नहीं होजाता है। देखने के लिये आँख भी चाहिये और पदार्थ भी। पदार्थ होनेपर भी आँख न होने पर दिखाई नहीं दे सकता और आँख होने पर पदार्थ न होने पर पदार्थ नहीं दिख सकता, इससे दोनों कारण कहलाये। आँखों के कारण होने से

पदार्थ की कारणता छिन नहीं सकती उसी प्रकार चेतना का जागरण कारण होने से पदार्थ की कारणता छिन नहीं सकती।

प्रश्न--पदार्थ तो परम्पराकारण है साक्षात् कारण तो चेतना का जागरण ही है। परम्परा कारण को कारणों में नहीं गिन सकते। जैसे घड़ा बनाने में कुम्हार के बाप की या मिट्टी ढोनेवाले गधे की गिनती कारणों में नहीं है उसी प्रकार पदार्थ की गिनती भी प्रत्यक्ष के कारणों में नहीं है क्योंकि दोनों में समयभेद है।

उत्तर--विष खाने से जब आदमी की मौत हो जाती है तब उस मौत का कारण विषभक्षण ही कहा जाता है भले ही विष-भक्षण और मौत के समय में घंटों और दिनों का अन्तर हो। समय-भेद होने के कारण विष को कुम्हार के बाप या मिट्टी ढोनेवाले गधे के समान नहीं कहा जा सकता। क्योंकि मृत्युरूप कार्य की जो विशेषता है उसका कारण विष ही है। घट रूप कार्य की विशेषता का कारण कुम्हार है उसका बाप या गधा नहीं, इसलिये कुम्हार के बाप को या गधेको सामग्री में शामिल नहीं किया जाता। जब हमें मनुष्यज्ञान होता है तब ज्ञान की इस विशेषता का कारण मनुष्य ही है। आँख वगैरह तो दूसरे प्रत्यक्षों में भी समान हैं। घटप्रत्यक्ष पटप्रत्यक्ष मनुष्यप्रत्यक्ष पशुप्रत्यक्ष आदि प्रत्यक्षों में आँख प्रकाश आदि की समानता रहने पर भी जो विशेषता है उसका कारण घट पट मनुष्य पशु आदि ही है इसलिये पदार्थ को प्रत्यक्ष में कारण मानना ही चाहिये। नहीं तो ज्ञान की विशे-षता अकारणक हो जायगी।

प्रश्न--ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम-विशेष ही प्रत्यक्ष-विशेष में कारण है उसके लिये अर्थ की क्या ज़रूरत ?

उत्तर--क्षयोपशम से हमें एक प्रकार की शक्ति मिलेगी परन्तु शक्ति का जो विशेषरूप में उपयोग है उसका कारण लब्धि नहीं, बाह्यनिमित्त है। ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हमें देखने की शक्ति दे सकता है पर हमें खंभा दिखा मकान दिखा इत्यादि विशेषता खंभा और मकान के निमित्त से हुई है। क्षयोपशम-लब्धि--तो सोते में भी थी पर उस समय वह नहीं दिख रहा था फिर दिखने लगा इसका कारण वह पदार्थ है। लब्धि के रहने पर भी अमुक पदार्थ के सामने आने न आने पर प्रत्यक्ष-विशेष निर्भर है इसलिये उपयोग में पदार्थ की कारणता है। आत्मा में अनन्त काल के अनन्त पदार्थों के अलग अलग चिन्ह नहीं बने हैं कि उनके प्रगट होने से उन पदार्थों का प्रत्यक्ष होने लगे। पहिले तो ऐसे चिन्ह असम्भव हैं, आत्मा में इतना स्थान नहीं है कि अनन्त चिन्ह बन सकें, दूसरे चिन्ह प्रगट होने से प्रत्यक्ष होने लगे तो सोने जागने आदिमें भी होना चाहिये पदार्थ के हट जाने पर भी होना चाहिये। मनुष्य का ज्ञान ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशयसे हुआ करे तो मनुष्य हो या न हो जहाँ मनुष्य ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हुआ कि मनुष्यज्ञान हुआ। पर अनुभव ऐसा नहीं होता। कैसा भी ज्ञानावरण का क्षयोपशम हो जब तक घड़ा सामने न आयगा न दिखेगा। इसलिये घटज्ञान की विशेषता का कारण घट है। इसीलिये प्रत्यक्ष को अर्थकारणक स्वीकार करना पड़ता है। इसलिये जो अर्थ है ही नहीं उसका

प्रत्यक्ष कैसे होगा। असत् का प्रत्यक्ष असम्भव होने से केवलज्ञान भूत भविष्य के पदार्थों को कैसे जानेगा ?

दूसरी बात यह है कि पदार्थ परम्परा से कारण हो या साक्षात् कारण हो उसके बिना प्रत्यक्ष नहीं होता यह अनुभवसिद्ध बात है इसलिये भूत भविष्य के-असत्-पदार्थों का प्रत्यक्ष असम्भव है।

प्रश्न--भूत और भविष्य पदार्थों का परोक्ष तो होता ही है और प्रत्यक्ष तो परोक्ष से भी ज्यादा प्रबल है ऐसी अवस्था में यह कैसे कहा जा जाकता है कि जिसको परोक्ष जान सकता है या जानता है उसको प्रत्यक्ष न जानसके या ऐसा करना उसकी शक्ति के बाहर हो।

उत्तर--प्रबलता बात दूसरी है और विस्तीर्णता दूसरी। लोहा हवा से प्रबल हो सकता है पर हवा के बराबर विस्तीर्ण नहीं। परोक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष का विषय बहुत थोड़ा है। हर एक प्रत्यक्ष का विषय संस्कार पाकर स्मृतिका विषय हो सकता है पर प्रत्यभिज्ञान का संकलन प्रत्यक्ष के विषय के बाहर है।

प्रत्यक्ष परोक्ष से प्रबल है यह एक बड़ा कारण है कि वह स्वल्प है दुर्लभ है। इसका हमें अनुभव होता है। परमाणु का अनुमान कोई भी कर सकता है पर प्रत्यक्ष कौन कर सकता है ? प्रत्यक्ष जब ज्ञानान्तरों से मिश्रित हो जाता है तब परोक्ष बन जाता है। ज्ञानान्तरों के मिश्रण से उसका क्षेत्र बढ़ जाता है। जैसे नदी उद्गमके स्थान में स्वच्छ किन्तु छोटी रहती है उसी तरह ज्ञान प्रत्यक्षरूप उद्गम स्थान में स्वच्छ किन्तु छोटा है। आगे चलकर जब

परोक्ष बन जाता है तब अस्वच्छ और विशाल हो जाता है।

परोक्ष में कल्पनाओं का और बहुत से ज्ञानों का संस्कार का उपयोग होता है इसलिये वह भूत भविष्य को भी जानता है पर प्रत्यक्ष को इतने साधन कहाँ ?

प्रत्यक्ष की स्वाधीनता ने उसे अल्पसहाय बना दिया है इसलिये उसका विषय क्षेत्र संकुचित हो गया है जब कि पराधीनता बहुसहायरूप होने से उसे विस्तृत बनाती है।

बल्कि एक दृष्टि से प्रत्यक्ष की अपेक्षा परोक्ष अधिक स्वाधीन है। प्रत्यक्ष तभी तक काम कर सकता है जब तक पदार्थ ठीक स्थान पर मौजूद है। स्मृति आदि परोक्ष को पदार्थ सामने रखने की ज़रूरत नहीं है। परोक्ष संस्कार की सहायता से कल्पनाओं द्वारा आँख बन्द करके भी मनचाहा विषय कर सकता है। प्रत्यक्ष में इतनी गति कहाँ ?

ख़ैर, यह नियम नहीं है कि जिसका परोक्ष होसके उसका प्रत्यक्ष भी होसके। परमाणु परमनोवृत्ति आदि का हमें अनुमान हो सकता है प्रत्यक्ष नहीं। इसलिये यह कहना ठीक नहीं कि परोक्ष जिसे जानेगा उसे प्रत्यक्ष भी जानेगा। इसलिये प्रत्यक्ष भूत भविष्य को विषय नहीं कर सकता।

प्रश्न--इन्द्रिय सुख में बाहरी विषयों की आवश्यकता होती है पर इन्द्रिय जयी को नहीं होती फिर भी उसे आनन्द मिलता है। इसी प्रकार साधारण ज्ञानी को प्रत्यक्ष में पदार्थ की आवश्यकता है केवली को नहीं।

उत्तर--अतीन्द्रिय सुख इन्द्रिय सुख से महान है स्वाधीन है उसे विषयों की आवश्यकता नहीं इसलिये उसमें विषयसुख भी नहीं है, भले ही विषय सुख से बढ़कर आत्मसुख हो। इसी प्रकार अतीन्द्रिय ज्ञान में घटपटादि प्रत्यक्ष नहीं हैं भले ही उससे ऊँचा स्वात्मप्रत्यक्ष हो। केवलज्ञान को पर पदार्थों को जानने की ज़रूरत नहीं है वह सर्वोच्च श्रेणी का आत्मप्रत्यक्ष है यही कहना चाहिये। केवलज्ञान के विषय में त्रिकाल त्रिलोक के समस्त पदार्थ ठूसने का विफल प्रयत्न न करना चाहिये। अतीन्द्रिय सुख के समान अतीन्द्रिय ज्ञान भी स्वात्मविषयक है यही मानना ठीक है।

प्रश्न--भूतभविष्य पर्यायों का अस्तित्व भले ही न हो, परन्तु जिस द्रव्य की वे पर्यायें होती हैं उसका अस्तित्व तो सदा होता है। इसलिये जब किसी द्रव्य का प्रत्यक्ष किया जाता है तब उसमें भूत-भविष्य की अनन्त पर्यायें भी शामिल हो जाती हैं। इसलिये एक द्रव्य का पूर्ण प्रत्यक्ष कर लेने पर भूतभविष्य की अनंत पर्यायों का भी प्रत्यक्ष हो जाता है।

उत्तर--एक द्रव्य के पूर्ण प्रत्यक्ष होने पर अनंत पर्यायों का प्रत्यक्ष हो, यह बिलकुल ठीक है परन्तु आपत्ति तो यह है कि एक द्रव्य का ऐसा पूर्ण प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। उसके वर्तमान अंश का ही प्रत्यक्ष हो सकता है क्योंकि वही सत्रूप है।

प्रश्न--वर्तमान अंश के प्रत्यक्ष होने से उसके भूत भविष्य अंशों का भी प्रत्यक्ष हो जाता है क्योंकि सभी पर्यायें द्रव्य से अभिन्न हैं।

उत्तर--अभिन्न तो हैं परन्तु उनमें सर्वथा अभिन्नता नहीं है। उनमें अंश अंशीका भेद निश्चित है। यदि उनमें सर्वथा अभेद माना जायगा तो हरएक आदमी सर्वज्ञ या अनन्तदर्शी हो जायगा। क्योंकि किसी द्रव्य की एकाध पर्याय को तो हरएक आदमी जान सकता है और उस पर्याय का द्रव्य से अभेद होने से वह द्रव्य की अनन्त पर्यायें भी जान सकेगा। इस प्रकार हरएक आदमी को अनन्तज्ञ होना चाहियें; परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये मानना चाहिये कि किसी पर्याय के प्रत्यक्ष हो जाने से समग्र द्रव्यका अर्थात् उसकी भूतभविष्यकी अनंत पर्यायों का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसलिये वर्तमान पर्यायों का प्रत्यक्ष भूतभविष्य की अनन्त पर्यायों का प्रत्यक्ष नहीं कहला सकता।

प्रश्न--हम लोगों को भी एक अवस्था को देखकर दूसरी अवस्था का ज्ञान होता है इसलिये केवली भी वर्तमान की एक पर्याय का प्रत्यक्ष करके भविष्य की अनंत पर्यायों का प्रत्यक्ष करलें तो इसमें क्या आश्चर्य है ?

उत्तर--एक अवस्थाको देखकर जो दूसरी अवस्थाका ज्ञान किया जाता है वह प्रत्यक्ष नहीं अनुमान या परोक्ष कहलाता है परोक्ष में हम वस्तु को सामान्य रूप में जान सकते हैं, सब पदार्थों का पृथक् पृथक् ज्ञान नहीं कर सकते। प्रत्येक पर्याय को जानने के लिये हमें जुदा जुदा अनुमान करना पड़ेगा और इसमें अनन्तकाल व्यतीत हो जायगा। तब भी एक द्रव्यकी अनंत पर्यायों को कोई न जान सकेगा। सामान्य रूप में सब वस्तुओं को

जानने वाला यदि सर्वज्ञ माना जाय तो इसमें कोई बाधा नहीं है; परन्तु ऐसा सर्वज्ञ तो हरएक आदमी कहला सकता है क्योंकि 'सब जगत् सत् रूप है' इस वाक्य के द्वारा हमें सारे जगत् का ज्ञान होता है।

प्रश्न—अतीत में देखी हुई वस्तुओं का हम आँखें बंद करके मानस प्रत्यक्ष कर लेते हैं। इस प्रकार का मानस प्रत्यक्ष यदि अतीत का होता है तो भविष्य का भी हो सकता है; और जब साधारण मनुष्य भी इतना प्रत्यक्ष कर लेता है तब केवली अनंत वस्तुओं का प्रत्यक्ष करें, इसमें क्या आश्चर्य है?

उत्तर—अतीत में जानी हुई वस्तुका जो आँख बंद करके अनुभव होता है, वह वास्तवमें प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु परोक्ष है, अतीत का स्मरण मात्र है, जोकि पहिले के किसी प्रत्यक्ष का फल है। अनंत पदार्थों का ऐसा ज्ञान केवली के तभी हो सकता है जब वे उसका पहिले अनुभव कर चुके हों। अनुभूत ज्ञान जो संस्कार छोड़ जाता है उसीके प्रगट होने पर हम आँखें बंद करके ज्ञात वस्तुका प्रत्यक्षवत् दर्शन कर सकते हैं।

प्रश्न--ज्ञान में असत् और अननुभूत (अनुभव में नहीं आये हुए) पदार्थ को जानने की भी शक्ति है। उदाहरणार्थ, हम चाहें तो गधेके सिर पर सींग की कल्पना कर सकते हैं, यद्यपि गधे के सींग कभी देखा नहीं गया है, फिर भी वह ज्ञान का विषय हो जाता है।

उत्तर--ऊपर कहा जा चुका है कि वह प्रत्यक्ष नहीं है कल्पना है।

प्रश्न—केवली के भी हम इसी प्रकार का कल्पनारूप ज्ञान मानलें तो क्या हानि है? अन्तर इतना ही है कि हमारी कल्पनाएँ असत्य भी होती हैं जबकि केवली की कल्पनाएँ असत्य नहीं होती।

उत्तर–अनंत पदार्थों की कल्पनाके लिये अनंतकाल चाहिये इस प्रकार से कभी कोई सर्वज्ञ न होगा। दूसरा दोष यह है कि वह प्रत्यक्षज्ञानी न कहलायगा। तीसरी और सबसे मुख्य बात यह है कि अज्ञात वस्तुकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। अनेक ज्ञात वस्तुओं को हम कल्पना द्वारा मिला सकते हैं परन्तु अज्ञात वस्तुकी कल्पना नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ गधे के सींग की कल्पना लीजिये। यद्यपि हमने गधेका सींग नहीं देखा किन्तु गधा और सींग जरूर देखा है जिसने गधा नहीं देखा और सींग नहीं देखा वह गधे के सींग की कल्पना नहीं कर सकता। केवली अगर अनंत पदार्थों की कल्पना करें तो उन्हें उनके मूलभूत अनंत पदार्थों को जानना पड़ेगा। तब उस पर उनकी कल्पना चलेगी। इधर कल्पना सत्य है कि असत्य, इसका निर्णय प्रत्यक्ष के बिना हो नहीं सकता और केवली जिसे कल्पना से जानते हैं उसे प्रत्यक्ष करने वाला दूसरा महाकेवली कहाँ से आयगा? इसलिये कल्पना से सर्वज्ञत्व मानना अनुचित है।

इस प्रकार भूतभविष्य पर्यायों का प्रत्यक्ष कोई नहीं कर सकता, यह बात सिद्ध हुई। इसलिये त्रैकालिक समस्त द्रव्यपर्यायों का प्रत्यक्षज्ञान केवलज्ञान है, यह बात ठीक नहीं है।

अनेक विशेष

अनंत पदार्थों के युगपत् प्रत्यक्ष में तीसरी बाधा यह है कि अनेक विशेषों का युगपत् प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। एक समय में हम एक ही पदार्थ को जान सकते हैं। जब बहुत से पदार्थों का

एक साथ प्रत्यक्ष होता है तब उन सबकी विशेषताएँ ध्यान में नहीं आतीं उन सबसे बना हुआ एक सामान्य पदार्थ ही ध्यान में आता है। जैसे हम एक मकान को देखते हैं तो ईंट चूना पत्थर लकड़ी का व्यवस्थित समूह रूप एक पदार्थ हमारे ध्यान में आता है। हां, दूसरे क्षणों में हम ईंट का अलग लकड़ी का अलग प्रत्यक्ष कर सकते हैं। पर ईंट का प्रत्यक्ष करते समय ईंट का प्रत्यक्ष होगा उसके कणों का नहीं, उनके लिये अलग प्रत्यक्ष चाहिये। इस प्रकार एक समय में प्रत्यक्ष का विषय जितना होगा उसमें किसी एक विशेष का ही ज्ञान होगा उसके भीतर की अनेक विशेषताओं के लिये दूसरे दूसरे समयों में अनेक प्रत्यक्ष करना पड़ेंगे। सेना वगैरह का ज्ञान भी इसी तरह का होता है। जब सेना का ज्ञान है तब सैनिकों की विशेषता का ज्ञान नहीं होता।

केवल ज्ञान में अगर त्रिकाल त्रिलोक के समस्त पदार्थों का प्रत्यक्ष हो तो त्रिकाल त्रिलोक के समूहरूप किसी एक धर्म का प्रत्यक्ष होगा। सर्वव्यापक समानता सत्ता है तो उसी का ज्ञान होगा अनंत पर्याय और अनंतद्रव्य न दिखेंगे। यह भी एक छोटा सा कारण है जो एक समय में अनंत पर्यायों का प्रत्यक्ष नहीं होने देता।

युक्त्याभासोंकी आलोचना

सर्वज्ञत्व की उस मान्यता में जो ये तीन प्रकार की बाधाएँ उपस्थित की गई हैं वे पर्याप्त हैं। इसके बाद अगर इस विषय में और कुछ न कहा जाय तब भी इस मान्यता का खण्डन अच्छी

तरह समझ में आजाता है। फिर भी स्पष्टता के लिये यहां उन युक्त्याभासों की आलोचना की जाती है जिनके बलपर लोग उक्त सर्वज्ञता की सिद्धि का रिवाज पूरा कर डालते हैं।

पहिला युक्त्याभास

सूक्ष्म (परमाणु आदि) अन्तरित (रावणादि) दूर [मेरु आदि] पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं क्योंकि अनुमानके विषय हैं जैसे अग्नि, इस प्रकार सर्वज्ञ की सिद्धि हो गई। *

इसमें पहिली आपत्ति तो यह है कि इसमें प्रत्यक्षत्व और अनुमेयत्व की व्याप्ति ही असिद्ध है। जो अनुमान का विषय हो वह प्रत्यक्ष का विषय होना ही चाहिये ऐसा यदि नियम होता तो यह अनुमान बन सकता था। एक बंद कमरे में अगर आग जल चुकी हो जहां कोई देखनेवाला न रहा हो तो आग बुझने पर वहां भरे हुए धुएँ से या राख के ढेर से हम अग्नि का अनुमान कर सकते हैं। इसके लिये यह आवश्यक नहीं कि यदि उस अग्नि को किसी ने या हमने देख लिया होता तो अनुमान का विषय होता नहीं तो नहीं। इस प्रकार जब निर्विवाद वस्तुओं में प्रत्यक्षत्व अनुमेयत्व की व्याप्ति नहीं बनती तब उसका उपयोग विवादापन्न सूक्ष्मादि पदार्थों में कैसे बन सकता है?

प्रश्न--कमरे की अग्नि को भले ही किसीने न देख पाया हो परन्तु कहीं न कहीं की अग्निको तो किसीने देखा है।

---

* सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥ देवागम

उत्तर--जहां की अग्नि प्रत्यक्ष है वहां तो ठीक है पर जहां की अग्नि प्रत्यक्ष नहीं है वहां अनुमेयत्व हेतु चले जाने से व्याप्ति बिगड़ गई। अनुमेयत्व और प्रत्यक्षत्व की व्याप्ति तभी बन सकती है जब सदा सर्वत्र प्रत्यक्षत्व के बिना अनुमेयत्व न बन सके। जब हम जीवन में सैकड़ों वस्तुओं का अनुमान बिना प्रत्यक्ष के करते हैं तब प्रत्यक्षत्व और अनुमेयत्व की व्याप्ति कैसे बन सकती है।

प्रश्न-प्रत्यक्षत्व और अनुमेयत्व ये वस्तुके धर्म हैं। जिसमें प्रत्यक्ष होने योग्य धर्म होगा उसी में अनुमेय होने योग्य धर्म होता है। जो अनुमेय हो गया उसमें प्रत्यक्ष होने की योग्यता भी अवश्य होती है। अगर आपने किसी अनुमेय पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं कर पाया तो इसका यह मतलब नहीं है कि उसमें प्रत्यक्षत्व की योग्यता नहीं है। योग्यता की दृष्टि से दोनों की व्याप्ति बनती है।

उत्तर-अगर प्रत्यक्षत्व की योग्यता और अनुमेयत्व की व्याप्ति है तो सर्वज्ञ सिद्धि के लिये यह अनुमान व्यर्थ है क्योंकि योग्यता के होने पर भी वह कार्य परिणत हो या न हो यह नहीं कह सकते। जैसे बंद कमरे की अग्नि प्रत्यक्ष योग्य होनेपर भी उसका प्रत्यक्ष नहीं हुआ उसी प्रकार सूक्ष्मादि पदार्थ प्रत्यक्ष योग्य होने पर भी उनका प्रत्यक्ष न हो इसमें क्या आश्चर्य है? प्रत्यक्षत्व की योग्यता सिद्ध होने पर वे किसी के प्रत्यक्ष हैं यह सिद्ध नहीं हुआ।

दूसरी बात यह है कि यह प्रत्यक्षत्व की योग्यता क्या वस्तु है? इसके लिये हमें यह देखना चाहिये कि वे कौन से कारण हैं

जिनसे किसी चीज को हम प्रत्यक्ष से नहीं जान पाते । ऐसे कारण तीन हैं एक तो विषय की सूक्ष्मता कि वह इंद्रियों पर विषय योग्य प्रभाव न डाल सके, दूसरा ऐसे क्षेत्र में उनका होना जहां से वह इन्द्रियों पर विषय योग्य प्रभाव न डाल सके, तीसरी उसकी अवर्तमानता जिससे उसका प्रभाव इंद्रियों पर नहीं पड़ पाता । ये तीन कारण ही अप्रत्यक्षता के हैं । अब देखना चाहिये कि ये कारण क्या ऐसे हैं जिनसे वस्तु की अनुमेयता भी नष्ट हो जाय । सूक्ष्मता के होने पर भी अनुमेयता हो सकती है । क्योंकि सूक्ष्म बहुत संख्या में मिलकर स्थूल बन सकते हैं और उस स्थूल से सूक्ष्म का अनुमान किया जा सकता है अथवा सूक्ष्म का प्रभाव स्थूल पर पड़ सकता है जैसे चुम्बक की आकर्षण शक्ति का प्रभाव स्थूल लोहेपर पडता है विद्युत का प्रभाव ग्लोब के तार पर पड़ता है जिससे प्रभाव पैदा होता है । इस प्रकार जो सूक्ष्मता प्रत्यक्ष होने में बाधा डाल सकती है वह अनुमान में भी बाधा डाले ऐसा नियम नहीं है इसलिये प्रत्यक्ष के बिना भी वस्तु अनुमेय हो जायगी इसीलिये प्रत्यक्षत्व की अनुमेयत्व के साथ व्याप्ति नहीं बन सकती ।

वस्तु की क्षेत्रान्तरता जो प्रत्यक्ष में बाधा डाल सके वह भी अनुमान में बाधा डालने में नियतरूप में समर्थ नहीं है क्योंकि क्षेत्रान्तर में रहते हुए भी वह किसी ऐसे पदार्थ पर प्रभाव डाल सकती है जो हमारे प्रत्यक्ष का विषय होकर अनुमान का साधन बन जाय । जैसे देशान्तर में गये हुए आदमी को हम देख नहीं पाते परन्तु उसका पत्र पढ़ कर उसके हस्ताक्षर पहिचान कर उस की अवस्था का ज्ञान कर लेते हैं । यही बात अवर्तमान वस्तुओं के

विषय में भी है। वे दिख नहीं सकतीं पर अपना कोई ऐसा प्रभाव छोड़ सकती हैं जो अनुमान का साधन बन जाय जैसे बुझी हुई अग्नि ईंधन पर अपना प्रभाव छोड़ जाती है।

इसका मतलब यह है कि प्रत्यक्षत्व की योग्यता के जो कारण (स्थूलत्व आदि) हैं उनके न होने पर भी अनुमान की योग्यता के कारण रह सकते हैं तब यह नियम कैसे बनाया जा सकता है कि प्रत्यक्षत्व के अभाव में अनुमेयत्व नहीं हो सकता। इस प्रकार जब इन दोनों की व्याप्ति ही नहीं बनती तब यह अनुमान व्यर्थ है।

प्रत्यक्ष के जो रूप हमें उपलब्ध हैं उन्हीं के आधार पर किसी तरह की व्याप्ति बनाई जा सकती है व्याप्ति के लिये निश्चित साध्यसाधन चाहिये। जितने प्रकार के प्रत्यक्ष हमें उपलब्ध हैं उन के साथ अनुमेयत्व की व्याप्ति तो बनती नहीं, रहा कोई कल्पित अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष वह तो उपलब्ध ही नहीं है कि वह व्याप्ति बनाने में सहायक हो सके, वह तो व्याप्ति बनाने के बाद साध्य बन सकता है। जो अनुमेयत्व से प्रत्यक्षत्व की व्याप्ति सिद्ध करना चाहता है उसे सिद्ध करना चाहिये कि आजतक हमें जितने अनुमान हुए हैं वे हमारे प्रत्यक्ष योग्य विषय में हुए हैं पर उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ऐसी बात नहीं होती।

सर्वज्ञसिद्धि के लिये उपस्थित किये गये इस अनुमान की एक अन्धेरशाही यह है कि जो धर्म प्रत्यक्षत्व के बाधक हैं उन्हीं धर्मवाले पदार्थों में यह प्रत्यक्षत्व सिद्ध करना चाहता है। जैसे

कोई अनुमान बनावे कि सब ठंडे पदार्थ अग्निरूप हैं क्योंकि स्पर्शवान हैं जो स्पर्शवान हैं वे अग्निरूप हैं जैसे अंगार आदि। कोई पानी बर्फ आदि में व्यभिचार बतावे तो उन्हें भी अग्निरूप मानकर पक्षान्तर्गत कर लिया जाय। शीत स्पर्श अग्निरूपता का विरोधी है उसीको अग्निरूप सिद्ध करना जैसे अंधेर है उसी प्रकार सूक्ष्मता अन्तरितता दूरार्थता प्रत्यक्षत्व के विरुद्ध हैं उन्हीं को प्रत्यक्ष सिद्ध करना अंधेर ही है। अरे भाई, कोई चीज अप्रत्यक्ष होती इसीलिये है कि वह सूक्ष्म है अन्तरित है या दूर है। अप्रत्यक्षता के जो कारण हैं उन्हीं में प्रत्यक्षता सिद्ध करने का प्रयत्न करना दुःसाहस ही है।

इस बात को अनुमान के रूप में यों कह सकते हैं—सूक्ष्म अन्तरित और दूर पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं हैं क्योंकि इन्द्रियों के साथ उनका योग्य सम्बन्ध नहीं होपाता। जिनका इन्द्रियों के साथ योग्य सम्बन्ध नहीं है उनका प्रत्यक्ष नहीं होता जैसे दीवार आदि की ओट में रक्खी हुई चीज का चाक्षुष प्रत्यक्ष। जिनका प्रत्यक्ष होता है उनका इन्द्रियों के साथ योग्य सम्बन्ध अवश्य होता है जैसे सामने के मकान वृक्ष आदि।

प्रश्न—आप का यह आक्षेप इन्द्रिय प्रत्यक्ष को लेकर है पर अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष को मान लेने पर यह आपत्ति नहीं रहती।

उत्तर—अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष की अन्धश्रद्धा पूर्ण कल्पना को कोई सच्चा तार्किक कैसे मान सकता है अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष तो तब सिद्ध हो जब सूक्ष्म अन्तरित दूरार्थों की प्रत्यक्षता सिद्ध हो। अगर

सूक्ष्मादि पदार्थों की प्रत्यक्षता सिद्ध करने के लिये अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष मानना पड़े तो अन्योन्याश्रय होने से दोनों ही असिद्ध रहेंगे।

यहां व्याप्ति ग्रहण करने के लिये इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही उपयोगी है अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष तो स्वयं असिद्ध और अन्धश्रद्धागम्य है वह व्याप्ति ग्रहण क्या करायगा ?

प्रश्न--मन से तो दूर दूर के पदार्थ जान लिये जाते हैं। मनको अर्थ के साथ योग्य सम्बन्ध की ज़रूरत नहीं रहती।

उत्तर--मनका काम बाहिरी पदार्थों का प्रत्यक्ष करना नहीं है उसका काम इन्द्रियों के काम में सहायता पहुँचाना और उनके गृहीत विषय पर विचार करना है। सूक्ष्म अन्तरित और दूर पदार्थों पर वह विचार करता है वह प्रत्यक्ष नहीं है। अगर स्वसंवेदन को मानस प्रत्यक्ष माना जाय तो उसके साथ योग्य सम्बन्ध रहता ही है।

इस प्रकार हर तरह से अनुमेयत्व और प्रत्यक्षत्व की व्याप्ति नहीं बनती।

सर्वज्ञत्व साधक उस अनुमान में एक आपत्ति यह भी है कि अनुमेयत्व तो है हमारी अपेक्षा और प्रत्यक्षत्व है अन्तरित और दूर प्राणियों की अपेक्षा। इससे सर्वज्ञता की सिद्धि कैसे होगी ?

सूक्ष्म को तो कोई प्रत्यक्ष कर नहीं सकता क्योंकि वह स्वभाव से विप्रकर्षी है। उसका जैसे आज प्रत्यक्ष नहीं हो सकता वैसे पहिले भी नहीं हो सकता था क्योंकि स्वभाव तो सदा मौजूद रहता है। श्री अकलंक श्री विद्यानन्द आदि आचार्यों ने भी सूक्ष्म

को स्वभाव विप्रकर्षी माना है (सूक्ष्माः स्वभावविप्रकर्षिणो ऽ र्थाः परमाण्वादयः (अष्टसहस्री) । रहे अन्तरित और दूर पदार्थ सो, वे अन्तरित और दूर प्राणियों से प्रत्यक्ष हो सकते हैं। इस प्रकार हमारी अपेक्षा से तो रही अनुमेयता और अन्तरित और दूर प्राणियों की अपेक्षा रही प्रत्यक्षता इससे सर्वज्ञता की सिद्धि में क्या लाभ हुआ ? क्योंकि सर्वज्ञता के द्वारा तो एक जगह और एक समय में सब का प्रत्यक्ष कराना है।

प्रश्न--पदार्थ में सामान्यतः प्रत्यक्षता सिद्ध होने पर विशेष रूप में प्रत्यक्षता सिद्ध हो जायगी। जिसका एक आदमी प्रत्यक्ष कर सकता है उसको दूसरा भी कर सकता है क्योंकि सब आत्मा समान हैं।

उत्तर--हमारे दादा आदि जितना देख सकते थे उतना ही हम देख सकते हैं आँख की शक्ति दोनों की बराबर है पर वे अपने जमाने में जो दृश्य देख गये वे हमें नहीं दिखते और जो हमें दिख रहे हैं वे उन्हें भी नहीं दिखते थे, इस प्रकार समान ज्ञान होने पर भी एक दूसरे का विषय नहीं देख पाते। दो आदमी हैं परीक्षा द्वारा यह जान लिया गया कि दोनों की आँखें एक बराबर शक्ति रखती हैं। एक बम्बई गया दूसरा कलकत्ता। अब आँखों की शक्ति बराबर होने पर भी जो दृश्य बम्बई वाला देखता है वह कलकत्ते वाला नहीं देखता जो कलकत्ते वाला देखता है वह बम्बई वाला नहीं देखता। इस प्रकार ज्ञान की बराबरी के साथ विषय की एकता का कोई सम्बन्ध नहीं है 'अनन्त का प्रत्यक्ष असम्भव' इस

शीर्षक में भी इसका स्पष्टीकरण किया गया है। इसलिये प्रत्यक्षता सिद्ध होने पर भी उससे सर्वज्ञता सिद्ध नहीं हो सकती।

खैर, प्रत्यक्षत्व और अनुमेयत्व की व्याप्ति के विषय में सब बातें अलग भी करदी जाँय तो भी सर्वज्ञत्व साधक उपर्युक्त अनुमान निरर्थक ही है क्योंकि समस्त पदार्थ अनुमान के विषय नहीं हैं। जैसे कोई पुद्गल पिंड है उसके विषय में हम इतना तो जान सकते हैं कि इसमें असंख्य (या जैनियों के शब्दों में अनंत) अणु हैं। इस प्रकार पिंड का असंख्य-प्रदेशित्व नामक एक धर्म जान लिया किन्तु प्रत्येक प्रदेश को हम अनुमान से भी नहीं जान सकते त्रिकाल त्रिलोक के प्राणियों के अनुमान भी इकट्ठे हो जाँय तो उन असंख्य प्रदेशों का अनुमान नहीं कर सकेंगे। यह बात तो तब हो सकती है कि हम प्रत्येक परमाणु के कार्य आदि का अलग अलग प्रत्यक्ष कर सकें और उसे साधन बना कर उस अणुको अनुमेय बनावें। सूक्ष्मादि पदार्थों में वे ही अनुमेय हो सकते हैं जिनके कार्यादि इतने स्थूल हों जिन्हें प्रत्यक्ष से जाना जा सके बाकी अनुमेय नहीं हो सकते। इस प्रकार सब पदार्थ जब अनुमेय नहीं हैं तब प्रत्यक्षत्व-सिद्धि कैसे होगी।

प्रश्न--सब अनेकान्तात्मक हैं क्योंकि सब सत् स्वरूप हैं इस अनुमान के द्वारा तो जगत के सब पदार्थ अनुमेय हो सकते हैं।

उत्तर--इससे जगत का अनेकान्तात्मकत्व नामक एक धर्म अनुमेय हो सकता है सारा जगत् नहीं।

इस प्रकार न तो समस्त जगत् में अनुमेयत्व है न समस्त सूक्ष्म अन्तरित और दूर पदार्थों में अनुमेयत्व है तब उनमें प्रत्यक्षत्व कैसे सिद्ध हो सकता है जिससे सर्वज्ञ सिद्ध हो।

तात्पर्य यह है कि पहिले तो प्रत्यक्षत्व और अनुमेयत्व की व्याप्ति ही नहीं है, उधर सूक्ष्मत्वादि धर्म प्रत्यक्षत्व के बाधक हैं, अगर प्रत्यक्षत्व सिद्ध भी हो जाय तो यह सिद्ध नहीं होता कि प्रत्यक्ष की योग्यता से वे किसीके प्रत्यक्ष अवश्य होंगे। अगर प्रत्यक्ष होना भी मान लिया जाय तो किसी एक आत्मा के प्रत्यक्ष हो सकेंगे जिसे सर्वज्ञ कहा जायगा, यह सिद्ध नहीं होता। इधर सब सूक्ष्मादि पदार्थ अनुमेय नहीं हैं इस प्रकार सर्वज्ञसिद्धि का प्रयत्न करनेवाला यह अनुमान बिलकुल व्यर्थ है।

दूसरा युक्त्याभास.

प्रश्न--कोई प्राणी थोड़ा ज्ञानी होता है, कोई अधिक। इस प्रकार ज्ञानकी तरतमता पाई जाती है। जहाँ तरतमता है वहाँ कोई सब से छोटा और कोई सब से बड़ा अवश्य है। जिस प्रकार परमाण, परमाणु में सब से छोटा और आकाश में सब से बड़ा (अनन्त) है, उसी प्रकार कोई सब से बड़ा ज्ञानी भी होगा; वही अनन्त ज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञ है।

उत्तर--जहाँ तरतमता है, वहाँ कोई सब से बड़ा नियम नहीं है। किसी का शरीर छोटा, किसी का बड़ा होता है, इस प्रकार की अवगाहनामें तरतमता होने पर भी किसी का शरीर अनन्त नहीं है। जैन शास्त्रों में शरीर की अवगाहना ज्यादः से ज्यादः

एक हजार योजन की बतलाई है। कोई एक ग्रास भोजन करता है, कोई दो ग्रास, कोई दस बीस तीस आदि, इस प्रकार भोजन में तरतमता होने पर भी कोई अनन्त ग्रास नहीं खासकता। कोई एक हाथ कूदता है, कोई दो हाथ; परन्तु कोई अनन्त हाथ नहीं कूद सकता। उमर में तरतमता होने पर भी कोई अनन्त वर्ष की उमरका नहीं होता। मतलब यह कि तरतमता तो सैकड़ों वस्तुओं में पाई जाती है परन्तु उनकी सर्वोत्कृष्टता का अनन्त पर पहुँचने का नियम नहीं है।

प्रश्न--जो तरतमताएँ परनिमित्तक हैं वे अन्त सहित हैं, जैसे कूदने की, खाने की, शरीर की आदि। स्वाभाविक तरतमता अनन्त होती है। यद्यपि जब तक तरतमता है तब तक स्वाभाविकता नहीं आ सकती, क्योंकि न्यूनाधिकता [तरतमता] का कारण कोई परवस्तु ही होती है। फिर भी एक तो ऐसी तरतमता होती है जो अपने अन्तिम रूपमें भी परानिमित्तक बनी रहती है जैसे शरीर आदि की। यह अन्त सहित होती है। और एक ऐसी तरतमता होती है जो अन्तिम रूपमें परनिमित्तक नहीं रहती जैसे ज्ञान की। यह अनन्त होती है।

उत्तर--यह नियम भी अनुभव के विरुद्ध है; इतना ही नहीं किन्तु जैन शास्त्रों के भी विरुद्ध है। जीवकी अवगाहना मुक्तावस्था में परनिमित्तक नहीं रहती, फिर भी वह अनन्त नहीं है। किसी तरह अगर वह पूर्ण अवस्था में भी पहुँच जाय तो भी वह लोकाकाश से अधिक हो सकती। दूसरी बात यह है कि जैन शास्त्रों के

अनुसार परमिमित्तक तरतमता भी अनन्त होती हैं, जैसे पुद्गल स्कंधों में न्यूनाधिक परमाणु रहते हैं, यह तरतमता परनिमित्तक है फिर भी इनमें अनन्त परमाणु पाये जाते हैं। [मैं पुद्गलस्कंधों में अनन्त परमाणु नहीं मानता, असंख्य मानता हूँ। इस विषयका विवेचन आगामी किसी अध्याय में होगा। यहाँ पर तो वर्तमान जैन शास्त्रों की इस मान्यता को इसलिये उद्धृत किया है जिससे इस मान्यतावालों का समाधान हो।] इस प्रकार परनिमित्तक स्वनिमित्तक तरतमताओं का सान्त-अनन्त के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसलिये ज्ञानमें तरतमता होने से कोई ज्ञानी अनन्तज्ञानी या सर्वज्ञ होगा, यह कदापि नहीं कहा जा सकता।

इस विषय में एक दूसरी दृष्टिसे भी विचार करना चाहिये। जब ज्ञान में तरतमता है तब कोई सब से बड़ी ज्ञानशक्तिवाला अवश्य होगा। परन्तु सब से बड़ी ज्ञानशक्तिवाला छोटी ज्ञानशक्ति वाले के विषय को अवश्य जाने, यह नहीं हो सकता। इसके लिये एक उदाहरण लीजिये। एक ऐसा विद्वान है जो संस्कृत, प्राकृत बंगाली, हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के साथ न्याय, व्याकरण, काव्य, सिद्धान्त, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि विषयों का पारंगत विद्वान है, परन्तु वह मराठी भाषा बिलकुल नहीं जानता। अब एक किसी ऐसी स्त्रीको लीजिये जो बिलकुल अशिक्षित है किन्तु मराठी भाषा को जानती है। अब इन दोनों में ज्यादः ज्ञानशक्ति किसकी है? दोनों के ज्ञान में तरतमता तो अवश्य है। अगर यह कहा जाय कि उस स्त्री का ज्ञान अधिक है, तो वह संस्कृत प्राकृत से अनभिज्ञ क्यों है? इसलिये कुतर्क छोड़कर उसी विद्वानको अधिक ज्ञानी कहा

जायगा। परन्तु वह विद्वान भी उस स्त्रीके समान मराठी भाषा नहीं जानता। यदि कहा जाय कि दोनों में तरतमता नहीं है, तब तो जगत् के किसी भी प्राणी में तरतमता न बतायी जा सकेगी फिर तरतमता से जो सर्वोत्कृष्टता का अनुमान किया जाता है वह नहीं हो सकेगा। इसलिये यही मानना चाहिये कि दोनों में वह विद्वान अधिक ज्ञानशक्ति वाला है, फिर भी वह उस स्त्री के समान मराठी भाषा नहीं जानता। इसी प्रकार जो सब से अधिक ज्ञानी होगा, वह अपने से अल्पज्ञानवाले सब प्राणियों के ज्ञातव्य विषय को नहीं जान सकता; फिर भी वह सब से बड़ा ज्ञानी कहला सकता है।

कल्पित सर्वज्ञतावादियों की भूल यह है कि वे यह समझते हैं कि जो सबसे बड़ा ज्ञानी होगा, वह जो कुछ हम जानते है वह भी जानेगा, जो तुम जानते हो वह भी जानेगा, जो और लोग जानते हैं वह भी जानेगा, इस प्रकार सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी को वे सब बातें जानना चाहिये जिन्हें कोई भी जानता हो, जानता था, जानेगा। उनका यह भ्रम उपर्युक्त (पारंगत विद्वान और अशिक्षित स्त्री के) उदाहरण से निकल जायगा। फिर भी स्पष्टता के लिये कुछ और लिखना अनुचित न होगा।

ज्ञान में जब तरतमता है, तब हम ज्ञानके अंशों की कल्पना करलेते हैं। किसी को एक अंश प्राप्त है, किसी को दो, किसी को पाँच, इसी प्रकार दस, बीस, तीस आदि। जो सब से बड़ा ज्ञानी है, उसके १०० अंश हैं। मानलो १०० अंश से अधिक ज्ञान किसी को नहीं होता। अब एक ऐसे मनुष्य को लीजिये जिसके पास ज्ञान के पाँच अंश हैं। उसने एक अंश धर्मविद्यामें लगाया है, एक अंश

व्यापार विद्यामें, एक अंश कला आदि की जानकारी में, एक अंश काव्य में, एक अंश अन्य प्रकीर्णक बातों में । अब एक दूसरा ज्ञानी है, उसके भी पाँचअंश वाला ज्ञान है । परन्तु उसने अपने अंशों को किसी दूसरे ही काममें लगाया है । इसी प्रकार कोई तीसरा ज्ञानी है जिसने कि अपने ज्ञानांशों का उपयोग किसी तीसरे ही क्षेत्रमें लगाया है । इस प्रकार पाँच अंशवाले ज्ञानका उपयोग सैकड़ों तरह से हो सकता है । अब एक ऐसे मनुष्य को लीजिये जिसके छः अंशवाला ज्ञान है । उसका ज्ञान पाँच अंश वाले से अधिक अवश्य है परन्तु जितने पाँचअंश ज्ञानवाले हैं उन सबसे अधिक नहीं है, क्योंकि पाँच अंशवाले सभी ज्ञानियों के ज्ञानको एकत्रित करो तो वह सैकड़ों अंशका हो जायगा, और १०० अंश-वाला ज्ञानी भी उन सबको न जान पायगा । यह भी हो सकता है कि पाँच अंशवाले का कोई ज्ञानांश छः अंशवाले के न हो फिर भी छः अंशवाला बड़ा ज्ञानी है क्योंकि पाँच अंश वाले के अगर कोई एक अंश नया है तो छः अंशवाले के दो अंश नये हैं । यही उसकी महत्ता है । इसी प्रकार सब से बड़ा ज्ञानी (१०० अंशवाला) भी पाँचअंशवाले की किसी बात से अपरिचित रह सकता है । परन्तु १०० अंश वाला अगर एक अंश से अपरिचित रहेगा तो पाँच अंशवाला ९६ अंशों से अपरिचित रहेगा । यही १०० अंशवाले की महत्ता है । इस प्रकार सब से बड़ा ज्ञानी होकर के भी कोई वर्तमान मान्यता का कल्पित सर्वज्ञ न बन सकेगा ।

स्पष्टता के लिये एक उदाहरण और देखिये । कल्पना कीजिये कि कोई करोड़पति सब से बड़ा धनवान है । उस नगर में बाकी

लोगों में कोई ९० लाखका धनी है, कोई अस्सी लाख, इसी प्रकार ५० लाख, १० लाख, १ लाख, आदि के श्रीमान हैं। यद्यपि यहाँ करोड़पति सब से बड़ा धनी है फिर भी अगर नगर के सब के सब धनियों की सम्पत्ति एकत्रित की जाय तब वह धन उस धनी से बढ़ जायगा। साथ ही ऐसा भी हो सकता है कि पचास लाख के धनी के पास कोई ऐसी चीज़ हो जो करोड़पति के पास न हो परन्तु करोड़पति के पास पचास लाख के धनी की अपेक्षा अन्य वस्तुएँ अधिक होंगीं। इसी प्रकार हर एक प्रकार की तरतमता को उदाहरण रूपमें पेश किया जा सकता है।

इस प्रकार तरतमता से जो सर्वोत्कृष्ट ज्ञान सिद्ध होता है वह कल्पित सर्वज्ञता का स्थान नहीं ले सकता। अगर वह अनन्त-ज्ञानरूप मान लिया जाय तब भी दो बातें विचारणीय रहती हैं।

प्रश्न-तरतमता से सिद्ध होने वाले सब से बड़े की व्याप्ति यदि अनंतके साथ नहीं है तो सान्त के साथ भी नहीं है ऐसी हालत में ज्ञान को सबसे बड़ा मानकर भी यदि इस की व्याप्ति के आधार से उसको अनन्त सिद्ध नहीं किया जा सकता तो इस ही के आधार से उस की अनन्तता का निराकरण भी नहीं किया जा सकता।

उत्तर—अनन्तता के निराकरण के लिये तो काफी प्रमाण दिये जा चुके हैं इसका यहां प्रकरण नहीं है। यहां तो यह बताना है कि सर्वज्ञसिद्धि के लिये तरतमतावाली युक्ति युक्त्याभास है। सो युक्त्याभासता सिद्ध है क्योंकि तरतमता अनन्त के समान सान्त के साथ भी रहती है इस प्रकार यह अनैकान्तिक हेत्वाभास हो गया इसलिये इस युक्ति से भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता।

इतने वक्तव्य से इस युक्त्याभास की चर्चा पूरी हो जाती है। पर कुछ और भी विचारणीय बातें कह देना अनुचित न होगा।

जैन शास्त्रों को देखने से माळूम होता है कि ज्ञेय की अपेक्षा ज्ञान में अविभाग प्रतिच्छेदों की अधिक जरूरत है। जैन शास्त्रोंके मतानुसार ज्ञेय में जितने अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं ज्ञान में उससे अनन्तगुणें अविभागप्रतिच्छेद होते हैं। अविभाग प्रतिच्छेदों के विचार से यह बात माळूम होती है।

निगोद प्राणी का ज्ञान सबसे थोड़ा है पर सबसे थोड़े ज्ञान के लिये भी कितने अविभाग प्रतिच्छेदों की जरूरत है इसका वर्णन पढने योग्य है।

जीवराशि अनन्त है, उस राशि में जीवराशि का गुणा करो, उसमें फिर उस अनंत का गुणा करो, इस प्रकार उस जीव राशि में अनन्तवार अनन्त का गुणा करो अर्थात् वर्ग करो तब पुद्गल परमाणुओं की राशि आयगी। इस पुद्गल राशि में पुद्गल राशि का अनन्तवार वर्गरूप में गुणा करो तब कालके समय आयँगे, फिर उसमें अनन्त का वर्ग करो तब आकाश श्रेणी होगी उसका वर्ग करने पर आकाशप्रतर आयगा उसका अनन्तवार वर्ग करने पर धर्म अधर्म के अगुरुलघु गुण के अविभाग प्रतिच्छेद आयेंगे, उसमें अनंत वार वर्ग करने पर एक जीव के अगुरुलघुगुण के अविभाग प्रतिच्छेद आयेंगे उसमें अनन्तवार वर्ग करने पर सूक्ष्म निगोद के जघन्य ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद आयेंगे। (गोम्मटसार जीव कांड टीका पर्याप्ति प्ररूपणा)

वृक्षों को जितना ज्ञान है वह भी इतना महान है कि सूक्ष्म निगोदके जघन्य ज्ञान में अनन्तवार अनंत का गुणा किया जाय तब वृक्षों के ज्ञान का परिमाण बनेगा। कीट पतंगों के ज्ञान की महत्ता का तो पूछना ही क्या है। इससे उस निगोद प्राणी के ज्ञान की क्षुद्रता समझ सकते हैं कि वह कितने पदार्थों को जानता होगा।

इतने क्षुद्र ज्ञान में भी जब जीव पुद्गल काल आकाश आदि की राशि से अनन्तानन्त गुणे अविभाग प्रतिच्छेद हैं अर्थात् इतने अविभागप्रतिच्छेदों को रखकर भी जीव इतने थोड़े पदार्थों को जान पाता है तब केवलज्ञान सरीखी किसी सर्वोत्कृष्ट चीज को जानना हो तो उसके लिये कितने अविभाग प्रतिच्छेद चाहिये कम से कम केवल-ज्ञान से अधिक तो अवश्य चाहिये। इसका मतलब यह हुआ कि केवलज्ञान के द्वारा केवलज्ञान नहीं जाना जा सकता। तब प्रश्न होता है कि सर्वज्ञता कैसे रही क्योंकि केवलज्ञान दूसरों के केवल-ज्ञान को जान ही नहीं पाया।

अगर जैनशास्त्रों के अविभाग प्रतिच्छेदों के वर्णन को सत्य मान लिया जाय तब यह मानना ही पड़ेगा कि ज्ञेय की अपेक्षा ज्ञान में अविभाग प्रतिच्छेदों की संख्या बहुत चाहिये। इसलिये केवल ज्ञान दूसरे केवलियों से अज्ञात ही रहा और इतने अंशमें उनकी सर्वज्ञता छिन गई।

अगर यह कहा जाय कि किसी पदार्थ को जानने के लिये ज्ञान में उतने अविभाग प्रतिच्छेदों की जरूरत नहीं है जितने ज्ञेय में हैं। तब प्रश्न होता है कि निगोद जीव के इतने अविभाग प्रतिच्छेद क्यों बताये गये।

केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों का जो परिमाण बताया गया है उससे भी माल्हम होता है कि ज्ञेय की अपेक्षा ज्ञान में अविभागप्रतिच्छेद अधिक चाहिये। निगोद ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों में ही जब जीव पुद्गल और अनन्तकाल अनन्तक्षेत्र समागया तब केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों का क्या पूछना ? उससे अनन्तानन्त गुणा अनन्तानन्तबार करना पड़ता है।

इससे सिद्ध होता है कि केवलज्ञान दूसरे केवलज्ञान को नहीं जान सकता। अथवा ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदों का वर्णन ठीक नहीं है। यह सर्वज्ञता के विरोध एक शास्त्रीय बाधा भी है।

तीसरा युक्त्याभास

प्रश्न—अमुक दिन ग्रहण पड़ेगा तथा सूर्यचन्द्र आदि की गतियों का सूक्ष्मज्ञान बिना सर्वज्ञ के नहीं हो सकता। भविष्य की जो बातें शास्त्रों में लिखी हैं वे सच्ची साबित हो रही हैं। पंचम काल का भविष्य आज हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। अवसर्पिणी की रचना भी साफ़ माल्हम होती है। और भी बहुतसी बातें है जो हमें शास्त्र से ही माल्हम होती हैं। उनका कोई मूलप्रणेता अवश्य होगा जिसने उन बातों का ज्ञान शास्त्र से नहीं, अनुभव से किया होगा।

उत्तर—आज जो जगत् को ज्योतिषसम्बन्धी ज्ञान है वह किसी सर्वज्ञका बताया हुआ नहीं है किन्तु विद्वानों के हज़ारों वर्ष के निरीक्षण का फल है। तारा आदि की चालें आँखों से दिखाई देतीं हैं, उनके ज्ञान के लिये सर्वज्ञ की कोई ज़रूरत नहीं है। जो लोग जैनधर्म, जैनशास्त्र और जैन भूगोल नहीं मानते वे भी ग्रहण

आदि की बातें बता देते हैं और जितनी खोजको हम सर्वज्ञ बिना मानने को तैयार नहीं हैं उससे कई गुणी खोज आजकल के असर्वज्ञ वैज्ञानिक कर रहे हैं। ज्योतिष आदि की खोजसे सर्वज्ञ की कल्पना करना कूपमंडूकता की सूचक है।

चन्द्रग्रहण सूर्यग्रहण आदि के नियमों का ज्ञान सर्वज्ञतामूलक नहीं इसका एक प्रमाण यह भी है कि विश्वरचना के विषय में नाना मत होते हुए भी सभी ज्योतिष शास्त्र उनका समय बता देते हैं। जैन लोग दो सूर्य दो चन्द्र और चपटी पृथ्वी आदि मानकर ग्रहण बताते हैं दूसरे लोग एक सूर्य आदि इससे भिन्न भूगोल मानकर ग्रहण बताते हैं। आधुनिक ज्योतिषी पृथ्वी को गोल तथा तथा चल मानकर ग्रहण बताते हैं। इससे मालूम होता है कि इस ज्योतिष के मूल में सर्वज्ञ नहीं है।

ज्योतिष ज्ञान के विषय में आज का जमाना पुराने सर्वज्ञों से बहुत बढ़ा है, तारों का आकार प्रकार, उनसे आने वाले प्रकाश की गति उनकी दूरी उनकी किरणों की परीक्षा, उन किरणों से वहां के पदार्थों की स्थिति, धरातल के ऊपर ऊपर वायुमण्डल का पतला पतला होना नये नये ग्रहों की शोध आदि बहुत सी बातें हैं जिन से अच्छी तरह पता लग सकता है कि पुराने सर्वज्ञयुग से आज का असर्वज्ञ युग कितना बढ़ गया है। पुराने शास्त्रों की तुलना करने की यहां जरूरत नहीं है। पूर्वजों ने अपने समय में यथाशक्य बहुत किया हम उनके कृतज्ञ हैं पर इसीलिये उन्हें या उनमें से किसी को सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता है। हां, सर्वज्ञता का जो व्यावहारिक अर्थ है उसकी अपेक्षा वे सर्वज्ञ अवश्य थे।

खैर, यहां तो इतना ही कहना है कि चन्द्र आदि की गति को बहुत दिन तक ध्यान पूर्वक देखने से उस की घटती बढ़ती ग्रहण आदि के नियम का पता लग सकता है इसके लिये सर्वज्ञ मानने की जरूरत नहीं है।

प्रश्न--बड़े बड़े ज्योतिष शास्त्र के रचयिताओं ने ज्योतिष ज्ञान का मूलाधार सर्वज्ञ माना है अन्य अनेक दार्शनिक विद्वानों ने भी ज्योतिष ज्ञान का आधार सर्वज्ञ ज्ञान माना है सर्वज्ञ द्वारा ज्योतिष ज्ञान प्रतिपादन में आपत्ति भी नहीं, तब क्यों न ज्योतिष ज्ञानका आधार सर्वज्ञ माना जाय।

उत्तर--आज कल जो बड़े बड़े शास्त्र बने हैं उनमें सर्वज्ञ तो दूर आत्मा का भी पता ही है इस देश के पुराने ग्रंथकारों में अवश्य बहुत से ऐसे हुए हैं जिनने ज्योतिष ज्ञान आधार सर्वज्ञ ही नहीं, ईश्वर माना है तब इसीलिये क्या शास्त्रोंको ईश्वर-प्रणीत मानले ? यह तो इस देशका दुर्भाग्य है कि ज्योतिष सरीखे वैज्ञानिक क्षेत्र में काम करने वाले भी स्वरुचिविरचितत्व से डरते थे इसलिये पद पद पर सर्वज्ञ की दुहाई दिया करते थे। सर्वज्ञ द्वारा ज्योतिष के प्रतिपादन में आपत्ति भले ही न हो पर सर्वज्ञ के सिद्ध होने में ही बड़ी आपत्ति है।

भविष्य की बातें जो शास्त्र में लिखी हैं वह सिर्फ लेखकों का मायाजाल है। शास्त्रों में ऐसा कोई प्रामाणिक भविष्य नहीं मिलता जो शास्त्ररचनाके बाद का हो। शास्त्रों में महावीर या गौतम आदि के मुख से कुंदकुंद हेमचन्द्र आदि का भविष्य कहला दिया गया है; परन्तु यह सब उन्हीं ग्रंथों में है जो इन लोगों के बाद

बने है। ऐसे भविष्य सभी धर्मोंके ग्रन्थों में लिखे गये हैं। इनसे कोई सर्वज्ञ तो क्या, अच्छा पंडित भी साबित नहीं होता।

भविष्य की कुछ सामान्य बातें भी हैं परन्तु वे सामान्य बुद्धि से कही जा सकती हैं। जैसे--एक दिन प्रलय होगा, आगे लोग निम्न श्रेणी के होते जाँयगे आदि। ऐसी बातें प्रायः सभी धर्मों में कही गई हैं। प्रलय की बात लीजिये-साधारण लोग भी समझते हैं कि जो चीज कभी बनती है वह कभी नष्ट भी होती है; यह जगत् एक दिन भगवानने बनाया या प्राकृतिक रूप में पैदा हुआ तो इस का एक दिन नाश भी अवश्य होना चाहिये। बस, इससे लोग प्रलय मानने लगे। परन्तु जैनदर्शन ईश्वर को नहीं मानता इसलिये उसकी दृष्टि में सृष्टि अनादि है, इसीलिये उसका अन्त भी नहीं माना जा सकता, तब प्रलय कैसा? लेकिन प्रलय की वह प्रचलित मान्यता का समन्वय तो करना चाहिये, इसलिये एक मध्यममार्ग निकाला गया और कहा गया कि जगत् का प्रलय तो असम्भव है किन्तु प्रलय की बात बिलकुल मिथ्या भी नहीं है, भविष्य में खंड-प्रलय होगा जो कि भरतक्षेत्र के आर्यक्षेत्र में ही रहेगा। मनुष्य का यह स्वभाव है कि उसकी बात को बिलकुल काट दो या किसी बात का उत्तर बिलकुल नास्तिकता से दो तो वह विश्वास नहीं करता; किन्तु उसकी बातका समन्वय करते हुए उत्तर दो या उसकी बातका कुछ ऐसा मूल बतलादो जिसका बढ़ा हुआ रूप उसकी वर्तमान मान्यता हो तो वह विश्वास कर लेता है। जैनियों का इतिहास भूगोल आदि का विषय मनोविज्ञान की इसी भूमिका पर स्थिर है। इससे जैन शास्त्रकारों की चतुरता और मनुष्य प्रकृति-ज्ञता साबित होती है, न कि सर्वज्ञता।

नहीं, शास्त्रकी प्रत्येक शाखामें आज अद्भुत गम्भीरता आगई है और अनेक नये शास्त्र बन गये हैं। साहित्यकी कला आदिका कई गुणा विकास हुआ है। विद्याप्रचारके अगणित साधन प्राप्त हुए हैं। इन सब बातोंको देखकर कौन कह सकता है कि आज अवसर्पिणी है। हाँ, अन्धश्रद्धालु अहंकारग्रस्त जीवों की बात दूसरी है। वे भूतकालके अप्रामाणिक और अविश्वसनीय स्वप्नोंके गीत गाकर जो चाहे कह सकते हैं।

जब यंत्रोंका विकास और प्रचार हुआ तब शरीरसे काम कम लिया जाने लगा। ऐसी अवस्थामें शरीर कमजोर हो यह स्वाभाविक है, परन्तु इसीसे अवसर्पिणी नहीं कही जासकती; क्योंकि दूसरी दिशामें बहुत अधिक उत्सर्पिणी दिखाई देती है।

इस अवसर्पिणीमें उत्सर्पिणी होने लगी है इस बातको जैनी भी स्वीकार करते हैं, किन्तु अवसर्पिणीपन कायम रखनेके लिये कहते हैं कि पंचमकालमें आरेकी तरह अवसर्पिणी होगी; जिस प्रकार आरे के एक तरफसे दूसरी तरफका भाग नीचा होता है किन्तु बीच बीचमें ऊँचानीचा होता रहता है उसी प्रकार पंचमकालमें उन्नति और अवनति होती जायगी। परन्तु आजकलकी उन्नति तो पंचमकाल के प्रारम्भसे भी अधिक है, बीचकी यह ऊँचाई कैसी? कहनेकी जरूरत नहीं कि यह लीपापोती है।

शंका– आजकल भौतिक उन्नति भलेही हुई हो परन्तु धार्मिक उन्नति तो नहीं हुई; इसलिये अवसर्पिणी ही कहना चाहिये।

उत्तर– तब तो प्रथम, द्वितीय, तृतीय कालकी अपेक्षा चौथे कालको ज्यादः उन्नत मानना चाहिये क्योंकि पहिले तीर्थङ्कर नहीं

थे, जैनधर्म आदि कोई धर्म नहीं था। इससे मालूम होता है कि जैनशास्त्रों में उत्सर्पिणी का विभाग धर्मकी अपेक्षा नहीं था अन्य विषयों में तो आज अवसर्पिणी नहीं कही जा सकती।

इस विषय में भविष्य बोलनेवालों को बड़ा सुभीता है। अगर उत्सर्पिणी कहदें तो वह किसी दृष्टि से सिद्ध की जा सकती है और अवसर्पिणी कहदें तो वह भी किसी दृष्टि से सिद्ध की जा सकती है। और जिस दृष्टि से अपनी बात सिद्ध हुई उस पर जोर देना तो अपने हाथ में है।

यदि थोड़ी देर के लिये दृष्टिभेद की बात को गौण कर दिया जाय तो भी यह कहने में कोई कठिनाई नहीं है कि मनुष्य समाज विकसित होता जाता है या पतित। जीवन के पच्चीस पचास वर्ष तक जिसने समाजका अनुभव किया है वह भी बता सकता है कि समाज उन्नतिशील है या अवनतिशील, उसी पर से भविष्य और भूत का सामान्य अनुमान भी किया जा सकता है। इस साधारण ज्ञान के लिये सर्वज्ञ मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

शास्त्रों की भविष्यकाल की बातों को पढ़कर हँसी आये बिना नहीं रहती। उसमें छोटे छोटे राजाओं का और छोटी छोटी घटनाओं का वर्णन तो मिलता है परन्तु बड़ी बड़ी घटनाओं का वर्णन नहीं मिलता। यूरोप का महायुद्ध कितना विशाल था, जिस की बराबरी दुनियाँ का कोई पुराना युद्ध नहीं कर सकता, मुगल साम्राज्य और बृटिश साम्राज्य आदि कितने महान हुए, इनका कुछ उल्लेख नहीं है। क्या इससे यह मालूम नहीं होता कि ग्रन्थकारों को अपने

पास में जो कुछ दिखाई दिया उसी को म. महावीर आदि के मुख से कहलाकर भविष्यज्ञता का परिचय दिया गया है। अगर आज कल की मान्यता के अनुसार कोई सर्वज्ञ होता तो उसने इस वैज्ञानिक युग की ऐसी सूक्ष्म बातों का इतना अच्छा भविष्य कहा होता कि सुनने वालों को सर्वज्ञता अवश्य मानना पड़ती।

शास्त्रों में जहाँ जहाँ जो जो भविष्य कहा गया है उस सबको सामने रखकर विचार किया जाय तो साफ मालूम होगा कि उसमें सर्वज्ञतासाधक तो एक भी बात नहीं है, साथ ही असाधारण पांडित्य की साधक बातें भी कम हैं। महात्मा महावीर के साथ उनका सम्बन्ध नहीं के बराबर है। यहां मैंने दो एक बातों की आलोचना की है परन्तु अन्य सब बातों की आलोचना भी इसी तरह की जा सकती है। इसलिये भविष्य कथनों को तथा दूसरे कुछ कथनों को सर्वज्ञसिद्धि के लिये उपस्थित करना अनुचित और निष्फल है। इसके अतिरिक्त भूगोल, ज्योतिष आदि की गड़बड़ी और वर्तमान वैज्ञानिक शोधके सामने उसका न टिक सकना तो उस विषय की प्रामाणिकता को बिलकुल निर्मूल कर देता है। वास्तविक सर्वज्ञता क्या है और किसलिये है इसकी हमें खोज करना चाहिये, कोरी कल्पनाओं के जाल में पड़कर असत्य के पीछे रहे सहे सत्य की हत्या न करना चाहिये। अपनी मान्यता की अन्धश्रद्धा से जिन्दगी भर उसे सत्य सिद्ध करने की कोशिश करते रहना या उसके सत्य सिद्ध होने की बाट देखते रहना आत्मोद्धार और सत्यप्राप्तिके मार्ग को बंद कर देना है।

न्यायशास्त्रों में सर्वज्ञसिद्धि के लिये लंबे विवेचन किये गये हैं परन्तु उनमें सारतत्त्व कुछ नहीं है। खास खास युक्तियों की आलोचना ऊपर की गई है। जो कुछ बातें रह गई हैं उनकी आलोचना कठिन नहीं है। इन आलोचनाओं के पढ़ने से वे आलोचनाएँ अपनेआप कीजासकेंगी।

अन्य युक्त्याभास

कुछ ऐसे युक्त्याभास भी हैं जिनकी युक्त्याभासता सिद्ध करना और भी सरल है। साधारण लोग इन का प्रयोग किया करते हैं, कुछ प्राचीन शास्त्रों में भी पाये जाते हैं, कुछ जैन मन्दिरों में चर्चा के समय सुनाई देते हैं। यद्यपि इनके उल्लेख की विशेष आवश्यकता नहीं है फिर भी इसलिये इनका उल्लेख यहाँ किया जाता है कि साधारण समझवाले को इनका उत्तर भी नहीं सूझता। उनको कुछ सुभीता हो इसलिये इन युक्त्याभासों को यहाँ शंका के रूप में रक्खा जाता है।

१ **शंका**—तीन काल तीन लोक में सर्वज्ञ नहीं है तो क्या तुमने तीन काल तीन लोक देखा है? यदि देखा है तो तुम्हीं सर्वज्ञ हो, यदि नहीं देखा है तो उसका निषेध कैसे करते हो?

समाधान—हम तीन काल तीन लोक में देखकर सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं कर सकते। वैसे भी सर्वज्ञ दिखने की चीज नहीं है। वह अनुमान का विषय है। अनुमान से जब सर्वज्ञता खंडित हो जाती है जब उसकी वस्तु-स्वभावता असम्भव होजाती है, तब उसका अभाव सब जगह के लिये मानना पड़ता है।

२ शंका--सर्वज्ञ नहीं है असत् का प्रत्यक्ष असम्भव होनेसे, इत्यादि अनुमानों में हेतु का आधारभूत सर्वज्ञ सिद्ध होगया जिसमें हेतु रहता है, यदि हेतु पक्ष में नहीं है तो इस अनुमान से सर्वज्ञाभाव सिद्ध न हो सका।

समाधान--केवल अस्तित्व या नास्तित्व साध्य नहीं होता, किसी वस्तु का अस्तित्व या नास्तित्व साध्य हुआ करता है और उसका आधार रूप पक्ष कोई क्षेत्र या द्रव्य होता है। जैसे खर-विषाण नहीं है, यहाँ खर पक्ष है विषाण का नास्तित्व साध्य है, अथवा जगत पक्ष है खरविषाण का नास्तित्व साध्य है। सर्वज्ञता-बाधक अनुमान में आत्मा पक्ष है सर्वज्ञताभाव साध्य है। हेतु आत्मा रूप पक्ष में रहता है। अथवा जगत को पक्ष बना सकते हैं। इस-प्रकार हेतु की पक्ष में वृत्ति अवृत्ति को लेकर इस अनुमान का खण्डन नहीं किया जा सकता।

३ शंका--कोई आत्मा सकल पदार्थों का प्रत्यक्ष करता है क्योंकि सकल पदार्थों को ग्रहण करना आत्मा का स्वभाव है और आत्मा के प्रतिबन्धक कारण नष्ट होते हैं।

समाधान--हेतु सिद्ध हो तो साध्यसिद्धि के लिये उपयोगी हो सकता है, यहां सकल पदार्थों को ग्रहण करना आत्मा का स्वभाव ही असिद्ध है। सकल तो क्या वह अनन्त पदार्थ को भी ग्रहण नहीं कर सकता।

यह बात पहिले अच्छी तरह बतलाई जा चुकी है।

४ शंका--किसी पदार्थ का अभाव ज्ञान मानसिक ज्ञान है, यह तब ही होसकता है जब उस पदार्थ का ज्ञान हो जहां कि

किसी भी पदार्थ का अभाव सिद्ध करना है, साथ ही उस पदार्थ का स्मरण होना भी जरूरी है जिसका अभाव करना है। सर्वज्ञ का अभाव कालत्रय और लोकत्रय में करना है इसलिये कालत्रय और लोकत्रय का जानना जरूरी है साथ ही सर्वज्ञ का स्मरण करना भी जरूरी है, इसप्रकार की परिस्थिति बिना सर्वज्ञ के हो नहीं सकती अतः यदि अभाव प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध किया जायगा तो वह अभाव के स्थानपर उसका भाव ही प्रमाणित करेगा।

समाधान-खरविषाण आदि का अभाव कालत्रय और लोकत्रय के लिये किया जाता है। जिसप्रकार यहाँ कालत्रय और लोकत्रय का साधारण ज्ञान होता है उसीप्रकार सर्वज्ञके विषय में भी हो सकता है। जैसे खरविषाण के अभावज्ञान में खरविषाण का स्मरण होता है उसीप्रकार सर्वज्ञ के अभाव ज्ञान में सर्वज्ञ का हो सकता है।

जहाँ प्रत्यक्ष अनुमान आदि किसी प्रमाण से किसी चीज की सत्ता सिद्ध नहीं होती, वहाँ अभाव प्रमाण से उस वस्तु की अभावसिद्धि होती है। जब सर्वज्ञता प्रत्यक्ष का विषय नहीं और अनुमान आदि से भी सिद्ध नहीं हो सकती तब उसका अभाव मान लिया जाता है।

सर्व शब्द का अर्थ हमें मालूम है, ज्ञ का भी मालूम है, इन दोनों अर्थों के आधार से हम सर्वज्ञ शब्द का अर्थ समझ सकते हैं। अथवा सर्वज्ञवादी सर्वज्ञ का जैसा स्वरूप मानता है उसे समझकर हम सर्वज्ञ का ज्ञान कर लेते हैं और सर्वज्ञ का खण्डन करते समय उसका स्मरण कर लेते हैं। इसप्रकार सर्वज्ञ न होनेपर भी

उसका स्मरण किया जा सकता है उसके लिये सर्वज्ञ होने की जरूरत नहीं है।

सर्वज्ञत्व और जैनशास्त्र

सर्वज्ञत्व के विषय में अभी तक जो चर्चा हुई उसमें युक्तियों के आधार से ही विचार किया गया है। पर सर्वज्ञत्व के वास्तविक रूप की खोज के लिये जैनशास्त्र भी काफ़ी सहायता देते हैं। यह ठीक है कि ज्यों ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों इस विषय की ही क्या हर एक विषय की मौलिक मान्यताओं पर आवरण पड़ता गया, फिर भी इस विषय में काफ़ी सामग्री है।

दिगम्बर साहित्य और श्वेताम्बर साहित्य दोनों ही कुछ कुछ सामग्री देते हैं। यद्यपि दोनों ही काफ़ी विकृत हैं दोनों पर लेखकों की स्याही का काफ़ी रंग चढ़ गया है, फिर भी श्वेताम्बर साहित्य मौलिक सामग्री अधिक देते हैं। यद्यपि श्वेताम्बर सूत्रों में खूब मिलावट हुई है फिर भी ऐसी बातों को मिलावटी नहीं कह सकते जो भक्ति आदि को बढ़ानेवाली नहीं है और न जिन में साम्प्रदायिक पक्षपात दिखाई देता है।

श्वेताम्बर दिगम्बरों में कौन प्राचीन है और किसके शास्त्र पुराने हैं कौन आचार्य कब हुआ, इसका विचार मैं यहाँ छोड़ देता हूं, क्योंकि वह सब ऐतिहासिक चर्चा सर्वज्ञ चर्चा से भी कई गुणा स्थान माँगती है, इससे मूल बात बिलकुल दब जायगी। यहाँ इतना ही समझलेना चाहिये कि श्वेताम्बर आचार्य और दिगम्बर आचार्य दोनों ही पुराने हैं और आचार्य रचनाओं से पुराना सूत्र साहित्य है।

यद्यपि उस में पीछे से भी बहुत मिलावट हुई है फिर भी जिस बात को श्वेताम्बरों के पुराने आचार्य भी सूत्र साहित्य की पुरानी बात कहते हैं उसे सभी आचार्यों के मतसे पुराना मत समझना चाहिये।

उपयोग के विषयमें जैन शास्त्रोंका मतभेद

जैनदर्शन में उपयोग के दो भेद किये गये हैं। एक दर्शनोपयोग, दूसरा ज्ञानोपयोग। प्रचलित मान्यता के अनुसार वस्तुके सामान्य प्रतिभास को दर्शन कहते हैं और विशेष प्रतिभास को ज्ञान कहते हैं। जानने के पहिले हमें प्रत्येक पदार्थ का दर्शन हुआ करता है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आगम ग्रन्थों के अनुसार सर्वज्ञ भी इसी क्रम से वस्तु को जानते हैं, पहिले उन्हें केवलदर्शन होता है पीछे केवलज्ञान होता है। इस विषय में जैनाचार्यों के तीन मत हैं।

१ केवलदर्शन पहिले होता है, केवलज्ञान पीछे (क्रमवाद)
२ दोनों साथ होते हैं (सहोपयोगवाद)
३ दोनों एक ही हैं (अभेदवाद)

पहिला मत (क्रमवाद) प्राचीन आगमग्रन्थों का है, जिस का वर्णन भगवती, पण्णवणा आदि में किया गया है। इसका वर्णन यह है।

'हे भदन्त? केवली जिस समय रत्नप्रभा पृथ्वी को आकार से हेतु से उपमा से········जानते हैं, क्या उसी समय देखते हैं? ············।'

"गौतम, यह बात ठीक नहीं है?"

"सो किसलिये भदन्त ?"

"गौतम ! ज्ञान साकार होता है और दर्शन निराकार होता है, इसलिये वह जिस समय जानता है उस समय देखता नहीं है और जिस समय देखता है उस समय जानता नहीं है। जो बात रत्न-प्रभाके लिये कही गई है वही शर्कराप्रभा के लिये जानना चाहिये। इसी प्रकार बालुका आदि सप्तम पृथ्वी तक, सौधर्म आदि ईषत् प्राग्भार पृथ्वी तक, परमाणु से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक जानना चाहिये। (१)

दूसरा मत [सहयोगवाद] मल्लवादी (२) का है और दिगम्बर सम्प्रदाय में तो वह आमतौर पर प्रचलित है (३)। प्रथम मतके विरोध में इन लोगों का यह कहना है।—

[क] ज्ञानावरण और दर्शनावरण का क्षय एक साथ होता

---

(१) "केवली णं भन्ते ! इमं रयणप्पभं पुढविं आगारेहिं हेतूहिं उवमाहिं दिट्ठन्तेहिं वण्णेहिं संहणणेहिं पमाणेहिं पडोवयारेहिं जं समयं जाणति तं समयं पासइ जं समयं पासइ तं समयं जाणइ ?"

"गोयमा ! णो तिणट्ठे समट्ठे ?"

"से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चति केवली णं इमं रणयप्पभं ..."

"गोयमा सागारे से णाणे भवति, अणगारे से दंसणे भवति से तेणट्ठेणं जविणो तं समयं जाणति एवं जाव अहेसत्तमं, एवं सोहम्मकप्पं जाव अच्चुयं गेविज्जविमाणा अणुत्तरविमाणा ईसीपब्भारं पुढविं परमाणुं पोग्गलं दुपदेसियं खंधं जाव अणंतपदेसियं खंधं" पण्णवणा पद ३०, सूत्र ३१४

(२) मल्लिवादिनस्तु युगपद्भावितद्वयं-सम्मतिप्रकरण द्वि-कांड १०।

(३) दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं ण दुण्णि उवयोगा। जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोवि। द्रव्यसंग्रह।

है इसलिये दोनों एक ही साथ प्रकट होना चाहिये(१)। पहिले पीछे कौन होगा ?

[ख] सूत्र में केवलज्ञान और केवलदर्शन को सादि अनंत कहा है। अगर ये उपयोग क्रमवर्ती होंगे तो दोनों सादि सान्त हो जाँयगे।(२)

(ग) सूत्र में केवली के ज्ञान दर्शन एक साथ कहे(३) हैं।

(घ) यदि ये क्रमसे होंगे तो एक उपयोग दूसरे उपयोग का आवरण करनेवाला हो जायगा।

(ङ) जिस समय केवली देखेंगे उस समय जानेंगे नहीं, इसलिये उपदेश देने से अज्ञात वस्तु का उपदेश देना कहलायगा।

(च) वस्तु सामान्यविशेषात्मक है किन्तु केवलदर्शन में विशेष अंश छूट जानेसे और केवलज्ञान में सामान्य अंश छूट जाने से वस्तु का ठीक ठीक ज्ञान कभी न होगा।

इत्यादि अनेक आशंकाएँ हैं(४)। येही सब आक्षेप अभेदो-

---

(१) केवलणाणावरणक्खयजायं केवलं जहाणाणं। तह दंसणं पि जुज्जइ णियआवरणक्खयस्संते। स० प्र० २-१०।

(२) केवलणाणी णं पुच्छा गोयमा सातिए अपज्जवसिए। पण्णवणा-१८-२४१

(३) केवलनाणुवउत्ता जाणन्ती सव्वभावगुणभावे। पासंति सव्वओ खलु केवलदिट्ठीहि णं ताहिं। विशेषावश्यक ३०९४ टीका।

(४)इस समग्र चर्चा के लिये सम्मतितर्क प्रकरण का दूसरा काण्ड देखना चाहिये। गुजरात विद्यापीठ से प्रकाशित सम्मति तर्क में टिप्पणी में इस विषय की प्रायः समग्र गाथाएँ उद्धृत की गई हैं। संस्कृतज्ञों को स्पष्टता के लिये आगमोदय समिति रतलाम के सटीक नन्दीसूत्रके १३६ पत्र से देखना चाहिये अथवा विशेषावश्यक गाथा ३०९१ से देखना शुरू करना चाहिये। यहाँ स्थानाभावसे इन सब ग्रन्थों के अवतरण नहीं दिये जा सकते।

पयोगी सिद्धसेन आदि ने भी किये हैं। परन्तु विशेष बात इतनी है कि सिद्धसेन दिवाकरको सहोपयोगवाद इसलिये पसन्द नहीं है कि एक समय में दो उपयोग नहीं हो सकते। [हंदि दुवे णत्थि उवयोगा]

इस प्रकार मल्लवादी और सिद्धसेन, इन दोनों ने प्राचीन आगम परम्परा का विरोध किया है। परन्तु इन दोनों महानुभावों की शङ्काओं का समाधान बहुत अच्छी तरह से विशेषावश्यक और नन्दीवृत्ति में किया गया है। यहाँ भी उसका सार दिया जाता है।

ऊपर जो प्रश्न उपस्थित किये गये हैं, उनका उत्तर यह है।

[क] दोनों कर्मोंका क्षय तो एक साथ होता है और उसके फलस्वरूप केवलदर्शन और केवलज्ञान भी एक साथ होते हैं परन्तु वह उपयोगरूपमे एक साथ नहीं रहता। जैसे चार ज्ञानधारी मनुष्य चारों का उपयोग एक साथ नहीं करता उसी प्रकार केवलज्ञान और केवलदर्शन का उपयोग भी सदा नहीं होता (१)।

[ख] यद्यपि दोनों को सादि अनन्त कहा है, किन्तु वह लब्धि की अपेक्षा कहा है। उपयोग की अपेक्षा तो भद्रबाहु स्वामी दोनों में से एक ही उपयोग बताते हैं 'ज्ञान और दर्शन में से एकही उपयोग होता है क्योंकि दो उपयोग एक साथ कभी नहीं होते, [२]। जैसे मतिज्ञान की स्थिति ६६ सागर बतलाई है परन्तु

---

(१) जुगवमयाणन्तोऽविहु चउहिवि णाणेहि जहव चउणाणी। भन्नइ तहेव अरिहा सव्वण्णू सव्वदरिसीय। युगपत्केवलज्ञानदर्शनोपयोगाभावेऽपि निःशेषतदावरण-क्षयात् सर्वज्ञः सर्वदर्शी चोच्यते इत्यदोषः। (नन्दीवृत्ति)

(२) नाणम्मि दंसणम्मि य एत्तो एगयरयम्मि उवउत्तो। सव्वस्स केवलिस्सा जुगवं दो नत्थि उवयोगा। विशेषावश्यक ३०९७।

इतने समय तक उसका उपयोग नहीं होता है, उसी प्रकार ये उपयोग भी सादि अनन्त हैं।

[ग] आक्षेप "ख" में जो समाधान है उसीसे 'ग' का भी हो जाता है।

[घ] जिस प्रकार मत्यादि चार ज्ञानों के उपयोग एक साथ न होने से वे एक दूसरे के आवरण करनेवाले नहीं हो सकते उसी प्रकार केवलज्ञान और केवलदर्शन भी एक दूसरे के आवरक न होंगे।

[ङ] जब हम मतिज्ञान से कोई वस्तु देखकर श्रुतज्ञान से विचार करके कहते हैं तब श्रुतज्ञान के समय मतिज्ञान का उपयोग न होने पर भी यह नहीं कहा जाता कि हम बिनादेखी वस्तु का उपयोग करते हैं।

[च] यदि छद्मस्थों में ज्ञानदर्शन भिन्नसमयवर्ती होनेपर भी सच्चा ज्ञान होता है तो केवली के होने में क्या बाधा है।

इस प्रकार क्रमवाद के विरोध में जो आशंकायें की गई हैं उन का उत्तर दिया गया है। अभेदवाद तो जैनागम के स्पष्ट ही प्रतिकूल है। यदि केवलदर्शन और ज्ञान एक ही हैं तो उसको भिन्न-रूप में कहने की आवश्यकता ही क्या है? इतना ही नहीं किन्तु इसके घातक दो जुदे जुदे कर्म बनाने की भी क्या आवश्यकता है?

यह चर्चा बहुत लम्बी है। यहाँ इसका सार दिया गया है। इससे यह बात साफ़ मालूम होती है कि जैनशास्त्रों की प्राचीन परम्परा के अनुसार केवली के भी केवलज्ञान और केवल-

दर्शन का उपयोग सदा नहीं होता। इस प्रकार जैनधर्म में भी युञ्जान योगियों (केवलियों) की मान्यता सिद्ध हुई।

यद्यपि ये तीनों मत विचारणीय या सदोष हैं परन्तु मौलिकताकी दृष्टि से इन तीनों में से अगर एक का चुनाव करना हो तो इन में से पहिला क्रमोपयोगवाद ही मानना पड़ेगा।

क्रमोपयोगवाद तीनों वादों में श्रेष्ठ होने पर भी उसके प्रचलित अर्थ में कुछ लोगों का [जिन में प्राचीनकाल के लेखक भी शामिल हैं] ऐसा विचार है कि केवलदर्शन और केवलज्ञान का जो क्रम से उपयोग बतलाया है उसका अर्थ यह है कि एक समय में केवलदर्शन होता है, दूसरे समय में केवलज्ञान, तीसरे समय में फिर केवलदर्शन और चौथे समय में फिर केवलज्ञान, इस प्रकार प्रत्येक समय में ये दोनों उपयोग बदलते रहते हैं। विशेषावश्यक भाष्य में शंकाकार की तरफ से इसी प्रकार का क्रमोपयोग कहलाया(१) गया है परन्तु प्रतिसमय उपयोग बदलने की बात ठीक नहीं माळूम होती। एकान्तर उपयोग का यह अर्थ नहीं है कि उपयोग प्रति समय बदले। उपयोग बदलते जरूर हैं—परन्तु वे प्रत्येक समय में नहीं किन्तु अन्तर्मुहूर्त में बदलते हैं।

यदि एकान्तर शब्द का ऐसा अर्थ न किया जायगा तो अल्पज्ञानी का भी उपयोग प्रति समय बदलनेवाला मानना पड़ेगा। क्योंकि क्रमवाद के समर्थन में यह कहा गया है कि "यदि केवल-

(१)क्रमोपयोगत्वे केवलज्ञानदर्शनयोः प्रतिसमयं सान्तत्वं प्राप्नोति)······ समयात्समयादूर्ध्वं केवलज्ञानदर्शननोपयोगयोः पुनरप्यभावत्। विशेष० वृत्ति) 'एकस्मिन् समये जानाति एकस्मिन् समये पश्यतीति' नन्दीवृत्ति।

ज्ञान के समय सर्वदर्शित्वका अभाव माना जायगा और केवलदर्शन के समय सर्वज्ञत्वका अभाव माना जायगा तो यह दोष छद्मस्थ के भी उपस्थित होगा (१)। क्योंकि उसके भी दर्शन ज्ञान का उपयोग एकान्तर होता है। जब उसके ज्ञानोपयोग होगा तब चक्षुदर्शन आदि का अभाव मानना पड़ेगा और चक्षुदर्शन आदि के उपयोग में मतिज्ञान आदि का अभाव मानना पड़ेगा। तब इनकी ६६ सागर आदि स्थिति कैसे होगी ? इनका उपयोग तो अन्तर्मुहूर्त ही होता है (२)।"

यदि मति आदि ज्ञानों का और चक्षु आदि दर्शनों का उपयोग अन्तर्मुहूर्त तक ठहर सकता है तो केवलज्ञान का उपयोग अन्तर्मुहूर्त तक क्यों न ठहरे ? वह एक समय में ही नष्ट होनेवाला क्यों माना जाय ? जिन कारणों से मतिज्ञान अन्तर्मुहूर्त तक ठहर सकता है वे कारण केवलज्ञानी के पास अधिक हैं। इसलिये केवलज्ञानोपयोग भी एकसमयवर्ती नहीं किन्तु अन्तर्मुहूर्त का मानना चाहिये।

इसके अतिरिक्त एक बात और भी यहाँ विचारणीय है। जो लब्धि हमें प्राप्त होती है वह उपयोगात्मक होना ही चाहिये, यह कोई नियम नहीं है। अवधिज्ञानी वर्षों तक अवधिज्ञान का उपयोग न करे तो भी चल सकता है, तथा वह अवधिज्ञानी कहलाता रहता है। इसी तरह केवलज्ञान भी एक लब्धि है [नव क्षायिक लब्धियों में इसकी भी गिनती है] इसलिये

---

(१)छद्मस्थस्यापि दर्शनज्ञानयोः एकान्तर उपयोगे सर्वमिदं दोषजालं समानं विशेषा० वृत्ति ३१०३

(२)उपयोगस्त्वान्तर्मौहूर्तिकत्वात् नैतावन्तं कालं भवति-वि० वृ० ३१०१।

उसका उपयोग भी सदा होना चाहिये—यह नियम नहीं बन सकता।

प्रश्न—जो लब्धियाँ क्षायोपशमिक हैं उनका उपयोग सदा न हो, यह हो सकता है; परन्तु जो क्षायिक लब्धि है उसके विषय में यह बात नहीं कही जा सकती।

उत्तर—लब्धि और उपयोग का क्षयोपशम और क्षय के साथ कोई विषम सम्बन्ध नहीं है। क्षयोपशम से अपूर्ण शक्ति प्राप्त होती है और क्षय से पूर्ण शक्ति प्राप्त होती है। क्षयोपशम में थोड़ी शक्ति भले ही रहे परन्तु जितनी शक्ति है उसको तो सदा उपयोग रूप रहना चाहिये। यदि क्षायोपशमिक शक्ति लब्धि रूपमें रहते हुए भी उपयोग रूप में नहीं रहती तो केवलज्ञान भी लब्धिरूप में रहते हुए उपयोग रूप में रहना ही चाहिये ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता (१)

दूसरी बात यह है कि अन्य क्षायिक लब्धियाँ भी उपयोग-रहित होती हैं। अन्तराय कर्म के क्षय हो जाने से केवली को दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य ये पांच क्षायिक लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। परन्तु इस विषय में दिगम्बर और श्वेताम्बर सभी एकमत हैं कि इन लब्धियों का उपयोग सदा नहीं होता (२), खास कर दानादि चार लब्धियों का उपयोग सिद्धों के तो नहीं ही होता, यद्यपि अन्तराय कर्म का क्षय रहता ही है।

---

(१)विशेषावश्यककी यह गाथा भी इसी बात का समर्थत करती है—

देसक्खए अजुत्तं जुगवं कसिणोभओवओगित्तं। देसोभओवओगो पुणाइ पडिसिज्जए किं सो ?—३१०५

(२)अह ण वि एवं तो सुण, जहेव खीणन्तरायओ अरिहा। संतेवि अन्तराय-क्खयंमि पंचप्पयारम्मि ॥ सययं न देइ लहइ व, भुंजइ उवभुंजई य सव्वण्णू। कज्जंमि देइ लहइ य भुंजइ व तहेव इहयंपि ॥ नन्दीवृत्ति।

तत्त्वार्थ की टीका सर्वार्थसिद्धि में भी क्षायिक दानादि का स्वरूप बतला कर यह प्रश्न किया गया है कि सिद्धों को भी अन्तराय कर्म का क्षय है परन्तु उनके दानादि कैसे सम्भव होंगे ? इसके उत्तर में कहा गया है कि अनन्तवीर्य रूप में दानादि सिद्धों को फल देते (१) हैं। परन्तु यह समाधान ठीक नहीं है क्योंकि अनन्तवीर्य तो अरहन्त में भी होता है, तब क्या दानादि भी जब अनन्तवीर्य रूप में परिणत होते हैं उस समय अनन्तवीर्य में भी वृद्धि होती है ? क्षायिक लब्धि में भी क्या तरतमता हो सकती है ? तरतमता होने से तो वह क्षायोपशमिक हो जायगी। यदि कुछ वृद्धि नहीं होती तो वह [दानादि] लब्धि निरर्थक ही हुई। इस प्रकार कर्मका क्षय भी निरर्थक हुआ। दूसरी बात यह है कि यदि एक लब्धि दूसरे रूप में परिणत होने लगे तब तो केवलज्ञान भी केवलदर्शन रूप में परिणत होने लगेगा। इसलिये अगर सिद्धों में कोई केवलज्ञान न माने सिर्फ केवलदर्शन माने तो क्या आपत्ति की जा सकेगी ? इसलिये यही मानना चाहिये कि क्षायिक लब्धि भी उपयोगरहित लब्धि रूप में चिरकाल तक रह सकती है। और उसे कार्यरूप में परिणत होने के लिये बाह्य निमित्तों की आवश्यकता भी होती है। जैसे क्षायिक दानादि को कार्यपरिणत होने के लिये तीर्थंकर नामकर्म शरीर नामकर्म आदि निमित्तों की आवश्यकता मानी गई है।

---

(१)यदि क्षायिकदानादिभावकृतमभयदानादि सिद्धेष्वपि तत्प्रसङ्गः इति-चेन्न, शरीरनामतीर्थंकरनामकर्मोदयाद्यपेक्षत्वात्तेषां तदभावे तदप्रसङ्गः। कथं तर्हि तेषां सिद्धेषु वृत्तिः ? परमानन्तवीर्याव्याबाधसुखरूपेण तेषां तत्र वृत्तिः । सर्वार्थसिद्धि २-४ ।

प्रश्न–क्षायोपशमिक लब्धियाँ उपयोगात्मक होने में अन्य साधनों की अपेक्षा करती हैं, मतिश्रुत आदि ज्ञान इन्द्रिय मनकी सहायता चाहते हैं, अवधिमनःपर्यय में भी इच्छा की जरूरत है, दानादि के लिये बाह्य साधन चाहिये, पर केवलज्ञानी में यह बात सम्भव नहीं, उनके इच्छा नहीं होती, केवलज्ञान में बाह्य निमित्तों की जरूरत नहीं है इसलिये वह सदा उपयोगात्मक ही रहेगा।

उत्तर–यदि दानादि क्षायिक लब्धियों को भी पर निमित्त की आवश्यकता है तो केवलज्ञान को भी पर निमित्त की आवश्यकता हो, इसमें क्या विरोध है? पर पदार्थों को जानना पर निमित्त के बिना नहीं हो सकता। केवलज्ञान को भी पर निमित्त की आवश्यकता है इसलिये वह सदा उपयोगात्मक नहीं रह सकता। रही इच्छा की बात, सो जैसे केवली के बिना इच्छा के दान लाभ भोग उपभोग हो जाते हैं उसी प्रकार ज्ञान भी हो जायगा। अन्य क्षायिक लब्धियों के उपयोग रूप होने में जब इच्छा नहीं कूदती तो यहीं क्यों कूदेगी।

इस प्रकार केवलज्ञान सदा उपयोग रूप नहीं माना जा सकता।

केवलज्ञानोपयोग का रूप

आजकल क्रमवादी भी यही समझते हैं कि जब केवलदर्शन उपयोग रूप होता है तब त्रिकाल त्रिलोक के पदार्थों का युगपत् विशेष प्रतिभास होता है; परन्तु यह विचार ठीक नहीं है, क्योंकि यह बात असम्भव है। एक समय में सब पदार्थों का सामान्य प्रतिभास तो किसी तरह उचित कहा जा सकता है किन्तु सब पदार्थों का

विशेष प्रतिभास उचित नहीं कहा जा सकता। "सब पदार्थ है" इस प्रकार का प्रतिभास एक साथ हो सकता है किन्तु अगर आप सब पदार्थों की विशेषता को एक साथ जानना चाहें तो यह असम्भव है। यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट होगी।

एक मनुष्य एक समय में एक फल को देखता है। अब यदि वह एक साथ दो फलों को देखेगा तो दोनों फलों की विशेषताएँ उसके विषय के बाहर हो जायँगी, और उन दोनों फलों में जो समान तत्त्व है सिर्फ वही उसका विषय रह जायगा(१)। इसी

---

(१) विशेषावश्यक की निम्नलिखित गाथाओं में इसी बातका उल्लेख है—

समयमणेगग्गहणं जइ सीओसिणदुगम्मि को दोसो।
केणव भणियं दोसो उवयोगदुगे वियारोयं ॥२४३९॥
समयमणेगग्गहणे एगाणेगोवओगभेओ को।
सामण्णमेगजोगो खंधावारोवओगोव्व ॥२४४०॥
खंधारोऽयं सामण्णमेत्तमेगोवओगया समयं।
पइवत्थुविभागो पुण जो सोऽणेगोवयोगत्ति ॥२४४१॥
ते च्चिय न संति समयं सामण्णाणेगगहणमाविरुद्धं।
एगमणेगं पि तयं तम्हा सामण्णभावेणं ॥२४४२॥
उसिणेयं सीयेयं न विभागो नोवओगदुगमित्थं।
होज्ज समं दुगगहणं सामण्णं वेयणामेत्ति ॥२४४३॥

भावार्थ—एक समय में शीत और उष्ण का ज्ञान होजाय तो क्या दोष है? उत्तर—इसमें दोष कौन कहता है हमारा कहना तो यह है कि दो उपयोग एक साथ न होंगे किन्तु दोनों का एक सामान्य उपयोग ही होगा। जैसे सेना शब्द से होता है। सेना यह सामान्य उपयोग है किन्तु रथ अश्व पदाति आदि विशेषोपयोग हैं वे अनेक हैं। वे अनेकोपयोग एक साथ नहीं हो सकते, हाँ! उनमें जो समानता है वह हम एक साथ ग्रहण कर सकते हैं। जो एक साथ उष्णवेदना और शीतवेदना का अनुभव करता है वह शीत और उष्ण के विभाग

प्रकार ज्यों ज्यों उपयोगक्षेत्र विशाल होता जायगा, त्यों त्यों विशेषताके अंश विषयके बाहिर होते जाँयगे और उन सब की समानता विषय में रहती जायगी। जब किसी उपयोग का विषय बढ़ते बढ़ते त्रिलोकव्यापी हो जायगा तब त्रिलोक में रहनेवाली समानता उस उपयोग का विषय होगी, न कि सब विशेषताएँ। अन्यथा केवलज्ञान के समय में अनन्त उपयोग मानना पड़ेंगे। परन्तु जब एक साथ एक आत्मा में दो उपयोग भी नहीं हो सकते तब अनन्त उपयोग कैसे होंगे?

केवलज्ञान और केवलदर्शन जो आत्मा में एक साथ नहीं माने जाते उसका कारण सिर्फ यही है कि जिस समय केवली की दृष्टि विशेषअंश पर है उस समय वह सामान्य प्रतिभास नहीं कर सकता और जब समान अंश पर है तब विशेषप्रतिभास नहीं कर सकता। जब समान तत्त्वों और विशेष तत्त्वों का प्रतिभास एक साथ नहीं हो सकता तब अनन्त विशेषों का प्रतिभास एक साथ कैसे हो सकेगा? यदि केवली महासत्ता के प्रतिभास के समय जीवकी सत्ता (अवान्तर सत्ता) का प्रतिभास नहीं कर सकता और जीवकी सत्ता के प्रतिभास के समय महासत्ता का प्रतिभास नहीं कर सकता तो जीवकी सत्ता के प्रतिभास के समय अजीवकी सत्ताका प्रतिभास

को अनुभव नहीं करता हाँ सामान्य रूपसे वेदनाका ग्रहण करता है।

इस वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि एक साथ अनेक वस्तुओं का विशेषज्ञान नहीं हो सकता। एक साथ अनेक विशेषों का ज्ञान मानने से मुनि गंग को जैनधर्म का लोपक (निह्नव) माना गया है। इसलिये केवली के भी त्रिलोक की सब वस्तुओं का विशेषज्ञान एक साथ कैसे हो सकता है?

कैसे होगा ? यदि वह जीव और अजीव दोनों की सत्ता का प्रतिभास एक समय में करेगा तब वह महासत्ता का प्रतिभास होगा इसलिये दर्शनोपयोग हो जायगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि कोई भी ज्ञानोपयोग एक ही समय में [युगपत्] सब पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता।

आगम से भी मेरे इस वक्तव्यका कुछ समर्थन होता है। पहिले मैं पण्णवणा सूत्र के महावीरगौतमसंवादका उल्लेख कर आया हूं जिसमें गौतम महावीर स्वामी से पूछते हैं कि जिस समय केवली रत्नप्रभा पृथ्वी को देखता है क्या उसीसमय रत्नप्रभा पृथ्वी को जानता भी है ? महावीर स्वामी कहते हैं 'नहीं'। फिर गौतम यही प्रश्न शर्कराप्रभा पृथ्वी के विषय में भी करते हैं, फिर बालुकाप्रभा, इसी प्रकार सब पृथिवियों के विषय में करते हैं। फिर यही प्रश्न सौधर्म आदि के विषय में, परमाणु से लेकर अनंतप्रदेशी स्कंधके विषय में करते हैं। इससे मालूम होता है कि केवली का उपयोग कभी रत्नप्रभापर कभी सौधर्म स्वर्गपर, कभी ग्रैवेयकपर कभी परमाणु पर कभी स्कंधपर, पहुँचता है। उनका ज्ञानोपयोग एक साथ त्रिकाल त्रिलोक पर नहीं पहुँचता। यदि उनका ज्ञानोपयोग सदा त्रिलोकत्रिकालव्यापी होता तो रत्नप्रभा शर्कराप्रभा आदि के विषय में जुदे जुदे प्रश्न न किये जाते। इससे मालूम होता है कि केवली के जब कभी ज्ञानोपयोग होता है तब सब द्रव्यपर्यायों पर नहीं, किसी परिमित विषय पर होता है।

प्रश्न—एकत्व के साथ अनेकत्व का अविनाभावी सम्बन्ध है, जहां जहां एकत्व है वहाँ वहाँ अनेकत्व भी, इस ही प्रकार समानता

और असमानता का भी अविनाभाव सम्बन्ध है। यदि घट अवयवी की दृष्टि से एक या समान है तो अवयवों की दृष्टि से अनेक या असमान। जिस प्रकार घट ज्ञेय है उस ही प्रकार उसके मुख्य पेट आदि अवयव भी। जिस समय हम घट को जानते हैं उस ही समय उनका भी ज्ञान होता ही है। जिस प्रकार घटज्ञान में घट में रहनेवाली समानता या एकता का बोध होता है उस ही प्रकार उसके अवयवों में रहनेवाली असमानता या अनेकता का भी। कौन कह सकता है कि घटज्ञान में उसके पेट की विशालता एवं उसके मुख की लघुता नहीं झलकती। इससे प्रगट है कि जिस प्रकार एक उपयोग में एक ज्ञेय प्रतिभासित होता है उस ही प्रकार अनेक भी। या जिस प्रकार उनकी समानता झलकती है उस ही प्रकार विशेषताएँ भी, यही व्यवस्था भिन्न भिन्न अनेक अवयवियों के विषय में है। इसी प्रकार जब केवलज्ञानी सामान्य प्रतिभास करेगा तब उसके भीतर के समस्त विशेष भी प्रतिभासित होंगे।

उत्तर--वस्तु में जिन चीजों का अविनाभाव है उनका अविनाभाव ज्ञान में नहीं आता। पुद्गल में रूप रस गंध स्पर्श आदि अनेक गुणों का अविनाभाव है पर ज्ञानमें जब वस्तु का प्रतिभास होता है तब उन सबका प्रतिभास नहीं होता। जिस समय हम घटको जानते हैं उसी समय अगर हमें उसके अवयवों का प्रतिभास होने लगे तो उन अवयवों के अवयवों का भी प्रतिभास होने लगेगा, इस प्रकार घटके समस्त दृश्य अणु प्रतिभासित हो जाँयगे, फिर तो किसी चीज को गौर से देखने की जरूरत नहीं रहेगी, एक ही नजर में

उसके समस्त दृश्य अणु प्रतिभासित हो जाँयगे। पर एकबार नजर डाल कर उसके अवयवों को देखने के लिये गौर से नजर डालना पड़ती है जिसे हम निरीक्षण कहते हैं। अगर अवयवी के प्रतिभास से ही अवयवों का प्रतिभास हो जाय तो निरीक्षण की जरूरत ही न रहे।

शंका—मान्यता तो ऐसी है कि अवयवों के प्रतिभास के बिना अवयवी का प्रतिभास नहीं होता।

समाधान—यह मान्यता ठीक है। पर अवयवों के प्रतिभास का समय जुदा है और अवयवी के प्रतिभास का समय जुदा, पहिले अवयवों का प्रतिभास हो जाता है पीछे अवयवी का, इसलिये यह कहना तो ठीक है कि अवयवों के प्रतिभास के बिना अवयवी का प्रतिभास नहीं होता, पर जो उपयोग अवयवों का है वही अवयवी का नहीं है। जैसे अवग्रह के बिना ईहा आदि नहीं हो सकते किन्तु अवग्रह ईहा आदि का उपयोग जुदा जुदा है, उनका समय भी जुदा है, इसी प्रकार अवयवों के ज्ञान और अवयवी के ज्ञान का समय जुदा जुदा है, उपयोग भी जुदा जुदा है।

उपयोग की गति इतनी तेज है कि उपयोग की बीसों अवस्थाएँ हो जाने पर भी हमें एक ही अवस्था मालूम होती है। जैसे सिनेमा के पर्देपर जब एक ही आदमी दिखाई देता है तब भी बीसों चित्र बदल जाते हैं उसी प्रकार जहां हमें एक ही उपयोग मालूम होता है वहाँ बीसों उपयोग बदल जाते हैं। जैसे हम दो घड़ों की ही बात लेलें। जब हमारी आंख के सामने दो घड़े आते हैं तब हमें छोटे बड़ेपन का ज्ञान तुरंत हो जाता है। ऐसा मालूम होता है कि उनके

विशेषत्व का हमें एक ही समय में प्रत्यक्ष हो गया है परन्तु वास्तविक बात यह नहीं है। कोई भी सूक्ष्मदर्शी, या जैन-न्याय का एक विद्यार्थी भी, इस बात को समझेगा कि दो घड़ों के इस तुलनात्मक ज्ञान में अनेक समय लग चुके हैं। जैनियों के शब्दों में तो असंख्य समय लग चुके हैं। पर इतनी सूक्ष्मता का अगर विचार न भी किया जाय तो भी पहिले हमें एक घड़े का प्रत्यक्ष होगा फिर दूसरे घड़े का प्रत्यक्ष होगा फिर पहिले घड़े की स्मृति होगी फिर दोनों का तुलनात्मक प्रत्यभिज्ञान होगा। यद्यपि दोनों घड़े सामने हैं फिर भी दोनों की तुलना में प्रत्यक्ष स्मृति और प्रत्यभिज्ञान हुए हैं। और प्रत्येक प्रत्यक्ष में भी अवग्रहादि नाना उपयोग हुए हैं। इस प्रकार प्रत्येक अवयव का जुदा जुदा ज्ञान और अवयवी का जुदा ज्ञान होता है। इसलिये पेट की विशालता का उपयोग जुदा है मुख की लघुता का उपयोग जुदा और घट का उपयोग जुदा। इसलिये अगर केवलज्ञानी समस्त वस्तुओं का एक उपयोग करे भी, तो वह सामान्य उपयोग होगा, अनंत विशेष उसमें न झलकेंगे।

शंका—यदि घट का उपयोग जुदा है और उसकी विशेषताओं का उपयोग जुदा तो प्रत्येक विषय सामान्यविशेषात्मक कैसे होगा? जैन दर्शन तो सामान्यविशेषात्मक वस्तुको ही प्रमाण का विषय मानता है।

समाधान—जो वस्तु को केवल सामान्यात्मक या नित्य मानते हैं और जो लोग केवल विशेषात्मक या क्षणिक मानते हैं उनका विरोध करने के लिये वस्तु की सामान्यविशेषात्मकता का वर्णन किया गया है। इसका यह मतलब नहीं है कि प्रत्येक प्रमाण या

प्रत्येक प्रत्यक्ष सादृश्य प्रत्यभिज्ञान और वैसादृश्य प्रत्याभिज्ञान के विषय को भी जानता रहता है। सामान्य विशेषात्मक कहने से वस्तु का स्वभाव अनेकान्तात्मक तो सिद्ध होता हैं है साथ ही विषय की सीमा भी निर्धारित होती है। विषय केवल सामान्यात्मक हो तो केवल सतरूप रह जाय, केवल विशेषात्मक हो तो अविभाग-प्रतिच्छेदादि रूप हो जाय। दोनों अव्यवहार्य और निरुपयोगी हैं।

कहने का मतलब यह है कि एकत्व अनेकत्व, सादृश्य वैसादृश्य, नित्यत्व अनित्यत्व का अविनाभाव रहने पर भी प्रत्येक प्रमाण इन्हें ग्रहण नहीं कर सकता इनको ग्रहण करने वाले प्रत्यभिज्ञानादि जुदे हैं। इसलिये केवली अगर सब पदार्थों का सामान्य प्रत्यक्ष करें भी, तो भी सब पदार्थों का विशेष प्रत्यक्ष न होगा।

शंका—दर्पण के सामने जब कोई पदार्थ आता है तब उस का पूरा प्रतिबिम्ब एक ही साथ पड़ता है, अवयव का अलग और अवयवी अलग ऐसा नहीं होता। या इसी प्रकार फोटो के केमरा में जब पचास आदमियों का फोटो लिया जाता है तब पचास आदमियों का सामान्य मनुष्याकार और उनकी अलग अलग शक्लें एक साथ ही प्रतिम्बित होती हैं। जो बात दर्पण में है, जो बात केमरा में है। वहीं बात आँख में भी है। आँख की पुतली भी एक तरह का दर्पण या केमरा है। नेत्ररूप भावेन्द्रिय उस ही का उस ही ढंग से प्रकाश करती है जैसे कि पुतली में प्रतिबिम्बित हुआ है। तब एक ही उपयोग में समस्त विशेषों का एक साथ प्रतिभास क्यों न होगा?

समाधान--चक्षु में प्रतिबिम्बित होना एक बात है और प्रतिबिम्बित का ज्ञान होना दूसरी बात। कभी कभी हम सुनते हुए भी नहीं सुनते हैं, देखते हुए भी नहीं देखते हैं, कोई चीज हमारी आँखों के सामने होती है फिर भी हमारा उपयोग न होने से वह हमें नहीं दिखती। जाग्रत अवस्था में एक साथ हमें प्रायः सब इन्द्रियों के विषय मिलते रहते हैं फिर भी उन सब का ज्ञान नहीं होता इसका कारण यह है कि विषय विषयी के मिल जाने से ही ज्ञान नहीं होता, उसकी तरफ उपयोग होना चाहिये। हमारी आँखों के सामने एक समय में एक दिशाके हजारों पदार्थ आजाते हैं पर हम उन सब को नहीं देख पाते। जिस तरफ ध्यान या उपयोग हो उसे ही देख पाते हैं। इसलिये दर्पण की तरह आँख की पुतली में प्रतिबिम्ब पड़ने से सब का ज्ञान न होगा। जब किसी फोटो में पचास आदमियों के चित्र होते हैं और हमसे कोई कहता है कि इसमें अमुक आदमी कहां है तो हमें ढूंढना पड़ता है और उसके लिये कुछ समय लगता है। अगर आँख में प्रतिबिम्ब पड़ने से ही सब का विशेष ज्ञान होता तो यह ढूंढ खोज न करना पड़ती इससे प्रतिबिम्ब मात्र सिद्ध करने से उसका ज्ञान सिद्ध नहीं होता। इसलिये प्रतिबिम्ब भले ही एक साथ अनेक विशेषों का पड़ जाय पर अनेक विशेषों का एक साथ ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये केवली भी अनंत पदार्थ या अनन्त विशेष नहीं जान सकते।

शंका--तब तो केवली असर्वज्ञ होजाँयगे।

समाधान--अगर त्रिलोक के समस्त पदार्थों के ज्ञान का नाम सर्वज्ञता है तब तो वे अवश्य असर्वज्ञ होजाँयगे या हैं

क्योंकि यह बात असम्भव है। परन्तु यहां अभी इतनी ही बात सिद्ध होती है कि केवली के एक साथ सब का ज्ञान उपयोगात्मक न होगा।

एक विद्वान अगर षड्दर्शनों का ज्ञाता है तो इसका यह मतलब नहीं है कि उसका उपयोग छःदर्शन पर सदा बना रहता है। अथवा जब दार्शनिक शास्त्रपर वह उपयोग करता है तो सभी दर्शनों पर उसका उपयोग जाता है। एक दर्शन के उपयोग के समय पर भी वह षड्दर्शनशास्त्री कहलायगा। इसी प्रकार अगर केवली एक पदार्थ पर उपयोग लगाते हैं तो भी वे अनन्ततत्वज्ञ कहला सकते हैं।

प्रश्न–छद्मस्थ [अल्पज्ञानी] भी एक समय में एक वस्तुपर उपयोग लग सकते हैं और केवली भी उतना ही उपयोग लगाते हैं तब छद्मस्थ और केवली में अन्तर क्या रहेगा?

उत्तर–एक मूर्ख भी एक समय में एक ही अक्षर का उच्चारण कर सकता है और विद्वान भी इतना ही उच्चारण कर सकता है, परन्तु इससे मूर्ख और विद्वान एक से नहीं हो जाते। विद्वत्ता का फल एक समय में अनेक अक्षरों का उच्चारण नहीं है, किन्तु अक्षरोंका अनेक तरह से सार्थक उच्चारण करना है। अथवा जैसे एक साधारण पशु एक समय में एक ही उपयोग करता है और एक श्रुतकेवली परमावधिज्ञानी मनःपर्ययज्ञानी भी एकही उपयोग करता है तो उन दोनों की योग्यता एकसी नहीं हो जाती। उपयोग की विस्तीर्णतामें ज्ञान की महत्ता नहीं है किन्तु महत्ता शक्ति की

महत्ता में है। अवधिज्ञानी आदि का उपयोग भी केवली के समान हो सकता है परन्तु ऐसे बहुत से विषय हैं जहां केवली उपयोग लगासकता है किन्तु अवधिज्ञानी नहीं लगा सकता। अथवा केवली का उपयोग जितना गहरा जाता है उतना अवधिज्ञानी आदि छद्मस्थोंका नहीं जाता। अथवा जिस तत्त्व तक केवली की पहुंच है वहां तक अन्यों [छद्मस्थों] की नहीं है।

प्रश्न—आत्मा स्वभाव से ज्ञाता दृष्टा है। आत्मा जितने पदार्थों को जान सकता है सबके आकार आत्मा में अकृत्रिम रूपमें स्थित हैं। जब तक आत्मा मलिन है तब तक वे आकार प्रगट नहीं होते। जब आत्मा निर्मल हो जाता है तब वे सब आकार एक साथ प्रगट हो जाते हैं। इस प्रकार एकसाथ अनन्त पदार्थों का प्रतिबिम्ब प्रकट होता है। यही अनन्तज्ञान है।

उत्तर—आत्मा दर्पण की तरह नहीं है कि उसके एक एक भाग में एक एक आकार बना हो। दर्पण में एक साथ पचास चीजों का प्रतिबिम्ब पड़े तो वह दर्पण के जुदे जुदे भागों में पड़ेगा। जिस भागपर एक वस्तुका प्रतिबिम्ब है उसी भागपर दूसरी वस्तु का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। परन्तु आत्मा में जो ज्ञान पैदा होता है वह आत्मा के एक भाग में नहीं होता-प्रत्येक ज्ञान आत्मव्यापक होता है। इसलिये अनेकाकार रूप अनेक ज्ञान आत्मामें एक साथ कभी नहीं हो सकते। यह आकार की बात इसलिये भी ठीक नहीं है कि आत्मा अमूर्तिक है इसलिये उसमें किसी का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। इसके अतिरिक्त आत्मा के एक प्रदेश में अगर एक

वस्तुका प्रतिबिम्ब मानलिया जाय तो आत्मा में इतने प्रदेश नहीं हैं जितने जगत् में पदार्थ हैं। तब वे प्रतिबिम्बित कैसे होंगे? फिर एक पदार्थ की भूत और भविष्य काल की अनन्तानन्त पर्यायें होती हैं उन सब के जुदे जुदे प्रतिबिम्ब कैसे पड़ेंगे? इसके अतिरिक्त एक बाधा और है। किसी वस्तुको ग्रहण करने की शक्ति स्वाभाविक हो सकती है, परन्तु उस शक्ति के प्रयोग के जो परसम्बन्धी विविधरूप हैं वे स्वाभाविक और सार्वकालिक नहीं हो सकते। दर्पण में प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की शक्ति स्वाभाविक है परन्तु दर्पण में जितने पदार्थों के प्रतिबिम्ब पड़ सकते हैं वे सब प्रतिबिम्ब दर्पण में प्रारम्भ से ही सदा विद्यमान हैं और निमित्त मिलने पर वे सिर्फ़ अभिव्यक्त (प्रकट) हुए हैं यह कहना अप्रामाणिक है। इसी प्रकार यह कहना भी अप्रामाणिक है कि आत्मा में अनन्त पदार्थों के आकार बने हुए हैं, वे निमित्त मिलने पर या आवरण हटने पर अपने आप प्रकट होते हैं। इस विषय में एक और बड़ी भारी अनुभवबाधा है।

एक मनुष्य अल्पज्ञानी है। कल्पना करो वह दस पदार्थों को जानता है परन्तु एक समय में वह एक ही वस्तुपर उपयोग लगा सकता है। दूसरा आदमी सौ पदार्थों को जानता है परन्तु वह भी एक समय में एक ही उपयोग लगा सकेगा। हम जब पचास चीजों को जानते हैं तब वे सब चीज़ें हमें सदा क्यों नहीं झलकतीं? हमें जितना ज्ञान है उतना तो सदा झलकते रहना चाहिये। ऐसा नहीं होता इसलिये यही कहना चाहिये कि अगर कोई मनुष्य सर्वज्ञ होगा तो वह भी लब्धिरूपमें ही सर्वज्ञ होगा, उपयोग रूपमें

नहीं। यह बात अनुभव से युक्ति से और आगम के कथन तथा उसके ऐतिहासिक निरीक्षण से स्पष्ट हो जाती है।

केवली और मन

यहाँ तक के विवेचन से पाठक समझ गये होंगे कि जैन-शास्त्रों के अनुसार केवली, सदा ज्ञानोपयोगी नहीं होता और न वह सदा सब वस्तुओं को जानता है। यह मत सबसे प्राचीन है। दिगम्बर श्वेताम्बर आचार्यों के जो इस से भिन्न मत हैं वे इस से अर्वाचीन हैं।

केवली सब वस्तुओं को एक साथ नहीं जानते इस विषय में और भी बहुतसी विचारणीय बातें हैं जिनका यहाँ उल्लेख किया जाता है।

इस विषयमें विशेष विचारणीय बात यह है कि केवली के मनोयोग होता है। जहाँ मनोयोग है वहाँ सब वस्तुओं का एक साथ प्रत्यक्ष हो नहीं सकता (१) क्योंकि मन, एक समय में एक तरफ ही लग सकता है। केवली के मनोयोग होता है यह दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों को मान्य है (२)

"केवली के मनोयोग होता है" इस मान्यता से यह बात स्पष्ट है कि केवली, युगपत् सर्व वस्तुओं का साक्षात्कार नहीं कर

(१) चित्तंपि नेंदियाइं समेइ सममह य खिप्पचारित्ति। समयं व सुक्कसक्कुलिच्छदसणे सञ्ओवलद्धित्ति। विशेषावश्यक २४३४॥

(२) संज्ञिमिथ्यादृष्टेरारभ्यौ यावत् सयोगकेवली तावदाचतुर्यौ मनोयोगौ लभ्येते। तत्वार्थ० सिद्धसेन टका २-२६ (श्वे.) "योगानुवादेन त्रिषु योगेषु त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति। सर्वार्थसिद्धि-१-८॥

सकते। इतने पर भी इस मान्यता का त्याग नहीं किया जासका, इसलिये पीछे के लेखकों ने इस बात की कल्पना की कि केवली के मनोयोग तो होता है परन्तु उपचार से होता है। उनके वास्तव में मनोयोग नहीं होता। उपचार के कारण निम्नलिखित बताये जाते हैं।

१—मनसहित जीवों के मनपूर्वक वचनव्यवहार देखा जाता है इसलिये केवली के भी मनोयोग माना गया क्योंकि वे भी वचन-व्यवहार करते हैं [१] [बोलते हैं]

२—केवली के मनोवर्गणाके स्कंध आते हैं इसलिये उनके उपचार से मनोयोग माना गया है (२)।

ये दोनों ही कारण हास्यास्पद हैं। इन के विरोध में चार बातें कही जा सकती हैं।

१—अगर मन सहित जीवों का वचनव्यवहार मनपूर्वक होता है तो होता रहे, केवली के तो मन मानते ही नहीं, फिर उनका वचन व्यवहार मनपूर्वक क्यों माना जाय।

प्रश्न— केवली के भावमन नहीं माना जाता पर द्रव्यमन तो माना जाता है। मन शब्द का अर्थ यहाँ द्रव्यमन समझना चाहिये।

उत्तर—यदि द्रव्यमन के होने से ही वचन व्यवहार में मन का योग या उपयोग मानना पड़े तो द्रव्येन्द्रिय होने से ही उनका

---

१ मणसहियाणं वयणं दिट्ठं तप्पुव्वमिदि सजोगम्हि। उत्तो मणोवयारेणिं-दियणाणेण हीणम्मि। २२८। गोम्मटसार जीवकांड।

२ अंगोवंगुदयादो दव्वमणट्ठं जिणंदचंदम्हि। मणवग्गणखंधाणं आगमणादो दु मणजोगो। २२९ गो०जी०॥

उपयोग मानना आवश्यक हो जायगा। कहा जा सकता है कि आँखवालों को रूपप्रत्यक्ष चक्षुर्व्यापारपूर्वक होता है इसलिये केवली को भी चक्षुर्व्यापारपूर्वक रूप प्रत्यक्ष होना चाहिये।

और जब असंज्ञियों के वचनव्यवहार विना मन के ही माना जाता है तब केवली के भी मानलिया जाए तो इसमें बुराई क्या है?

इससे केवली के मनोयोग या तो मानना ही न चाहिये या मानना चाहिये तो अनुपचरित मानना चाहिये।

२—अगर छद्मस्थों के वचनव्यवहार मनःपूर्वक होता है तो होता रहे। यह कोई आवश्यक नहीं है कि जो बात छद्मस्थों के होती है वह केवली के न होने पर भी मानीजाय। छद्मस्थों के चार मनोयोग होते हैं परन्तु केवली के सिर्फ़ दो [सत्य, अनुभय] ही बताये जाते हैं। छद्मस्थों को मरने के बाद ही कार्मण योग होता है; केवली जीवित अवस्था में ही कार्मण योगी हो सकते हैं। इससे सिद्ध है कि अगर केवली के मनोयोग न होता तो छद्मस्थों की नक़ल कराने के लिये उनमें मनोयोग न बताया जाता।

३—मनोयोग के उपचार के लिये मनोवर्गणाओं का आगमन कारण बताया गया है परन्तु यह कोई नियम नहीं है कि जिस जाति की वर्गणाएँ आवें उसी जाति का योग भी होना चाहिये। तैजस वर्गणाएँ सदा आती हैं परन्तु तैजसयोग कभी नहीं होता। इसके अतिरिक्त जिस समय काययोग होता है उस समय भाषावर्गणा और मनोवर्गणाएँ भी आती हैं इसी प्रकार वचनयोग के समय भी अन्य वर्गणाएँ आती हैं। क्या काययोग या वचनयोग से मनोवर्गणाएँ नहीं आ सकतीं

जिससे जिनेन्द्र में मनोवर्गणाओं के लिये मनोयोग का उपचार करना पड़े। एक बात और है कि मनोयोग का समय ज्यादः से ज्यादः अन्तर्मुहूर्त है जब कि मनोवर्गणाएँ जीवन के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक आती हैं। यदि मनोवर्गणाओं के आने से मनोयोग की कल्पना होती है तो जीवन भर मनोयोग मानना चाहिये था, परन्तु ऐसा नहीं है। इससे मालूम होता है कि केवली के मनोयोग वास्तव में है, कल्पित नहीं।

४--जब बोलचालका सम्बन्ध मनोयोग के साथ इतना जबर्दस्त है कि केवली के भी उपचार से मनोयोग की कल्पना इसलिये करना पड़ी कि वे बोलते हैं, तब एक सत्यान्वेषी पाठक यह समझ सकता है कि केवली के मनोयोग होता है। जब कोई प्रश्न पूछता है तब वे मन लगाकर उसकी बात सुनते हैं और मन लगा कर उसका उत्तर भी देते हैं। एक आदमी वर्षों तक देश देश में विहार करता है, उपदेश देता है, अपने मतका प्रचार करता है, किन्तु ये सब काम वह बिना मन के करता है-ऐसा कहनेवाला अन्धश्रद्धालुता की सीमापर बैठा है यही कहना पड़ेगा, इसलिये ऐसे मतका कुछ मूल्य न होगा।

दिगम्बर संप्रदाय के समान श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी केवली के मनोयोग माना जाता है। परन्तु वहाँ मनोयोग को स्पष्ट ही स्वीकार किया है, बल्कि एक बात तो इतनी सुन्दर है कि जिससे मनोयोग का सद्भाव ही नहीं किन्तु उसका उपयोग एक तरफ़ को लगता है, यह भी साबित होता है।

तेरहवें गुणस्थान में मनोयोग है, इसका वर्णन करते हुए वहाँ कहा गया है कि "जब मनःपर्ययज्ञानी या अनुत्तरविमान के देव

मनसे ही केवली से प्रश्न पूछते हैं तो केवलज्ञानी भी मनसे ही उसका उत्तर देते हैं। इससे केवली के विचारों का प्रभाव केवली के द्रव्यमन पर पड़ता है, उस द्रव्यमन को मनःपर्ययज्ञानी अपने अवधि से देखते हैं और अपने प्रश्नका उत्तर समझ लेते हैं।

इससे यह बात बिलकुल साफ़ है कि केवली का मन अजा-गलस्तनकी तरह निरर्थक नहीं है किन्तु वह विचार का साधन है। यदि केवली के त्रिकाल-त्रिलोक का युगपत् साक्षात्कार होता तो केवली का मन किसी अमुक व्यक्ति के उत्तर देने में कैसे लगता ?

प्रश्न—श्वेताम्बर साहित्य के आधार से तो अवश्य ही मनो-योग का वर्णन केवली के प्रचलित स्वरूप में बाधा डालता है परन्तु दिगम्बर शास्त्रों पर यह आक्षेप नहीं किया जा सकता। गोम्मटसार की जिन गाथाओं को आपने उद्धृत किया है उनमें मनोयोग उप-चरित नहीं कहा गया है किन्तु मनउपयोग उपचरित कहा गया है। २२८ वीं. गाथा का ही उपचार से सम्बन्ध है। २२९ वीं गाथा में शुद्ध मनोयोग ही बतलाया गया है इस वर्णन से उपचार का कोई सम्बन्ध नहीं।

उत्तर—सर्वज्ञता की प्रचलित मान्यता जैसी दिगम्बरों को प्यारी है वैसी श्वेताम्बरों को, दोनों ने ही उसकी सिद्धि के लिये पूरा परि-श्रम किया है फिर भी अगर ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक सामग्री श्वेताम्बर साहित्य में रह गई है और दिगम्बर साहित्य में नहीं है, तो इसका यही अर्थ निकलता है कि श्वेताम्बर साहित्य की या मूल साहित्य की उस कमजोरी को समझकर दिगम्बरों ने उस पर काफ़ी लीपापोती की है जिससे दर्शक का ध्यान उस कमजोरी पर टिक

न सके । खैर, सौभाग्य की बात इतनी ही है कि इतनी लीपापोती करने पर भी दिगम्बर साहित्य उस कमजोरी को छिपा नहीं सका ।

यह कहना ठीक नहीं कि मनउपयोग उपचरित है मनोयोग नहीं । योग मार्गणा के प्रकरण में उपयोग को उपचरित कहने की आवश्यकता ही नहीं है यह तो ज्ञानमार्गणा में हो सकता था । इससे केवली में उपचरित मतिज्ञान सिद्ध होता है जिसका कि जैन साहित्य में जिक्र ही नहीं है ।

गोम्मटसार टीका के शब्द बिलकुल साफ़ हैं वे बतलाते हैं कि केवली के मनोयोग ही उपचरित कहा गया है ।

सयोगिनि मुख्यवृत्त्या मनोयोगाभावेऽपि उपचारेण मनोयोगोऽस्तीति परमागमे कथितः । २२८ टीका ।

सयोगकेवली के मुख्यरूप से तो मनोयोग है नहीं, इसलिये उपचार से मनोयोग है यह बात परमागम में कही है ।

यहां साफ़ ही मनोयोग का उल्लेख है मनउपयोग का नहीं ।

यह कहना भी ठीक नहीं कि २२९ वीं गाथा का उपचार से सम्बन्ध नहीं । दोनों गाथाओं ने मिलकर उपचार का आधा आधा वर्णन किया है । २२९ वीं गाथा की प्रस्तावना देखने से यह बात साफ़ समझ में आ जाती है । २२८ वीं गाथा में मनोयोग को उपचरित कहा गया और फिर कहा गया कि उपचार में दो बातें होती हैं निमित्त और प्रयोजन । निमित्त का वर्णन २२८ वीं गाथा में करके २२९ वीं गाथा में उपचार का प्रयोजन कहा गया है । टीका के शब्द ये हैं—

उपचारो हि निमित्तप्रयोजनवानेव, तत्र निमित्तं यथा······ मुख्यमनोयोगस्य केवलिन्यभावादेव तत्कल्पनारूपोपचारः कथितः। तस्य प्रयोजनमधुना कथयति········अंगोवंगुदयादो····२२९।

इससे यह बात साफ है कि जैन लोगों ने केवली के मनोयोग को उपचरित कहने के लिये खूब गला फाड़ा है क्योंकि मनोयोग से सर्वज्ञता की मान्यता को धक्का लगता है। पर मनोयोग को उपचरित मानने के कारण कितने पोच हैं यह बात मैं पहिले चार बातें कह कर स्पष्ट कर चुका हूं।

प्रश्न—सर्वज्ञ के आप मनोयोग सिद्ध करदें तो भी इससे प्रचलित सर्वज्ञता को धक्का नहीं लगता। क्योंकि मनोयोग और मनउपयोग की व्याप्ति नहीं है। मनोयोग होने पर मनउपयोग अवश्य ही हो, ऐसा नियम होता तो सर्वज्ञता को धक्का लगता क्योंकि मनउपयोग के साथ सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञान के अभाव का नियम है न कि मनोयोगके साथ।

उत्तर—मन के द्वारा आत्मप्रदेशों में जो परिस्पंद होता है वह मनोयोग है। यहां यह खयाल रखना चाहिये कि मनःपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद मृत्युके समय तक द्रव्यमन रहता है और मनोवर्गणाएँ भी आती रहतीं हैं फिर भी हर समय मनोयोग नहीं होता। इसका कारण क्या है? इसी के उत्तर से पता लग जाता है कि द्रव्यमन के रहने पर और मनोवर्गणाओं के आने पर भी जबतक मनउपयोग न होगा तबतक मनोयोग न होगा।

मनोयोग के जो सत्य असत्य आदि चार भेद किये गये है वे भी मनउपयोग के भेद से ही हैं इससे भी मालूम होता है कि

मनउपयोग के बिना मनोयोग नहीं हो सकता। जैसा कि सत्य-मनोयोगादि के वर्णन से मालूम होता है —

सद्भावः सत्यार्थः, तद्विषयं मनः सत्यमनः सत्यार्थज्ञानजननशक्तिरूपं भावमनः इत्यर्थः तेन सत्यमनसा जनितो योगः प्रयत्नविशेषः स सत्यमनोयोगः ।

अर्थात् सत्य पदार्थ को विषय करनेवाले मन को सत्यमन कहते हैं अर्थात सच्चे अर्थज्ञान को पैदा करने की शक्तिरूप भाव मन। उस सत्यमन से पैदा होनेवाला योग अर्थात् प्रयत्नविशेष सत्य मनोयोग है।

इसी प्रकार असत्य आदि की भी परिभाषाएँ जानना चाहिये

इससे मालूम होता है कि मनउपयोग से मनोयोग पैदा होता है। मनउपयोग के बिना मनोयोग कदापि नहीं हो सकता। जब केवली के अनुपचरित मनोयोग है तब उनके अनुपचरित मन-उपयोग भी सिद्ध हुआ, और इसीसे सर्वज्ञता खण्डित हो गई।

प्रश्न—सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक श्लोकवार्तिक आदि ग्रंथों में मनोवर्गणा की अपेक्षा होनेवाला प्रदेशपरिस्पंद मनोयोग है, ऐसा कहा है। इससे तो मालूम होता है कि मनउपयोग के बिना भी मनोयोग हो सकता है। इसलिये मनोयोग से मनउपयोग सिद्ध न होगा।

उत्तर—केवली के मनोयोग मानने से सर्वज्ञता के प्रचलित किन्तु असम्भव रूपमें बाधा आती है यह बात जब स्पष्ट हो गई तब बहुत से जैनाचार्यों ने मनोयोग के विषय में खूब खींचातानी की, उनका परस्पर विरोध और खींचातानी बताने के लिये ही मैंने

यह मनोयोग सम्बन्धी प्रकरण लिखा है । ऊपर जो सत्यमन आदि का वर्णन गोम्मटसार टीका के आधार से किया है उससे साफ़ मालूम होता है कि मनउपयोग के बिना मनोयोग नहीं हो सकता। मनोवर्गणा के आगमन से मनोयोग मानने में क्या दोष हैं इसका विवेचन इस प्रकरण के प्रारम्भ में नम्बर तीन देकर किया है।

फिर भी अधिकांश शास्त्रों में मनोयोग की जो परिभाषाएँ बनाई गईं हैं उनसे यह साफ़ मालूम होता है कि मनउपयोग के बिना मनोयोग नहीं हो सकता । गोम्मटसार टीका का उल्लेख तो ऊपर किया ही गया है अब सर्वार्थसिद्धि की परिभाषा पर विचार करलें ।

अभ्यन्तरवीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमात्मकमनोलब्धिसन्निधाने बाह्यनिमित्तमनोवर्गणालम्बने च सति मनःपरिमाणाभिमुखस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो मनोयोगः । सर्वार्थसिद्धि ६-१ ।

वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियमतिज्ञानावरण का क्षयोपशमरूप मनोलब्धिका संनिधान होने पर (अभ्यन्तर कारण) और मनोवर्गणा का आलम्बन मिलने पर [बाह्यकारण] मनरूप अवस्था के लिये अभिमुख आत्मा का जो प्रदेशपरिस्पन्द है वह मनोयोग है ।

इस परिभाषा में ज्ञानावरण का क्षयोपशम, मनोवर्गणा, और आत्मा की मनरूपपरिणति, ये तीन बातें खास विचारणीय हैं । मनोयोग में बाह्य निमित्त रूप मनोवर्गणा की आवश्यकता बताई गई है पर ज्ञानावरण का क्षयोपशम और मनरूप परिणति से पता लगता है कि यहाँ मनउपयोग अवश्य हुआ है । यहाँ जो आत्मा की मन-

रूप परिणति बताई गई है न कि पुद्गल की, इसका अर्थ यही हो सकता है कि आत्मा की परिणति भावमन या मानसिक विचार रूप हुई है। गोम्मटसार टीका ने भी सत्यमन आदि में मन का अर्थ भावमन किया है। इससे यह बात स्पष्ट है कि मनोयोग मनउपयोग के बिना नहीं होता। केवली के मनोयोग सिद्ध है इसलिये मनउपयोग भी सिद्ध हुआ और इसी से सर्वज्ञता खण्डित हो गई।

जिन लोगों ने मनोवर्गणा के आगमन को भी मनोयोग कह दिया है वे आचार्य भले ही हों पर उनने मनोवर्गणा की परिभाषा के बाहर की चीज़ को मनोयोग कहने की जबर्दस्ती की है।

प्रश्न--'मनके निमित्त से आत्मप्रदेशों में हलन चलन होना मनोयोग है' इस प्रकार की व्यापक परिभाषा में मनोवर्गणाओं के आगमन के लिये या आगमन के साथ जो योग होता है वह भी मनोयोग हो जायगा, मनोवर्गणाओं के आगमन के लिये मनउपयोग की आवश्यकता नहीं है, इस प्रकार मनोयोग और मनउपयोग का अविनाभाव सम्बन्ध नहीं रह जाता जिससे मनोयोग से मनउपयोग सिद्ध किया जा सके और प्रचलित सर्वज्ञता नष्ट हो जाय।

उत्तर--अगर मनोयोग की परिभाषा बदल कर इतनी व्यापक कर दी जाय कि मनोवर्गणाओं के आगमन के लिये होनेवाले योग को मनोयोग कहा जा सके तो मनोयोग जन्म से मरण तक स्थायी हो जायगा क्योंकि वर्गणाओं का आगमन तो तब सदा होता रहता है। काययोग और वचनयोग के समय भी मनोवर्गणाएँ आती

रहती है इसलिये उससमय भी मनोयोग कहलायगा। इस प्रकार मनोयोग की यह परिभाषा अतिव्याप्ति दूषण से दूषित होकर निकम्मी हो जायगी। अथवा योगविभाग का वर्णन ही निकम्मा हो जायगा।

इस प्रकार मनोयोग की जो परिभाषा श्रीधवल में, गोम्मटसार टीका में, तथा सर्वार्थसिद्धि आदि में की गई है वही ठीक है। वह परस्पर अविरुद्ध भी है अनुभवगम्य भी है। उसके आधार से मन उपयोग के बिना मनोयोग नहीं हो सकता। इस प्रकार केवली के मनोयोग और मनउपयोग सिद्ध होते हैं और इससे प्रचलित सर्वज्ञता का खण्डन होता है।

अब मैं यहाँ कुछ ऐसे प्रमाण उपस्थित करता हूं, जिससे पाठकों को मालूम होगा कि केवलीके मनोयोग और मनउपयोग वास्तविक होता है, उससे वे किसी खास वस्तुपर विचार करते हैं।

१— जब केवलियोंसे कोई बातचीत करता है और दो केवली जब आपस में बातचीत करते हैं तब यह बात स्पष्ट है कि बातचीत करनेवाले की बात केवली सुनते हैं और सुनकर उत्तर देते हैं।

प्रश्न—केवली किसी के शब्द सुनते नहीं हैं किन्तु जब से उन्हें केवलज्ञान पैदा हुआ है तभी से वे शब्द उनके ज्ञानमें झलक रहे हैं।

उत्तर—यदि पहिले से वे शब्द झलकते हैं तो भूतभविष्य के अनन्त प्राणियों के अनन्त शब्द उनके ज्ञानमें झलकेंगे। परन्तु इन सबकी विशेषताओं पर वे अलग अलग ध्यान न दे सकेंगे। और

एक साथ सब पर ध्यान देंगे तो वह सामान्य [दर्शन] उपयोग होगा। दूसरी बात यह है कि अनन्त प्राणियों के अनन्त शब्द जब उनके ज्ञान में एक साथ झलकेंगे तब वे किस किस का उत्तर देंगे ?

प्रश्न—जो वाक्य उनके लिये कहा गया है और वर्तमान है, उसी का उत्तर देंगे।

उत्तर—जब उन्हें अनन्तकाल के अनन्तव्यक्तियों से कहे गये, अनन्त शब्द झलकते हैं, तब उन्हें अमुकका उत्तर देना चाहिये, अमुक का उत्तर न देना चाहिये, इतना विचार तो करना पड़ेगा; और विचार तो मानसिक क्रिया है।

प्रश्न--केवली को इतना विचार भी नहीं करना पड़ता किन्तु उनके मुख से आपसे आप प्रश्न का उत्तर निकलता है।

उत्तर--इस तरह तो केवली, मनुष्य न रहेंगे, मशीन हो जाँयगे। ऐसी हालत में केवली का उत्तर प्रश्नकर्ता के प्रश्न की, प्रतिध्वनि ही होगी। परन्तु प्रश्न की प्रतिध्वनि से ही प्रश्नका उत्तर नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि केवली जब उत्तर देते हैं तब उनका आत्मा वचन बोलने के अभिमुख होता है या नहीं ? यदि नहीं होता तब तो उनके वचनयोग भी न होना चाहिये, क्योंकि बोलने के लिये अभिमुख आत्माका जो प्रदेश परिस्पंद (कम्पन) है वही वचन योग (१) है। परन्तु केवली के वचन-

(१) वाक्परिणामाभिमुखस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पंदो वाग्योगः। राजवार्तिक ६--१--१० ॥

योग का निषेध नहीं किया जा सकता । यदि वह बोलने के लिये अभिमुख होता है तो अमुक स्वर व्यञ्जन बोलने के लिये विशेष प्रयत्न होना चाहिये । परन्तु वह विशेष प्रयत्न विचारपूर्वक ही हो सकता है । अपने आप विशेष प्रयत्न नहीं हो सकता । अगर वह अपने आप होगा तो केवली के मुख से सदा एक की आवाज़ निकलेगी क्योंकि आवाज़ बदलने का विशेष प्रयत्न कौन करेगा ?

प्रश्न--केवली की आवाज़ मेघगर्जना की तरह एक तरह की होती है । वह श्रोताओं के कानमें आते आते अनेकरूप हो जाती है (१) । इसलिये जब तक वह वाणी श्रोताओं के कान में नहीं पहुँचती तब तक वह अनक्षरात्मक रहती हैं । इसीलिये उनके अनुभव वचनयोग होता है । जुदे जुदे अक्षरों के लिये जुदे जुदे प्रयत्नों की आवश्यकता है, अनक्षरात्मक के लिये नहीं ।

उत्तर--प्राचीन विद्वानों ने भक्तिवश होकर केवली की सर्वज्ञता बनाये रखने के लिये अनक्षरात्मक वाणी की कल्पना अवश्य की है । परन्तु यह कल्पना भक्तिवश की गई है । अन्य प्रामाणिक शास्त्र इसके विरोधी हैं । दिगम्बर सम्प्रदाय के सबसे अधिक प्रामाणिक धवलादि ग्रंथों में से श्रीधवल में अनक्षरात्मक वाणी का निषेध किया गया है । और अनुभव वचनयोग का कारण यह बतलाया है कि भगवान 'स्यात्' आदि पदों का प्रयोग करते हैं । इसलिये उनके

---

(१) सयोग केवलिदिव्यध्वने: कथंसत्यानुभय-वाग्योगत्वमितिचेन्न, तदुत्पत्तावनक्षरात्मकत्वेन॰श्रोतृश्रोत्रप्रदेश प्राप्ति समय पर्यंतमनुभय भाषात्वसिद्धेः । गोम्मटसार जीवकांड टीका २२७ ॥

अनुभव वचनयोग होता है [१] सिर्फ अनक्षरात्मक भाषा ही अनुभव **वचनयोग** का कारण नहीं है, किन्तु निमन्त्रण देना, आज्ञा करना, याचना करना, पूछना, विज्ञप्ति करना, त्याग की प्रतिज्ञा करना, संशयात्मक बोलना, अनुकरण की इच्छा प्रगट करना, ये भी अनुभय वचनयोग के कारण [२] हैं। इस प्रकार केवली के अनक्षरात्मक भाषा शास्त्र विरुद्ध है। तथा युक्ति से भी विरुद्ध है, क्योंकि अनक्षरात्मक वचनों को श्रोताओं के कान में पहुंचने पर अक्षररूप में परिणत करने का कोई कारण नहीं है। बोलते समय तात्वादिस्थानों के भेद से अक्षर में भेद होता है। यदि मुख में अक्षरों का भेद नहीं हो सका तो कान में कौन कर देगा।

प्रश्न--देवलोग ऐसा कर देते हैं।

उत्तर--अनक्षरात्मक वाणी का कौनसा भाग 'क' बनाया जाय, कौनसा 'ख' बनाया जाय आदि का निर्णय देव कैसे कर सकते हैं? केवली किस प्रश्न के उत्तर में क्या कहना चाहते हैं, क्या यह बात देव समझलेते हैं? यदि केवली के ज्ञान को देव समझते हैं तो देव केवली हो जाँयगे। यदि उत्तर देने के लिये

---

(१) तीर्थंकरवचनम् अनक्षरत्वद्ध्वानिरूपं, तत एव तदेक, तदेकत्वान्नतस्य-द्वैविध्यं घटते इति चेन्न, तत्रस्यादित्यादि असत्यमोषवचनसत्वतः तस्यध्वनेरनक्षरत्वासिद्धेः ; श्रीधवल--सागरकी प्रतिका ५४ वां पत्र ॥

(२) आमंतणि आणवणी याचणियापुच्छणी य पण्णवणी। पच्चक्खाणी संसयवयणी इच्छाणुलोमाय। २२५। णवमी अणक्खरगदा असच्चमोसाहवंति भासाओ। सोदाराणं जम्हा वत्तावत्तंस संजणया। २२६। गोम्मटसार जीवकांड ॥

मंखली गोसाल के साथ भी भगवान महावीर का आक्षेपपूर्ण वार्तालाप हुआ है। इस प्रकारके खंडनमंडन बिना बिचारके नहीं कहे जासकते।

(ग) शब्दालपुत्रने अपने यहाँ ठहराने का भगवान महावीर को निमंत्रण दिया, तब उसके शब्द भगवान सुने हैं [१]। इससे मालूम होता है कि भगवान शब्द सुनते थे, अर्थात् कर्ण इन्द्रिय का उपयोग करते थे।

ये तो थोड़े से नमूने है परन्तु सूत्रसाहित्य में प्रत्येक सूत्रमें महावीर के साथ वार्तालाप प्रश्नोत्तर आदि का विस्तृत वर्णन आता है, जो उनके इन्द्रिय तथा अनिन्द्रिय उपयोग का सूचक है।

प्रश्न—श्वेताम्बर साहित्य भले ही केवलियों के वार्तालापका प्रश्नोत्तर का, शास्त्रर्थ का वर्णन करता हो परन्तु दिगम्बर साहित्य में ऐसा वर्णन नहीं मिलता।

उत्तर—इस निःपक्ष लेखमाला में किसी बात को सिर्फ इसीलिये अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता कि वह अमुक सम्प्रदाय की है अथवा अमुक की नहीं है।

कोई महापुरुष बिना वार्तालाप किये, बिना प्रश्नोत्तर किये, अपने विचारों का प्रचार करे, बिना विचार के देश देश में भ्रमण करे आदि, यह असम्भव है।

यदि भगवान महावीर ये काम न करते तो श्वेताम्बरों को क्या ज़रूरत थी कि वे महावीर जीवन का ऐसा चित्रण करते?

---

(१) तएणं समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तस्स आजीविओ वासगस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ। उवासग ७--१९४॥

महावीर दोनों को समान प्यारे हैं । दोनो ही उन्हें सर्वज्ञ आदि मानते हैं । इसलिये दोनों के वर्णनों में जिसका वर्णन सम्भव और स्वाभाविक होगा उसीका मानना उचित है ।

इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि दिगम्बर साहित्य में भी केवलियों के वार्तालाप प्रश्नोत्तर आदि का वर्णन मिलता है ।

(घ) श्रीधवल में पाँचवें अंगके स्वरूपके वर्णन में लिखा है १ कि----"गणधर देव को जो संशय पैदा होते हैं उनका छेदन जिस प्रकार किया गया तथा बहुतसी कथा उपकथा का वर्णन इस अंगमें है" ।

'गौतम को जीव अजीव के विषय में संदेह हुआ था जिस को दूर कराने के लिये वे महावीर के पास आये थे । पीछे महावीर के शिष्य होकर उनने द्वादशांग की रचना की थी २ ।

श्रीधवलके ये दोनों अंश गौतम और महावीर के बीच में प्रश्नोत्तर होने के सूचक हैं ।

इसके अतिरिक्त राजवार्तिक से भी मालूम होता है कि गौतम प्रश्न करते थे और महावीर उत्तर देते थे "विजयादि के देव कितने बार गमनागमन करते हैं" इस प्रकार गौतम के पूछने पर भगवान

---

१ णाहधम्मकहा ··· गणहर देवस्स जादसंसयस्स संदेहछिंदण विहाणं, बहु विहकहाओ उवकहाओ चवण्णेदि ।—श्रीधवल ।

२ तम्हि चेत्रकाले तत्थेव खित्ते खयोवसम जणिद चउरमल बुद्धि संपण्णेण बम्हणेण जीवाजीवविसयसंदेह विणासणट्ठ मुवगय बहुमाणपाद मूलेण इन्दभूदिणा वहारिदो ।

महावीर ने कहा है----विजयादिषु देवा मनुष्यभवमास्कन्दन्तः कियतीर्गत्यागती: विजयादिषु कुर्वन्ति इति **गौतम प्रश्ने भगवतोक्तम**। राजवार्तिक ४-२६-५)

इससे भी स्पष्ट है कि केवली प्रश्नों का उत्तर देते हैं अर्थात् वार्तालाप करते हैं।

(ङ) अनन्तवीर्य केवली की सभा में उनमें एक शिष्यने केवली से अनुरोध किया है कि सब लोग धर्म सुनना चाहते हैं, आप उपदेश दें। तब केवली ने उपदेश दिया (१) । मतलब यह कि शिष्य के अनुरोध को सुनकर उनने व्याख्यान दिया।

(च) देशभूषण कुलभूषण को केवलज्ञान होने पर रामचन्द्रजी प्रश्न पूछते हैं और केवली उत्तर देते हैं [पद्मपुराण ३९ वाँ पर्व]। रामचन्द्रजी अनेकबार बीच बीचमें प्रश्न पूछते हैं और केवली व्याख्यान का क्रम बदल करके भी रामचन्द्रजी का समाधान करते हैं।

[छ] शिवंकर उद्यान में भीम केवली के पास कुछ देवांगनाएँ आती हैं और केवली से पूछती हैं कि हमारा पहिला पति मर गया है, अब बताइये हमारा दूसरा पति कौन होगा ? केवली कहते

---

१ ततश्चतुर्विधैर्देवैस्तिर्यग्भिर्मनुजैस्तथा। कृतशंसंमुनिश्रेष्ठःशिष्येणैव मपृच्छ्यत ॥ भगवन्! ज्ञातुमिच्छन्ति धर्मा धर्मफलंजनाः । समस्ता मुक्तिहेतुं च तत्सर्व वक्तुमर्हथ ॥ ततः मुनिपुणं शुद्धं विपुलार्थं मिताक्षरं। अप्रधृष्यं जगौ वाक्यं यतिः सर्वहितप्रियं ॥ १४-१७ पद्मपुराण । मिताक्षर विशेषण से यह भी मालूम होता है कि केवली की वाणी निरक्षरी नहीं होती।

हैं कि अमुक भील मरकर तुम्हारा दूसरा पति होगा। [आदिपुराण पर्व ४६ श्लोक ३४९ से]

(ज) इस तरह के बीसों उदाहरण दिये जासकते हैं जिनमें केवलियों ने प्रश्नोत्तर किये हैं। कोई अपने पूर्वजन्म पूछता है तो उसके पूर्वजन्म कहे जाते हैं। फिर कोई दूसरा पूछता है तो उसके पूर्वजन्म कहे जाते हैं। इस प्रकार के पूर्वजन्मों का वर्णन उन पूर्वजन्मों पर विशेष उपयोग लगाये बिना नहीं हो सकता। इसलिये इस विषय में दिगम्बर-श्वेताम्बर का विचार करना निरर्थक है।

(झ) कूर्मापुत्र को जब केवलज्ञान पैदा हो गया तब वे विचार करते हैं कि "अगर मैं गृहत्याग करूँगा तो पुत्रवियोग से दुखित होकर मेरे मातापिता का मरण हो जायगा" इसलिये वे भावचरित्र को धारण करके केवलज्ञानी होनेपर भी मातापिता के अनुरोध से घर में रहे। कूर्मापुत्र के समान मातापिता का भक्त कौन होगा जो केवली होकरके भी उनके ऊपर दया करके घरमें रहे (१)।

कोई त्रिकाल त्रिलोक का युगपत् प्रत्यक्ष भी करे और माता-पिता के विषय में ऐसे विचार भी करे, यह असम्भव और अनावश्यक है।

---

१ जइताव चरित्तमहं गेहामि ता मञ्झ मायतायाणं। मरणं हविज्ज नूणं सुय सोग वियोग दुहिआणं। १३५। तम्हा केवलकमलाकलिओ निअमायताय उवरोहा। चिट्ठइचिरं घरंमिय स कुमारो भाव चरित्तो। १३६। कुम्मापुत्तसरिच्छो को पुत्तो मायताय पयभत्तो जो केवली वि सघरे ठिओ चिरं तयणुकंपाए। १३७। कुम्मापुत्त चरिअम्।

प्रश्न–वार्तालाप आदि करने में तो सिर्फ़ यही आवश्यक है कि जो वह कहता है या करता है उसका जानकार हो और उस समय उसकी तरफ़ उपयोग भी हो, सो केवली त्रिकाल त्रिलोक को जानते हुए वक्तव्य या कर्तव्य पर उपयोग रखते ही हैं वार्तालाप आदि करने से प्रचलित सर्वज्ञता में क्या बाधा है ?

उत्तर–बोलने या करने में ज्ञान इच्छा और प्रयत्न में एक विषयता आवश्यक है। अगर मैं घट बोलना चाहता हूं तो मेरा प्रयत्न घट उच्चारण के लिये होना चाहिये, मेरी इच्छा घट उच्चारण की होना चाहिये, मेरा उपयोग भी घट की तरफ़ होना चाहिये। उपयोग के अनुसार ही इच्छा प्रयत्न हो सकते हैं। अगर मेरा उपयोग सब पदार्थों की तरफ़ एक साथ हो तो मेरी इच्छा प्रयत्न भी सब पदार्थों को बोलने की तरफ़ होगा पर यह निष्फल होगा। क्योंकि एक साथ सब का उच्चारण नहीं हो सकता। इसलिये अगर हम केवली से खास शब्दों का उच्चारण करवाना चाहते तो यह आवश्यक है कि उसका ध्यान अन्य सब शब्दों और अर्थों से हटकर वक्तव्य और कर्तव्य विषय पर हो। इसी से प्रचलित सर्वज्ञता में बाधा आ जायगी।

२--भावमन के बिना मनोयोग कभी नहीं हो सकता। "भावमन की उत्पत्ति के लिये जो प्रयत्न है वही मनोयोग है"। मनोयोग की यह परिभाषा (१) केवली के भी भाव मन सिद्ध करती है।

३ -केवलज्ञान भी एक प्रकार का मानस प्रत्यक्ष है। नंदी-

१ भावमनसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नः मनोयोगः। — श्रीधवल–सागरकी प्रतिका ५३ वाँ पत्र।

सूत्रमें ज्ञान के जो भेद प्रभेद कहे हैं उसमें केवलज्ञान नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष का भेद बताया गया है।

ज्ञानके संक्षेप में दो भेद हैं--प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष दो प्रकार का है-इन्द्रिय प्रत्यक्ष, नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष पाँच प्रकार हैं--श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष, चक्षुरिन्द्रिय प्रत्यक्ष, घ्राणेन्द्रिय प्रत्यक्ष, रसनेन्द्रिय प्रत्यक्ष, स्पर्शनेन्द्रिय प्रत्यक्ष। नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष तीन प्रकार का है--अवधिज्ञान प्रत्यक्ष, मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्ष, केवलज्ञान प्रत्यक्ष (१)।

इससे मालूम होता है कि एक समय अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान मानसिक प्रत्यक्ष माने जाते थे; परन्तु पीछे से यह मान्यता बदल गई और खींचतान कर नोइन्द्रियका अर्थ आत्मा कर दिया गया और उसका प्रसिद्ध अर्थ "मन" छोड़ दिया गया। परन्तु इसका सरल सीधा और सम्भव अर्थ किया जाय तो इससे यह स्पष्ट होगा कि केवलज्ञान मानसिक प्रत्यक्ष है इसलिये केवली के मन होता है।

कहा जा सकता है कि नन्दीसूत्र में भी केवलज्ञान का वर्णन वैसा ही किया गया है तथा उसके टीकाकारों ने नोइंद्रिय का अर्थ आत्मा भी किया है तब केवलज्ञान को मानस प्रत्यक्ष कैसे कहा जाय।

---

१ तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा पच्चक्खं च परोक्खं च (सूत्र २) से किंतं पच्चक्खं ? पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं तं जहा इंदियपच्चक्खं नोइंदियपच्चक्खं (सूत्र ३) से किं तं इंदिय पच्चक्खं। इन्दियपच्चक्खं पंचविहं पण्णत्तं तं जहा सो इन्दियपच्चक्खं चक्खिंदिय पच्चक्खं घाणिन्दिय पच्चक्ख जिब्भिंदिय पच्चक्खं फासिंदिय पच्चक्खं। [सू. ४] से किं तं नोइन्दिय पच्चक्खं। नो इन्दिय पच्चक्खं तिविहं पण्णत्तं तं जहा ओहिनाण पच्चक्खं मणपज्जवणाण पच्चक्खं केवलनाणपच्चक्खं (सूत्र ५)

बहुत से जैन शास्त्र प्रचलित मान्यता का समर्थन करते हैं यह ठीक है पर जब कोई प्रचलित मान्यता का विरोधी उल्लेख किसी शास्त्र में मिल जाता है तभी प्रचलित मान्यता अन्धभक्ति के कारण कीगई लीपापोती है, यह बात साफ़ हो जाती है। लीपापोती करनेवाले अपनी समझ से लीपापोती करते हैं पर सत्य जब धोखे-से कहीं अपनी चमक बता जाता है तब उसका मूल्य बहुत बड़ा होता है। नन्दी सूत्र का उपर्युक्त उल्लेख ऐसा ही है।

नंदीसूत्र के अन्य उल्लेख या अन्य ग्रंथों या टीकाओं के उल्लेख से जब नंदीसूत्र के उक्त वाक्यों का समन्वय किया जाता है तब उसमें यह आपत्ति यह है कि अगर नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष का अर्थ आत्मिक प्रत्यक्ष किया जाय तो मानसप्रत्यक्ष किस भेद में शामिल किया जायगा? इन्द्रिय प्रत्यक्ष के तो पाँचही भेद हैं, उनमें मानस प्रत्यक्ष शामिल हो नहीं सकता। और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष का अर्थ आत्मिक प्रत्यक्ष किया गया है तब मानस प्रत्यक्ष का भेद खाली रह जाता है। शास्त्रों में इतनी मोटी भूल हो नहीं सकती। इसलिये नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष का अर्थ मानस प्रत्यक्ष ही करना चाहिये। और केवलज्ञान को मानस प्रत्यक्ष का भेद मानना चाहिये।

[४] तेरहवें गुणस्थान में केवली के ध्यान बतलाया जाता है। ध्यान बिना मन के हो नहीं सकता इसलिये भी केवली के मन मानना पडता है। तेरहवें गुणस्थान के सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती ध्यान में वचनयोग के समान मनोयोग का भी निरोध किया जाता

है १। यदि मनोयोग उपचरित माना जाय तो ध्यान के लिये उसके निरोध की आवश्यकता ही क्या है ? जब वास्तव में मनोयोग है ही नहीं तो उसका निरोध क्या ?

प्रश्न--केवली के ध्यान भी उपचरित होता है। वास्तव में ध्यान उनके नहीं होता; किन्तु असंख्य गुणनिर्जरा होती है इसलिये उपचार से ध्यान की कल्पना की जाती है। अगर वहाँ ध्यान न माने असंख्य गुणनिर्जराका कारण क्या माना जाय ?

उत्तर--असंख्य गुणनिर्जरा वास्तविक होती है या उपचरित ? यदि उपचरित होती है तो मोक्ष भी उपचरित होगा। तथा उपचरित निर्जरा के लिये ध्यान की कल्पना की जरूरत क्या है ? अगर निर्जरा वास्तविक है तो उसका कारण ध्यान भी वास्तविक होना चाहिये। नक़ली ध्यान से असली निर्जरा नहीं हो सकती। यदि निर्जरा का कारण ध्यान के अतिरिक्त कुछ और माना जाय तो निर्जरा के लिये उपचरित ध्यान की आवश्यकता नहीं रहती है। इसलिये उनके वास्तविक ध्यात मानना चाहिये।

प्रश्न--ध्यान का अर्थ एकाग्रता नहीं किन्तु उपयोग की स्थिरता है। केवली का ज्ञान त्रिलोक त्रिकालव्यापी होनेपर भी स्थिर होता है इसलिये उनके ध्यान भी और सर्वज्ञता भी।

उत्तर--अगर जैन शास्त्रों की यह मंशा होती तो ध्यान का समय अन्तर्मुहूर्त न होता खासकर केवलियों के तो अन्तर्मुहूर्त न

---

१ स यदान्तर्मुहूर्त शेषायुष्कस्त तुल्यस्थितिवेद्यनामगोत्रश्चभवतितदासर्वं वाङ्मानसययोगं वादरकाययोगं च परिहाप्य सूक्ष्मकाय योगालम्बन सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपातिध्यानमास्कन्दितुमर्हति। -- सर्वार्थसिद्धि ९-४४।

होना चाहिये। अगर उपयोग की स्थिरता का नाम ध्यान हो तो केवली के जीवन भर ध्यान रहे और सिद्धों के भी ध्यान माना जाने लगे। पर यह बात जैनशास्त्र भी नहीं मानते इसलिये ध्यान का वही लक्षण लेना उचित है जो जैनशास्त्रों में साधारणतः लिया जाता है। जिन आचार्यों ने उस अर्थ को बदलने की खींचातानी की है उससे यही मालूम होता है वे भी समझने लगे थे कि केवली के ध्यान मानने से सर्वज्ञता नष्ट होती है। इसीलिये उनने यह खींचातानी की सच बात तो यह है कि केवली के भी ध्यान तथा सोचना, विचारना, आदि मनुष्योचित सभी क्रियाएँ होती हैं परन्तु जब अन्धभक्ति के कारण लोग केवलज्ञान के स्वरूप को भूलकर उसके विषय में अटपटी कल्पना करने लगे और जब शास्त्रीय वर्णनों से अटपटी कल्पना का मेल न बैठा तब मेल बैठने के लिये वास्तविक घटनाओं को उपचरित कहना शुरू कर दिया गया, अथवा ध्यान की परिभाषाएँ बदली गईं। यह लीपापोती साधारण लोगों को भले ही धोखादे परन्तु एक परीक्षक को धोखा नहीं दे सकती।

केवली के अन्य ज्ञान

इस विवेचन से पाठक समझ गये होंगे कि केवली के मन होता है, वे मन से विचार करते हैं आदि। इस से सिद्ध है कि केवली त्रिकाल त्रिलोक के पदार्थों का एक साथ प्रत्यक्ष नहीं करते हैं।

पहिले शब्दालपुत्र के साथ भगवान महावीर की बातचीत का उल्लेख किया गया है। उससे मालूम होता है कि केवली मानसिक विचार ही नहीं करते, किन्तु वे आँखों से देखते भी हैं, कानों

से सुनते भी हैं । इसप्रकार मतिज्ञान का अस्तित्व भी उनके साबित होता है ।

यद्यपि बहुत से जैनाचार्योंका मत है कि केवली के दूसरा ज्ञान नहीं होता है, परन्तु यह पिछले आचार्यों का मत है । प्राचीन और प्रामाणिक मान्यता यही है कि केवली के पाँचों ज्ञान होते हैं । सूत्रकार उमास्वामि अपने तत्त्वार्थभाष्य में उस प्राचीन मत का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

"कोई कोई आचार्य कहते हैं कि केवली के मति आदि चार ज्ञानों का अभाव नहीं होता किन्तु वे इन्द्रियों के समान अकिञ्चित्कर हो जाते हैं अथवा जिस प्रकार सूर्योदय होने पर चन्द्र नक्षत्र अग्निमणि आदि प्रकाश के लिये अकिञ्चित्कर होजाते हैं किन्तु उनका अभाव नहीं होता उसी प्रकार केवलज्ञान होने पर मति श्रुत आदि ज्ञानों का अभाव नहीं होता [१] ।"

इससे मालूम होता है कि केवलज्ञान के समय मति आदि ज्ञानों को मानने वाला मत उमास्वामिसे भी प्राचीन है । तथा युक्ति-संगत होने से प्रामाणिक भी है ।

यह बात विश्वासनीय नहीं है कि किसी मनुष्य को केवलज्ञान हो जानेपर आँखों से दिखना बन्द हो जावे । जब कि केवली के

---

१ केचिदाचार्या व्याचक्षते, नाभावः किन्तु तदभिभूतत्वादकिञ्चित्कराणिभवन्तीन्द्रियवत् ।

यथवाव्यभ्रेनभसि आदित्य उदिते भूरितेजस्त्वादादित्येनाभिभूतान्यतेजांसि ज्वलनमणिचन्द्रनक्षत्रप्रभृतीनि प्रकाशनं प्रत्यकिञ्चित्कराणिभवन्ति तद्वदिति । उ० त० भाष्य १–३१ ।

आँखें हैं तो क्या केवलज्ञान के पैदा होने से अन्धे की तरह वे खराब हो जाँयँगी ? क्या केवलज्ञान द्रव्येन्द्रियों का नाशक है ? जब कि जैनशास्त्र उनके द्रव्येन्द्रिय का अस्तित्व स्वीकार करते हैं तब वे अपना काम क्यों न करेंगी ? पदार्थ की किरणें जब आँखपर पड़तीं हैं [कोई कोई दार्शनिक 'नेत्रों की किरणें पदार्थपर पड़तीं हैं इससे पदार्थ दिखलाई देता है' ऐसा मानते हैं; परन्तु इस मत में अनेक दोष हैं. इसलिये वैज्ञानिक लोग इस मत को नहीं मानते (१)] तब हमें पदार्थ दिखलाई देते हैं तब भला वे किरणें केवली की आँखों का बहिष्कार क्यों करेंगी ? वे उनकी आँखों पर भी जरूर पड़ेंगी। जब किरणें आँखों पर पड़ेंगी तब दिखलाई क्यों न देगा ?

प्रश्न–किरणें तो केवली की आँखों पर भी पड़तीं हैं, परन्तु भावेन्द्रिय न होने से उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। भावेन्द्रिय तो क्षयोपशमसे प्राप्त होती है किन्तु केवली के सम्पूर्ण ज्ञानावरण का क्षय हो जाने से क्षयोपशम नहीं हो सकता।

उत्तर–भावेन्द्रिय और कुछ नहीं है, वह द्रव्येन्द्रिय के साथ सम्बद्ध पदार्थ को जानने की शक्ति है। वह ज्ञानगुण का अंश है। क्षयोपशम अवस्था में वह अंश ही प्रकट हुआ था किन्तु क्षय होने पर उस अंश के साथ अन्य अनन्त अंश भी प्रकट हो गये। इसका यह अर्थ कैसे हुआ कि क्षयोपशम अवस्था में जो अंश प्रकट था वह

---

(१) जो लोग इसी मतको मानना चाहें उन्हें, पदार्थ की किरणें केवली की आँखों पर पड़तीं हैं, ऐसा कहने की बजाय केवली के नेत्रों की किरणें पदार्थ पर पड़तीं है, ऐसा कहना चाहिये; और इसी आधार पर यह विवेचन लगाना चाहिये।

अब लुप्त हो गया है ? क्षयोपशम अवस्था में जो अंश प्रकट था, क्षय अवस्था में भी वह प्रकट रहेगा। यदि वह अप्रकट हो जायगा तो उसको अप्रकट करनेवाले घातक कर्मका सद्भाव मानना पड़ेगा। परन्तु जिसके ज्ञानावरण का क्षय हुआ है उसके ज्ञानघातक कर्म कैसे होगा ? इसलिये केवली के, आँखों से जानने की शक्तिका घात नहीं मानना चाहिये। इस प्रकार केवली के आँखें भी हैं और जानने की पूर्णशक्ति भी है तब आँखों से दिखना कैसे बन्द हो सकता है ? एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

एक मनुष्य मकान में बैठा हुआ गवाक्ष (खिड़की) में से एक तरफ़ का दृश्य देख रहा है। अन्य दिशाओं में दीवालें होने से वह अन्य दिशाओं के दृश्य नहीं देख पाता। इतने में, कल्पना करो कि किसी ने दीवालें हटादीं। अब वह चारों तरफ़ से देखने लगा। इस अवस्था में खिड़की तो न रही परन्तु जिस तरफ़ खिड़की थी उस तरफ़ से अब भी वह देख सकता है इसी प्रकार ज्ञानावरण के क्षय हो जाने से क्षयोपशम के द्वारा जो देखने की शक्ति प्रकट हुई थी, वह नष्ट नहीं हो सकती बल्कि उसकी शक्ति बढ़ जाती है। अब वह अपनी आँखों से और भी अच्छी तरह देख सकता है।

एक बात और है जब ज्ञानावरण कर्म के पाँच भेद हैं तो उनके क्षय की सार्थकता भी जुदी जुदी होना चाहिये। यदि ज्ञान गुण के सौ अंश मान लिये जाँय और एक अंश मतिज्ञानावरण, दो अंश श्रुतज्ञानावरण, तीन अंश अवधिज्ञानावरण, चार अंश मनःपर्य्यायज्ञानावरण और नव्वे अंश केवलज्ञानावरण घात करते हैं ऐसा मानलिया जाय तो संपूर्ण ज्ञानावरण के क्षय होने पर पाँचों

ही ज्ञान के अंश प्रकट होंगे। अगर केवली को सिर्फ एक ही केवलज्ञान माना जाय तो इसका मतलब यह होगा कि उन्हें ज्ञान गुण के सौ अंशों में से नब्बे अंश ही मिले हैं। इस प्रकार उनका ज्ञान अपूर्ण रह जायगा। संपूर्ण ज्ञानावरण का क्षय निरर्थक जायगा। इसलिये केवली के अन्य ज्ञान मानना आवश्यक है।

यदि यह कहा जाय कि ज्ञान के १०० अंश हैं और केवल ज्ञान के भी १०० अंश हैं, उसी में से दस अंश मतिज्ञानादिक कहलाते हैं तब इसका मतलब यह होगा कि ज्ञानावरण के मतिज्ञानावरणादि चार भेदों की आवश्यकता नहीं है क्योंकि केवलज्ञानावरण ज्ञान के पूरे के पूरे १०० अंशों का घात करता है। तब मतिज्ञानावरणादि बैठे बैठे क्या करेंगे? मतलब यह है कि जब मतिज्ञानावरणादि ज्ञानावरण कर्म के स्वतंत्र भेद हैं तब उनका स्वतंत्र कार्य्य भी होना चाहिये जो केवलज्ञानावरण कर्म नहीं कर सकता। यदि मतिज्ञानावरण का स्वतंत्र कार्य्य है तो उसके नाश से भी स्वतंत्र उद्भूति है जो केवलज्ञान से भिन्न है। इसलिये केवलज्ञान के प्रकट होने पर चार ज्ञानों के स्वतंत्र अस्तित्व का अभाव नहीं कहा जा सकता इसलिये एक साथ पाँच ज्ञानवाली मान्यता ही ठीक है।

प्रश्न—जिस प्रकार मतिज्ञानावरणादि चार कर्मों में कुछ सर्वघाती स्पर्द्धक होते हैं और कुछ देशघाती। दोनों का काम किसी एक ही ज्ञान का घात करना होता है--अन्तर इतना है कि सर्वघाती स्पर्द्धक पूर्णरूप में घात करते हैं और देशघाती स्पर्द्धक अंशरूपमें। उसी तरह संपूर्ण ज्ञान--गुण को घातनेवाला केवलज्ञानावरण है और उसके एक एक अंश को घातनेवाले मतिज्ञानावरणादि हैं।

उत्तर—यदि केवलज्ञानावरण संपूर्ण ज्ञानको घातनेवाला कर्म होता तो जबतक केवलज्ञानावरण का उदय है तबतक ज्ञान का एक अंश भी प्रकट नहीं होना चाहिये था। क्योंकि जब तक सर्वघाती स्पर्द्धक का उदय रहता है तब तक ज्ञानगुण का अंश भी प्रकट नहीं होने पाता। पर केवलज्ञानावरण का उदय तो कैवल्य प्राप्त होने तक बना ही रहता है और उसके पहले प्राणी को दो तीन और चार तक ज्ञान प्राप्त रहते हैं इससे मालूम होता है कि केवलज्ञानावरण कर्म की सर्वघातता केवलज्ञान तक ही है उसका अन्य चार ज्ञानों से कोई सम्बन्ध नहीं है। अन्य चार ज्ञानावरण घात करने के लिये अपने स्वतंत्र ज्ञानांश रखते हैं और उनके क्षय होने पर वे ज्ञान केवलज्ञान से भिन्नरूप में प्रकट भी होते हैं। इसलिये अर्हन्त के केवलज्ञान के सिवाय अन्य ज्ञानों का होना भी आवश्यक है।

इसलिये केवली के इन्द्रियज्ञान मानना चाहिये। इस प्रकार उनको पाँचों ज्ञान सिद्ध होते हैं।

अगर हम केवली के इन्द्रियज्ञान न मानेंगे तो केवली के जो ग्यारह परिषहें मानी जातीं हैं, वे भी सिद्ध न होंगी। केवली के ग्यारह परिषहों में शीत उष्ण आदि परिषहें हैं।

यदि केवली की इन्द्रियाँ बेकार हैं तो उनकी स्पर्शन इन्द्रिय भी बेकार हुई। तब शीत उष्णकी वेदना या डाँसमच्छर की वेदना किस इन्द्रिय के द्वारा होगी?

प्रश्न—केवली के जो शीत उष्ण आदि ग्यारह परिषहें बताईं हैं वे वास्तव में नहीं हैं, किन्तु उपचार से हैं। उपचार का कारण वेदनीय कर्मका उदय है।

उत्तर--वेदनीय कर्मका उदय बतलाने के लिये परिषहों के कहने की क्या ज़रूरत है ? जब परिषहें वहाँ नहीं होतीं तब क्या परिषहों का अभाव बतलाकर कर्मका उदय नहीं बताया जा सकता ? दसवें गुणस्थान में चारित्रमोह का उदय तो है परन्तु वहाँ चारित्रमोह के उदय से होनेवाली सात परिषहों का अभाव बतलाया गया है। अगर कहा जाय कि दसवें गुणस्थान में चारित्र मोह का उदय ऐसा नहीं है कि परीषह पैदा कर सके तो यह भी कहा जा सकता था कि तेरहवें गुणस्थान में वेदनीय का ऐसा उदय नहीं है जो परीषह पैदा कर सके, इससे साफ़ मालूम होता है कि कर्मका उदय होने से ही परिषहों का सद्भाव नहीं बताया जाता किन्तु जब वे वास्तव में होतीं हैं तभी उनका सद्भाव बताया जाता है। तेरहवें गुणस्थान (केवली) में वे परिषहें वास्तव में हैं इसलिये वे वहाँ बताईं गईं हैं।

प्रश्न--जिनेन्द्र के ग्यारह परिषहों का सद्भाव नहीं बताया है किन्तु अभाव बताया है। तत्वार्थसूत्रके 'एकादशजिने' सूत्र में 'न सन्ति' यह अध्याहार है। अथवा 'एकादश' की सन्धि इस प्रकार है एक + अ + दश; 'अ' का अर्थ 'नहीं' है इसलिये एकादश का अर्थ 'एकदश' नहीं अर्थात् 'ग्यारह नहीं' ऐसा हुवा।

उत्तर--ये दोनों ही कल्पनाएँ अनुचित हैं क्योंकि इस प्रकार मनमाना अध्याहार किया जाने लगे तो संसार के सब शास्त्र उलट जाँयगे। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस सूत्र में भी 'नास्ति' का अध्याहार करके सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग नहीं है, ऐसा

अर्थ कर दिया जायगा । इस प्रकार तत्त्वार्थ के प्रत्येक सूत्रका अर्थ बदला जा सकेगा।

दूसरी बात यह है कि पहिले से अगर निषेध का प्रकरण हो तो यहाँ भी परिषहों का निषेध समझा जाय परन्तु दसवें सूत्रमें परिषहों का सद्भाव बताया गया है तब 'न' की अनुवृत्ति कहाँ से आ जायगी ? अगर 'न' की अनुवृत्ति आ भी जाय तो बारहवें सूत्र (बादर सांपराये सर्वे) में भी 'न' की अनुवृत्ति जायगी और नवमें गुणस्थान में सब परिष का अभाव सिद्ध होगा इस प्रकार 'न सन्ति' का अध्याहार नहीं बन सकता।

'एक+अ+दश' इस प्रकार की सन्धि भी अनुचित है। संस्कृत में ग्यारह के लिये 'एकादश' शब्द आता है। अगर एकदश शब्द आता होता तो कह सकते थे कि 'अ' अधिक है इसलिये उसका निषेध अर्थ करना चाहिये। अथवा 'अ' अगर एकादश के आदि में या अन्त में आया होता तो वह निषेधवाची अलग पद बनता। यहाँ वह ग्यारह को कहनेवाले एक शब्द के बीच में पड़ा है इसलिये वही अलगपद नहीं बन सकता। खैर; व्याकरण की दृष्टि से उसपर जितना विचार किया जायगा 'एकादश' का 'ग्यारह नहीं' अर्थ निकालना उतना ही असंगत होगा।

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि निषेध अर्थ निकाल करके भी निषेध अर्थ नहीं होता। इस प्रकरण में इस बात का उल्लेख है कि किस गुणस्थान में बाईस में से कितनी परिषहें हैं। दसवें सूत्रमें सूक्ष्म सांपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह गुणस्थानों में चौदह

परिषहें बतलाईं गईं हैं। ग्यारहवें सूत्र में जिनेन्द्र के ग्यारह परिषहें बतलाईं हैं, और बारहवें सूत्रमें बादरसांपरायके सब परिषहें बतलाईं गईं हैं। ग्यारहवें सूत्रमें जिनेन्द्रके चाहे ग्यारह परिषहों का अभाव कहो या सद्भाव बात एक ही है। बाईस में से ग्यारह मानों तो ग्यारह का निषेध है, और ग्यारह न मानों तो ग्यारह की विधि है।

प्रश्न—अगर केवली के परिषहें मानी जाँयँगी तो उनके आश्रव भी मानना पड़ेगा। क्योंकि परिषह--जय को संवर का कारण कहा है इसलिये परिषह आश्रव का कारण कहलाया। केवली के आश्रव नहीं होते इसलिये उनके परिषह नहीं माने जा सकते।

उत्तर--परिषह-जय संवर का कारण है। इसलिये परिषह का अजय आश्रव का कारण कहलाया न कि परिषह का होना। परिषह तो दोनों ही जगह हैं, चाहे जय हो या अजय। बारहवें गुण-स्थान में परिषहें हैं पर इसीलिये आश्रव नहीं होता। असली पक्ष--प्रतिपक्ष जय और अजय हैं। परिषह वेदनीय का कार्य है। जय और अजय का सम्बन्ध मोहनीय से है। वेदनीय अपना काम करे तो वहाँ परिषह होगी अर्थात् उस प्राणी को वेदना होगी किन्तु अगर मोहनीय का प्रबल उदय है तो वेदना से वह क्षुब्ध हो जायगा और उसमें रागद्वेष पैदा हो जाँयँगे यह परिषह का अजय कहलायगा और इससे आश्रव होगा। अगर मोहनीय का उदय नहीं है तो परिषह की वेदना होने पर भी--उसके विषय में अनुकूलता--प्रतिकूलता का ज्ञान होने पर भी क्षोभ न होगा—रागद्वेष न होगा। यह परिषह का

जय कहलायगा। इससे संवर होगा। जय हो या अजय वेदनीय तो अपना काम बराबर करता ही है। केवली के परिषहें हैं अर्थात् उनको वेदना है पर मोहनीय न होने से राग-द्वेषादि पैदा नहीं होते इसीलिये परिषहों का विजयरूप संवर है। इसलिये परिषहों के सद्भाव से ही केवली को आश्रव बताना ठीक नहीं।

कुछ भी करो, जिनेन्द्र के ग्यारह परिषहें सिद्ध हैं किसी भी तरह की लीपापोती से उनका अभाव सिद्ध नहीं होता। जब शीत उष्ण परिषहें सिद्ध हुईं तब उनके वेदन के लिये स्पर्शन इंद्रिय भी सिद्ध हुई। जब स्पर्शन इन्द्रिय सिद्ध हुई तब इन्द्रियजन्य मति-ज्ञान भी सिद्ध हुआ। इस प्रकार केवली के केवलज्ञान के अतिरिक्त मत्यादिज्ञान भी सिद्ध हुए।

घाति-कर्मों के क्षय हो जाने से केवली को नवलब्धियाँ प्राप्त होतीं हैं। उनमें भोगलब्धि और उपभोग लब्धि भी होती है। पंचेन्द्रिय के विषयों में जो एक बार भोगने में आवे वह भोग और जो बारबार भोगने में आवे वह उपभोग (१) है। भोजन भोग

---

(१) भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः। उपभोगोऽशनवसन-प्रभृतिः पंचेन्द्रियोविषयः —रत्नकरण्डश्रावकाचार।

अतिशयवाननंतोभोगः क्षायिकः यत्कृताः पंचवर्णसुरभिकुसुमवृष्टि विविध-दिव्यगंधचरणनिक्षेपस्थानसप्तपद्मपंक्ति सुगंधि धूप सुखशीतमारुतादयो भावाः यत्कृताः सिंहासन बालव्यजनाशोकपादपछत्रत्रय प्रभामण्डल गंभीर स्निग्धस्वरपरि-णाम देवदुंदुभिप्रभृतयो भावाः —त० राजवार्तिक २-४-४।

शुभविषयसुखानुभवो भोगः अथवा भक्ष्यपेयलेह्यादिसकृदुपयोगाद्भोगः। स च कृत्स्नभोगान्तरायक्षयात् यथेष्टमुपपद्यते न तु सप्रतिबन्धः कदाचिद्भवति। —सिद्धसेन गणिकृततत्त्वार्थ टीका।

है, वस्त्र उपभोग है। केवली के जब भोग और उपभोग माना जाता है तब यह निश्चित है कि उनके इन्द्रियाँ भी होतीं हैं, और वे विषय-ग्रहण करतीं हैं। इन्द्रियों के सद्भाव से मतिज्ञान सिद्ध हुआ। इस तरह केवली के जब मतिज्ञान आदि भी सिद्ध होंगे तब यह कहना अनुचित है कि उनके सदा केवलज्ञान या केवलदर्शन का उपयोग होता है। क्योंकि मतिज्ञान के उपयोग के समय केवलज्ञान का उपयोग नहीं हो सकता और केवली के मतिज्ञान सिद्ध होता है।

प्रश्न—केवली को भोग और उपभोग के साधन मिलते हैं किन्तु उनका भोग या उपभोग केवली नहीं करते क्योंकि भोग और उपभोग मानने से केवली में एक तरह की आकुलता-व्याकुलता मानना पड़ेगी जोकि ठीक नहीं।

उत्तर--भोग और उपभोग के होने पर भी आकुलता-व्याकुलता का मानना आवश्यक नहीं है। कोई महात्मा सुगंध मिलने पर उसका उपयोग कर लेता है न मिलने पर उसके लिये व्याकुल नहीं होता। यहाँ पर सुगंध का भोग रहने पर भी अकुलता-व्याकुलता बिलकुल नहीं है। केवली के भी इसी तरह भोग होते हैं यहाँ आकुलता-व्याकुलता का प्रश्न ही नहीं है। बात इतनी ही है कि किसी ने सुगंधित फूल बरसाये और उनकी सुगंध चारों तरफ फैली तो केवली की नाक में गई कि नहीं? अगर गई तो उसका उनको अनुभव क्यों नहीं होगा? यदि न होगा तो केवली के भोग उपभोग बतलाने का क्या मतलब था? जिस प्रकार भोगान्तराय आदि का नाश होने पर सिद्धों में भोग उपभोग का नाश बतलाया गया उसी प्रकार अर्हन्त के भी बताना चाहिये था, परन्तु ऐसा नहीं किया

गया इससे उनके भोग उपभोग की वास्तविक मान्यता साबित होती है जोकि प्रचलित सर्वज्ञता में बाधक है।

यदि केवली के केवलज्ञान के सिवाय अन्य ज्ञान न माने जाँयँ तो केवली भोजन भी न कर सकेंगे। क्योंकि आँखों से देखे बिना भोजन कैसे किया जा सकता है? केवलज्ञान से भोजन देखेंगे तो केवलज्ञान से तो त्रिकाल त्रिलोक के पवित्र--अपवित्र अच्छे बुरे सब पदार्थ दिखते हैं इसलिये अमुक भोज्यपदार्थ की तरफ़ उन का उपयोग कैसे लगेगा?

प्रश्न—श्वेताम्बर लोग केवली का भोजन स्वीकार करते हैं परन्तु दिगम्बर लोग स्वीकार नहीं करते। इसलिये दिगम्बरों के लिये यह दोष लागू नहीं हो सकता।

उत्तर--दिगम्बर लोग जैसे केवली की पूजा करते हैं उसी प्रकार श्वेताम्बर भी करते हैं। भक्त लोग अतिशयों की कल्पना ही किया करते हैं, वास्तविक अतिशयों को मिटाते नहीं हैं। यदि केवली के भोजन के अभाव का अतिशय होता तो कोई कारण नहीं था कि श्वेताम्बर लोग उस अतिशय को न मानते। इसीलिये यह पीछे की कल्पना ही है। दूसरी बात यह है कि दिगम्बर लोग भी क्षुधा परिषह तृषा परिषह तो मानते हैं। यदि केवली को भूख और प्यास लगती है तो वे भोजन क्यों न करते होंगे? दूसरे अध्याय में भी इस विषय में लिखा गया है। केवली के भोजन न मानना, यह सिर्फ़ अन्धभक्ति की कल्पना है जो कि केवलज्ञान के कल्पित स्वरूपमें आती हुई बाधा को दूर करने के लिये की गई है।

कोई मनुष्य जो कि जीवन भर भोजन करता रहा है किन्तु विशेष ज्ञानी हो जाने से देशदेशान्तरों में विहार करता हुआ व्याख्यान आदि करता हुआ वर्षों और युगों तक भोजन न करे, इस बात पर अन्धश्रद्धालुओं के सिवाय और कोई विश्वास नहीं कर सकता।

प्रश्न--केवली के कवलाहार न होने पर भी नोकर्माहार सदा होता रहता है इसलिये उनकी शरीर की स्थिति ठीक बनी रहती है। नोकर्माहार के कारण भोजन करने की जरूरत ही नहीं रहती।

उत्तर--नोकर्माहार केवली के ही नहीं होता, हमें तुम्हें भी प्रतिसमय होता रहता है फिर भी हमें भोजन करने की आवश्यकता रहती ही है। इतना ही नहीं, जो आदमी केवली बन गया है उसके भी केवलज्ञान होने के पहले नोकर्माहार होता था फिर भी उसे भोजन करने की आवश्यकता रहती थी। केवलज्ञान हो जाने पर वह आवश्यकता कैसे नष्ट हो सकती है ? इसलिये नोकर्माहार रहने पर भी केवली को भोजन स्वीकार करना पड़ेगा जैसा कि सचाई के लिहाज से श्वेताम्बर जैनों को स्वीकार करना पड़ा है।

केवलज्ञान के इस कल्पित रूप की रक्षा के लिये भगवान के निद्रा का अभाव मानना पड़ा है और निद्रा को दर्शनावरण का कार्य कहना पड़ा है जब कि ये दोनों बातें अविश्वसनीय और तर्क-विरुद्ध हैं।

केवली को अगर निद्रा मानी जायगी तो निद्रावस्था में केवलज्ञान का उपयोग न बन सकेगा। इसलिये भक्त लोगों ने यह मानलिया कि भगवान निद्रा ही नहीं लेते। निद्रा तो शरीर का

यह ठीक है कि ज्ञानपूर्वक भी ज्ञान होता है लेकिन प्रथम ज्ञान के पहले दर्शन का होना ज़रूरी है। सोते २ जब कभी ज्ञान का प्रारंभ होगा तो उसके पहले दर्शन अवश्य होगा। यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि जाग्रत अवस्था में भले ही ज्ञानोपयोग रुक जाता हो किन्तु निद्रावस्था में नहीं रुक सकता। ज्ञानोपयोग जाग्रत अवस्था में जितना संभव है निद्रावस्था में उससे कम ही संभव है। जाग्रत अवस्था में तो मनुष्य का मन कहीं न कहीं लगा ही रहता है इसलिये ज्ञान की धारा यहां अविच्छिन्न ही रहे तो भी चल सकता है किन्तु निद्रावस्था में जहाँ कि मन प्रायः सभी दार्शनिकों की दृष्टि में निश्चेष्ट सा हो जाता है उस समय ज्ञान की धारा सदा उपयोगरूप में बनी रहे यह असंभव है। स्वप्नादिक के रूप में वह बीच बीच में प्रकट हो सकती है और उसके पहले दर्शन का होना आवश्यक होता है इस प्रकार जब निद्रावस्था में ज्ञान और दर्शन दोनों ही हो सकते हैं तब निद्राओं को ज्ञानावरण के समान दर्शनावरण का भी भेद नहीं कह सकते।

जैनियों की एक कल्पित मान्यता को सिद्ध करने के लिये यहां अन्य अनेक वास्तविक और युक्त्यनुभवगम्य सिद्धान्तों की हत्या की गई है। समूचे दर्शन का घात करना समूचे दर्शनावरण का काम हो सकता है, दर्शनावरण के किसी एक भेद का नहीं। ज्ञान के पांच भेद हैं, उनके घातक भी पांच हैं। अब क्या समूचे ज्ञान को घातने के लिये ज्ञानावरण के किसी अन्य भेद की आवश्यकता है? यदि नहीं, तो दर्शनावरण में क्यों? यह कल्पना ही हास्यास्पद है।

दूसरी बात यह है कि यदि निद्रा घातिकर्मों का फल होती तो उसका लब्धि और उपयोग रूप स्पष्ट होता। घातिकर्मों की क्षयोपशमरूप लब्धि, उपयोग रूप हो या न हो तो भी बनी रहती है। हम आँख से देखें या न देखें तो भी चक्षुर्मतिज्ञानावरण की क्षयोपशमरूप लब्धि मानी जाती है। निद्रा दर्शनावरणों की लब्धि का रूप समझ में नहीं आता। निद्रा दर्शनावरण का उदय तो सदा रहता है और आक्षेपक के शब्दों में वह करता है समूचे दर्शन का घात, तब चक्षुर्दर्शनावरणादि के क्षयोपशम होने पर भी चक्षुर्दर्शन न हो सकेगा। जब सामान्य रूप में कोई लैम्प चारों तरफ से ढका हुआ है, तब उस के भीतर के छोटे-छोटे आवरण हटने से क्या लाभ ? इसी प्रकार जब निद्रा का उदय सदा मौजूद है तब चक्षुरादि दर्शन कभी होना ही न चाहिये। (गोम्मटसार कर्मकाण्ड के अध्ययन से यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है।) इसमे निद्रा आदि को दर्शनावरण का भेद बनाना अनुचित है। उसका घाति-कर्म से कोई मेल नहीं है। हाँ उसे नाम कर्म का भेद-प्रभेद बनाया जा सकता है। ऐसी हालत में वह अरहंत के भी रहना उचित है !

प्रश्न—चक्षुर्दर्शनावरणादि चक्षुर्दर्शन आदि का मूल से घात करते हैं। परन्तु निद्रा इस प्रकार मूल से घात नहीं करती। वह प्राप्तलब्धि को उपयोग रूप होने में बाधा डालती है।

उत्तर—यदि प्राप्त दर्शन को उपयोग रूप न होने देनेवाली कर्मप्रकृतियाँ अलग मानी जाँयगीं तो प्राप्त ज्ञान को उपयोग रूप न होने देनेवाली कर्म प्रकृतियाँ भी अलग मानना पड़ेगी। सिद्धों के सभी लब्धियाँ उपयोगरूप नहीं रहतीं इसलिये उनको सकर्म मानना

पड़ेगा। इसलिये पाँचों निद्राओं को दर्शनावरण के भीतर डालने की कोई ज़रूरत नहीं है। दर्शनावरण के नवभेदों की मान्यता बहुत प्राचीन और सर्व जैनसम्प्रदाय सम्मत होने पर भी मौलिक नहीं हो सकती, क्योंकि उपर्युक्त विवेचन से वह आगमाश्रित युक्तियोंके भी विरुद्ध जाती है। इसलिये दर्शनावरणी नाश हो जाने से केवली को नींद नहीं आती, यह मान्यता मिथ्या है, भक्तिकल्प्य है।

प्रश्न--प्रमाद के पंद्रह भेद हैं [चार विकथा, चार कषाय पाँच इन्द्रिय, निद्रा, प्रणय] इनमें निद्रा भी है। केवली के अगर निद्रा हो तो प्रमाद भी मानना पड़ेगा, किन्तु प्रमाद तो छट्ठे गुणस्थान तक ही रहता है और केवली के तो कम से कम तेरहवाँ गुणस्थान होता है। तेरहवें गुणस्थान में प्रमाद कैसे माना जा सकता है?

उत्तर--उपर्युक्त पन्द्रह भेद प्रमाद के द्वार हैं। जब प्रमाद होता है तब वह इन द्वारोंसे प्रकट होता है। इन द्वारों के रहने से ही प्रमाद साबित नहीं हो जाता। उदाहरणार्थ, प्रमाद के भेदों में कषाय भी है परन्तु कषाय तो दसवें गुणस्थान तक रहती है, किन्तु प्रमाद छट्ठे गुणस्थान तक ही रहता है। इसका मतलब यह हुआ कि सातवें से दसवें गुणस्थान तक जो कषाय है वह प्रमादरूप नहीं है। इसी प्रकार तेरहवें गुणस्थान की निद्रा भी प्रमादरूप नहीं है। जिससे कर्तव्य की विस्मृति हो, अच्छे कार्य में अनादर हो, मनवचन कायकी अनुचित प्रवृत्ति हो उसे प्रमाद (१) कहते हैं। जो कथा,

---

(१) प्रमादः स्मृत्यनवस्थानं कुशलेष्वनादरोयोगदुष्प्रणिधानं च

(स्वोपज्ञतत्त्वार्थ भाष्य ८-१)

स च प्रमादः कुशलेष्वनादरः मनसोऽप्रणिधानं (तत्त्वार्थ राजवार्तिक ८-१-३)

जो कषाय, जो इन्द्रियविषयसेवन, जो निद्रा और जो प्रणय इस प्रमाद के द्वारा होगा वह प्रमादरूप होगा, अन्यथा नहीं। अप्रमत्त गुणस्थान में जीव चलता फिरता है, इसलिये आँखों से देखता भी है तो भी वह प्रमादी नहीं कहलाता।

प्रश्न—अप्रमत्त गुणस्थान में जीव चलता फिरता है, इसमें क्या प्रमाण है? क्योंकि अप्रमत्त में तो ध्यान अवस्था ही होती है।

उत्तर—ध्यानावस्था आठवें गुणस्थान से होती है। सातवें गुणस्थान में अगर चलना फिरना बन्द हो जाय तो परिहारविशुद्धि संयम वहाँ न होना चाहिये। श्री धवल टीका में यह कहा गया है कि आठवें गुणस्थान में ध्यानावस्था होती है और गमनागमनादि क्रियाओं का निरोध होता है इसलिये वहाँ परिहार-संयम होता है क्योंकि परिहार तो प्रवृत्तिपूर्वक होता है। जहाँ प्रवृत्ति नहीं वहाँ परिहार क्या (१)? इससे अप्रमत्त गुणस्थान में गमनागमनादि क्रिया सिद्ध हुई। देखना आदि भी सिद्ध हुआ। किन्तु ये कार्य प्रमाद का फल न होने से वहाँ अप्रमत्त अवस्था मानी गई है। केवली की निद्रा भी प्रमाद का फल नहीं है परन्तु शरीर का स्वाभाविक धर्म है इसलिये निद्रा होने से वे प्रमादी नहीं कहला सकते।

इस प्रकार जब केवली के निद्रा सिद्ध हुई तब यह निश्चित है कि उनका ज्ञान सदा उपयोगरूप नहीं होता है। निद्रा होने से

---

[१] उपरिष्टात्किमित्ययं संयमो न भवेदितिचेन्न, ध्यानामृतसागरांतर्निमग्नातानां वाचंयमानामुपसंहृतगमनागमनादिकायव्यापाराणां परिहारानुपपत्तेः। प्रवृत्तः परिहरति नाप्रवृत्तः। (श्रीधवल टीका—सागरकीप्रतिका ७२ वाँ पत्र)

भोजन वगैरह भी सिद्ध हैं। इससे उनके अन्य ज्ञान भी सिद्ध हुए।

इस प्रकार जब केवली के अन्य ज्ञान सिद्ध हुए तब यह बात भी समझ में आती है कि केवलज्ञान और अन्य ज्ञानों के विषय में अन्तर है। केवलज्ञान सब से महानज्ञान है परन्तु मति श्रुत आदि उससे जुदे हैं। उनका विषय भी केवलज्ञान से जुदा है। जिस प्रकार सर्वावधि ज्ञान मे हम उन सब चीज़ों को देख सकते हैं जिनको आँखों से देख सकते हैं फिर भी आँखों का कार्य सर्वावधि से जुदा है, उसी प्रकार मति आदि का कार्य भी केवलज्ञान से जुदा है। यहाँ इतनी ही बात ध्यान में रखना चाहिये कि केवलज्ञान और मति आदि ज्ञानों के विषय स्वतन्त्र हैं। केवलज्ञान क्या है और उसका विषय कितना है, यह बात तो आगे कही जायगी।

त्रिकाल त्रिलोक के युगपत् और सार्वकालिक प्रत्यक्ष को केवलज्ञान कहने में अनेक सच्ची और आवश्यक घटनाओं को कल्पित कहना पड़ा है और उनका अभाव तक मानना पड़ा है। इसी कारण उनके वास्तविक मनोयोग को उपचरित मानना पड़ा, उनकी भाषा निरक्षरी आदि विशेषणों से जकड़ी गई, यहाँ तक कि प्रश्नों का उत्तर देना भी उनके लिये असम्भव हो गया; उनके वास्तविक ध्यान को भी उपचरित कहना पड़ा, भोजन का अभाव, निद्राका अभाव, भोगान्तराय आदि कर्मप्रकृतियों के नाश की निष्फलता, परिषहों का अभाव आदि सब बातें इसीलिये कहना पड़ी हैं, जिससे केवली सदा त्रिकाल त्रिलोक के युगपत् प्रत्यक्षदर्शी कहलाएँ। इस प्रकार एक कल्पना की मिथ्यापुष्टि के लिये हजार कल्पनाएँ करना

पड़ीं हैं। परन्तु इतना करने पर भी असम्भव, सम्भव कैसे हो सकता है? ये सब कल्पनाएँ कितनी थोथीं और प्रमाणविरुद्ध हैं इसका विवेचन यहाँ तक अच्छी तरह से किया गया है।

"सर्वज्ञ" शब्दका अर्थ।

सर्वज्ञता के विषय में जो प्रचलित मान्यता है वह असम्भव है-इस बात के सिद्ध कर देनेपर यह प्रश्न उठता है कि आखिर सर्वज्ञता है क्या? "सर्वज्ञ" शब्द बहुत पुराना है और यह मानने के भी कारण हैं कि म. महावीर के ज़माने में भी सर्वज्ञ शब्द का व्यवहार होता था। यदि सर्वज्ञ का यह अर्थ नहीं है तो कोई दूसरा अर्थ होना चाहिये जो सम्भव और सत्य हो।

सर्वज्ञ शब्द का सीधा और सरल अर्थ यही है कि सबको जाननेवाला। परन्तु 'सर्व' शब्द का व्यवहार अनेक तरह से होता है।

जब हम कहते हैं कि 'सब आ गये; काम शुरू करो।' तब 'सब' का अर्थ निमंत्रित व्यक्ति होता है न कि त्रिकाल त्रिलोक के प्राणी या पदार्थ।

इसी प्रकार—

'हमारे शहर के बाज़ार में सब कुछ मिलता है।' इस वाक्य में 'सब कुछ' का अर्थ बाज़ार में बिकने योग्य व्यवहारू चीज़ें हैं, जिनकी कि मनुष्य बाज़ार से आशा कर सकता है; न कि सूर्य, चन्द्र, जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, माँ-बाप आदि त्रिकाल त्रिलोक के सकल पदार्थ।

" मुझसे क्या पूछते हो ? आपतो सब जानते हो ।"

यहाँ पर भी जानने का विषय त्रिकाल त्रिलोक नहीं किन्तु उतना ही विषय है जितना पूछने से जाना जा सकता है ।

" वह सब शास्त्रों का विद्वान है "

यहाँ भी 'सब' शास्त्रों का अर्थ वर्तमान में प्रचलित सब शास्त्र हैं, न कि त्रिकालत्रिलोक के सब शास्त्र ।

" उसके पास जाओ; वह तुम्हें सब देगा " ।

यहाँ 'सब' का अर्थ इच्छित आवश्यक और सम्भव वस्तु है न कि त्रिकाल त्रिलोक के सकल पदार्थ ।

" कोई भला दामाद श्वसुर से कहे कि, आपने क्या नहीं दिया ? सब कुछ दिया ।"

यहाँ पर भी 'सब' का अर्थ श्वसुर के देने योग्य वस्तुएँ हैं, न कि त्रिकालत्रिलोक के अनन्त पदार्थ ।

और भी बीसों उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे मालूम होगा कि " सब " शब्दका अर्थ त्रिकालत्रिलोक नहीं, किन्तु इच्छित वस्तु है । हमें जितने जानने की या प्राप्त करने की आवश्यकता है उतने को ही 'सब' कहते हैं । जिसने उतना जाना या दिया, उसको सर्वज्ञ या सर्वदाता कहने लगते हैं । ऊपर मैंने बोलचाल के उदाहरण दिये हैं परन्तु शास्त्रों में भी इस प्रकार के उदाहरण पाये जाते हैं ।

नीतिवाक्यामृत में लिखा है----

लोकव्यवहारज्ञो हि सर्वज्ञः'--लोक व्यवहार को जाननेवाला (अच्छी तरह जाननेवाला) सर्वज्ञ है ।

प्रश्न–'सर्वज्ञ लोक व्यवहारज्ञ है' ऐसा अर्थ क्यों न किया जाय ?

उत्तर–ऐसा अर्थ करने पर यह वाक्य ही व्यर्थ हो जायगा क्योंकि सर्वज्ञ को लोकव्यवहारज्ञ बनाने की ज़रूरत क्या है ? अगर वह सब पदार्थों को जानता है तो लोक व्यवहार को भी जानता ही है। यह वाक्य वास्तव में सर्वज्ञता का लक्षण बताने के लिये है यहाँ सर्वज्ञ लक्ष्य है और लोकव्यवहारज्ञ लक्षण। इस प्रकार सर्वज्ञ शब्द का अर्थ यहाँ दिया है। लोकव्यवहार सब से महत्व की चीज़ है जिसने वह जान लिया वह सर्वज्ञ हो गया। सोमदेव सूरि का यह वचन उपयुक्त ही है।

चन्द्रप्रभचरित में पद्मनाभ राजाने एक अवधिज्ञानी श्रीधर मुनि के दर्शन किये हैं। उन मुनि के वर्णन में कहा गया है:---

'जिनके वचनों में त्रिकाल की अनन्तपर्याय सहित सब पदार्थ इसी प्रकार दिखाई देते हैं जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखाई देता है।' १

फिर राजा मुनि से कहता है

'इस चराचर जगत में मैं उसे खपुष्प (कुछ नहीं) मानता हूँ जो आपके दिव्यज्ञानमय चक्षुमें प्रतिबिम्बित नहीं हुआ।' २

श्रीधर मुनि केवली नहीं थे यह बात उनके वर्णन से साफ़

---

१ त्रिकालगोचरानन्तपर्यायपरिनिष्ठितं । प्रतिबिम्बमिवादर्शे जगधद्वचसीक्ष्यते ॥
-- चंद्रप्रभ चरित्र २-६

२ खपुष्पं तदहंमन्ये भुवने सचराचरे । दिव्यज्ञानमये यन्न स्फुरितं तव चक्षुषि ॥
—चंद्रप्रभ चरित्र २-४२

मालूम होती है। उनको जगह जगह मुनि, मुनीन्द्र, सूरि [आचार्य] शब्द से कहा गया है कहीं केवली नहीं कहा। यहाँ तक कि जब उनके मुँह से सर्वज्ञसिद्धि कराई गई तब युक्ति और आगम की दुहाई दी गई। ऐसी कोई बात नहीं कहलाई गई जिससे पता लगे कि श्रीधर मुनि स्वयं सर्वज्ञ हैं। सर्वज्ञ के सामने ही राजा को यह सन्देह हो कि सर्वज्ञ होता है कि नहीं ? यह ज़रा आश्चर्य की बात है। खैर यह बात साफ़ मालूम होती है कि श्रीधर केवली या सर्वज्ञ नहीं थे वे अधिक से अधिक अवधिज्ञानी थे।

श्रीषेण राजा जब वनक्रीड़ा कर रहा था तब उसने तपः श्री से शोभित अवधिज्ञानी अनन्त नामक चारण मुनि को उतरते देखा (१) और मुनि से पूछाः—

'आप भूतभविष्य की सब बात जानते हो। आपके ज्ञानके बाहर जगत् में कोई चीज़ नहीं है; फिर बताइये कि संसार की सब दशा का ज्ञान होने पर भी मुझे वैराग्य क्यों नहीं होता (२)?'

यहाँ यह बात खास ध्यान में रखना चाहिये कि राजा यह नहीं कहता कि आप भूत भविष्य जानते हैं, क्योंकि थोड़ा बहुत भूत भविष्य तो साधारण आदमी भी जानता है। वह तो कहता है कि भूत भविष्य आपके ज्ञान के बाहर नहीं है यह बात तो सर्वज्ञता की प्रचलित मान्यता में ही सम्भव है जिसका प्रयोग राजाने

---

१ अत्रान्तरे पृथु तपःश्रिय उन्नत श्रीरुन्मीलितावधिदृशं सुविशुद्ध दृष्टिः। तारापथादवतरन्तमनन्तसंज्ञमैक्षिष्टचारणमुनिं सहसा नरेन्द्रः। ३-४४

२ यद्भाविभूतमथवामुनिनाथ तत्तबाह्यं न वस्तु कथयेदमतः प्रसाद। संसारवृत्तमखिलं परिजानतोऽपि, नाद्यापि याति विरतिं किमु मानसं मे॥ ३-५०॥

एक अवधिज्ञानी मुनि के लिये किया है, इसका अर्थ यही है कि राजा को जितना भूत भविष्य अपेक्षित है उतना मुनि के ज्ञान के बाहर नहीं है और इतने से ही राजाने मुनिको सर्वज्ञरूप वर्णित कर दिया।

इन उदाहरणों से मालूम होता है कि कविवर वीरनन्दि एक अवधिज्ञानी मुनि को सब जाननेवाला कहते हैं। अवधिज्ञानी सब नहीं जानता इसलिये यहाँ पर 'सब' शब्द का अर्थ यही है कि जितने में राजाके प्रश्न का उत्तर हो जाय। पिछले उद्धरण में तो राजा भी अपने विषय में कहता है कि मुझे संसार की सब दशाओं का ज्ञान है। यहाँ भी 'सब' का अर्थ संसार की अनित्यता, अशरणता आदि वैराग्योपयोगी बातें हैं न कि सब पदार्थों की सब अवस्थाओं का ज्ञान।

इसी प्रकार हरिवंशपुराण आदिके उदाहरण दिये जा सकते हैं। उसमें भी अवधिज्ञानी मुनि को त्रैलोक्यदेशी (१) कहा है। एक बढ़िया उदाहरण और लीजिये।

जिस समय पवनञ्जय के हृदय में अञ्जनाको देखने की लालसा हुई तब वह अपने मित्र प्रहस्त से कहता है 'मित्र! तीन लोककी सम्पूर्ण चेष्टाओं को जाननेवाले तुम सरीखे चतुर मित्र को छोड़कर मैं किससे अपना दुःख कहूँ?' (२)

प्रहस्त की त्रिलोकज्ञता का अर्थ इतना ही है कि वह पवन-

---

(१) हरिवंश-सर्ग श्लोक १९ ८७।

(२) सखे कस्य वदान्यस्य दुःखमेतान्निवेद्यते। मुक्त्वा त्वां विदिताशेष-जगत्त्रयाविचेष्टितं॥ पद्मपुराण १५--१२१।

आरके मनकी बात जानता है और उसका कुछ उपाय भी निकाल सकता है।

इससे पाठक समझ गये होंगे कि 'सर्वज्ञ' शब्द का अर्थ इच्छित पदार्थ का जानना है। और जो जिसका समाधान कर दे, उसके लिये वही सर्वज्ञ त्रिकाल-त्रिलोकज्ञ है।

प्रश्न--एक मनुष्य जिसे सर्वज्ञ कहे उस सर्वज्ञ का अर्थ भले ही उपर्युक्त रीति से हो किन्तु जिसे सब लोग सर्वज्ञ कहते हैं वह सर्वज्ञ ऐसा नहीं हो सकता।

उत्तर--ऐसा मनुष्य आज तक नहीं हुआ जिसे सभी सर्वज्ञ कहते हों। उसके अनुयायी उसे भले ही सर्वज्ञ कहते रहे हों परन्तु दूसरे तो उसे न केवल अर्वज्ञ, किन्तु मिथ्याज्ञानी तक कहते रहे हैं कदाचित् कोई ऐसा मनुष्य भी निकल आवे तो भी सर्वज्ञता का उपर्युक्त अर्थ उसमें भी लागू होगा। जो मनुष्य एक मनुष्य का समाधान कर सकता है वह एक मनुष्य के लिये सर्वज्ञ हो जाता है; जो दस मनुष्यों का समाधान कर सकता है वह दस मनुष्यों के लिये सर्वज्ञ हो जाता है। इसी प्रकार हज़ार लाख आदि की बात है। जो एक समाज का समाधान करे वह उस समाज का, देश का या उस युग का सर्वज्ञ होता है। मतलब यह कि सर्वज्ञ होने के लिये अनंत पदार्थों के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है किन्तु किसी समाज, देश या युग की मुख्य समस्याओं को इतना सुलझा देने की आवश्यकता है जितने में लोगों को संतोष हो जावे। ऐसा महापुरुष ही समष्टि के द्वारा सर्वज्ञ कहा जाने लगता है।

प्रश्न--यदि ऐसा हो तो केवल तीर्थंकर या धर्मसंस्थापक ही सर्वज्ञ क्यों कहलाते हैं ? राजनीतिज्ञ, ज्योतिषी, वैद्य आदि भी सर्वज्ञ कहे जाने चाहिये, क्योंकि अपने अपने विषय में लोगों का समाधान वे भी कर सकते हैं।

उत्तर--इस प्रश्न के चार उत्तर हैं। पहला तो यह कि वे लोग भी सर्वज्ञ कहे जाते हैं। वैद्यक ग्रन्थों में धन्वन्तरि की सर्वज्ञ रूपमें बन्दना होती है। अपने अपने विषय की सर्वज्ञता को महत्व देने की भावना भी उस विषय के विशेषज्ञों में पाई जाती है। इसीलिये नीतिवाक्यामृतकार सोमदेवसूरि लोकव्यवहारज्ञको ही सर्वज्ञ कहते हैं।

दूसरा उत्तर यह है--सर्वज्ञरूप में किसी व्यक्ति को मानने के लिए जिस भक्ति और श्रद्धाकी आवश्यकता है वह धार्मिकक्षेत्र में ही अधिक पाई जाती है। अन्य विद्याओं के क्षेत्र में प्रत्यक्ष और तर्क को इतना अधिक स्थान रहता है कि उस जगह वैसी श्रद्धाकी गुजर नहीं हो सकती, ख़ासकर समष्टि तो उतनी श्रद्धा नहीं रख सकती। एकाध आदमी की बात दूसरी है।

तीसरा उत्तर यह है कि अन्य सब विद्याओं की अपेक्षा धर्म-विद्या का स्थान ऊँचा रहा है। अन्य विद्याओं का सम्बन्ध सिर्फ ऐहिक माना गया है जब कि धार्मिक विद्या का सम्बन्ध पारलौकिक भी कहा गया है और ऐहिक जीवन में भी उसका स्थान व्यापक और सर्वोच्च रहा है। इसलिये धार्मिक क्षेत्र का सर्वज्ञ भी व्यापक और सर्वोच्च बन गया।

चौथा उत्तर यह है कि आजकल प्रायः सभी मनुष्यों के लिए किसी न किसी धर्म से सम्बन्ध रखना पड़ा है, परन्तु अन्य

विषयों के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती। इसलिये धर्म के सर्वज्ञ का प्रचार अधिक हुआ और बाक़ी सर्वज्ञ प्रचलित न हो सके।

इन चारों में तीसरा उत्तर मुख्य है। धर्म केवल पोथियों की चीज़ नहीं है, किन्तु उसका प्रभाव जीवन के सभी अंशोंपर पड़ता है। सुख के साथ साक्षात् सम्बन्ध स्थापित करनेवाला भी धर्म ही है। अगर धर्म न हो तो जगत् की सब विद्याएँ मिलकर भी मनुष्य को उतना सुखी नहीं कर सकतीं जितना कि किसी भी विद्यासे रहित होकर केवल धर्म कर सकता है। प्रत्येक युगकी महान् और जटिल समस्याएँ धर्म से ही हल होतीं हैं, भले ही उनका रूप राजनैतिक हो या आर्थिक हो, परन्तु जबतक धर्म नहीं आता तबतक वे समस्याएँ ज्यों की त्यों खड़ीं रहतीं हैं, तथा धर्म ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपमें उन्हें हल करता है।

यही कारण है कि धार्मिक क्षेत्र के सर्वज्ञ का स्थान सर्वोच्च, सर्वव्यापक और दीर्घकालस्थायी होता है।

वास्तविक अर्थ का समर्थन।

सर्वज्ञता वास्तव में क्या है, यह बात पाठक समझ गये होंगे। उस अर्थ के समर्थन में शास्त्र, विशेषतः जैन--शास्त्र कितनी साक्षी देते हैं यहाँ उसी बात का विचार करना है।

प्रायः मुक्तिवादी सभी भारतीय दर्शनों ने उस ज्ञानको बहुत महत्त्व दिया है जिससे आत्मा संसार के बन्धन से अलग, केवल (बन्ध-रहित-अकेला) होता है। उस अवस्था के ज्ञानको केवल-ज्ञान और उस अवस्था को कैवल्य कहते हैं। केवलज्ञान वास्तव में

जगत का ज्ञान नहीं, किन्तु केवल आत्मा का ज्ञान है। इसी ज्ञान को दूसरे दर्शनों में प्रकृति-पुरुष-विवेक, ब्रह्मसाक्षात्कार आदि नामों से कहा है। जैनियों का केवलज्ञान भी यही परमपवित्र आत्मज्ञान है। इसके जान लेने से 'जगत् जान लिया' या 'सब जान लिया' कहा जाता है।

उस आत्मज्ञान के होने पर जगत् के जानने की ज़रूरत नहीं रहती, इसलिये उसके ज्ञाता को सर्वज्ञ भी कहते हैं; क्योंकि जिसे कुछ जानने की ज़रूरत नहीं रही उसके विषय में यह कहना कि उसने 'सब कुछ जान लिया' कोई अनुचित नहीं है। जैसे करने योग्य [कृत्य] कर लेने से कृतकृत्य कहलाता है (यह आवश्यक नहीं है कि उसने सब कुछ कर लिया हो) उसी प्रकार जानने योग्य जान लेने से सर्वज्ञ कहलाता है। यह आवश्यक नहीं है कि उसने सब जान लिया हो। इसीलिये आचाराङ्गसूत्र में कहा है--

'जो आत्माको जानता है वह सबको जानता है, या जो सबको जानता है वह आत्माको जानता १ है।'

'जो अध्यात्म को जानता है वह बाह्य को जानता है जो बाह्य को जानता है वह अध्यात्म को जानता २ है।"

इसका योग्य अर्थ यही है कि जो आत्मा को या अध्यात्म को जानता है वह सभी को या बाह्य को जानता है; सर्वज्ञ या

---

१ जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ। ३४-१२२

२ जे अज्झत्थं जाणइ से बाहिया जाणइ, जो बाहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ ११-७-५६

आत्मज्ञ वास्तव में आत्मज्ञ ही है। इस तरह के कथन अन्य जैनग्रंथों में भी मिलते हैं।

प्रश्न--आपने पहिले सर्वज्ञ का अर्थ पूर्ण धार्मिक ज्ञानी किया है किन्तु यहाँ आप आत्मज्ञानी को सर्वज्ञ कहते हैं। इन दोनों की संगति कैसे होगी ?

उत्तर--उपर्युक्त आत्मज्ञान ही वास्तव में केवलज्ञान है। परन्तु उस केवलज्ञान को प्राप्त करने के लिये जो व्यावहारिक धर्मज्ञान है वह भी केवलज्ञान कहा जाता है। आत्मोद्धार की दृष्टि से तो आत्मज्ञान ही केवलज्ञान है किन्तु जगदुद्धार के लिये केवलज्ञान वही है जो कि पहिले बताया गया है, जिससे जगत् की समस्याएँ हल होतीं हैं।

जैनशास्त्रों में दो तरह के केवली बतलाये गये हैं। एकको केवली कहते हैं दूसरे को श्रुत-केवली कहते हैं। दोनों ही पूर्ण धर्मज्ञानी माने जाते हैं। परन्तु जिसका धर्मज्ञान अनुभवरूप हो जाता है और जिसे उपर्युक्त आत्मज्ञान हो जाता है, उसे केवली कहते हैं; किन्तु जिसका ज्ञान अनुभवमूलक नहीं होता और जिसे उपर्युक्त आत्मज्ञान नहीं होता वह श्रुतकेवली कहलाता है। केवली प्रत्यक्षज्ञानी कहलाता है और श्रुतकेवली परोक्षज्ञानी कहा जाता है।

श्रुतकेवली को ज्यों ही आत्मज्ञान प्राप्त होता है त्यों ही वह केवली कहलाने लगता है। बाह्यदृष्टि से दोनों ही समान ज्ञानी हैं किन्तु आभ्यंतर दृष्टि से दोनों में बहुत अंतर है। इस प्रकार के भेद दूसरे दर्शनोंमें भी किये गये हैं। मुंडकोपनिषद् में लिखा है:--

"हे भगवन् ! किसके जान लेनेपर सारा जगत् जाना हुआ हो जाता है ? उसके लिए उनने [अंगिरसने] कहा--दो विद्या जानना चाहिये जिनको ब्रह्मज्ञानी परा और अपरा विद्या कहते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष. ये अपरा विद्याएँ हैं। और परा वह है जिसके द्वारा वह अक्षर [नित्य=मोक्षप्रद=ब्रह्म] जाना जाता है-प्राप्त १ होता है।

केवली या अर्हत् को जीवन्मुक्त भी कहा जाता है। जीवन्मुक्त का वर्णन दूसरे शास्त्रों में भी आता है। उससे पता लगता है कि जीवन्मुक्त को त्रिकालत्रिलोक नहीं जानना पड़ता किन्तु चित्तशुद्धि करना पड़ती है, विपत्प्रलोभनों पर विजय करना पड़ती है, सिर्फ़ आवश्यक ज्ञेयों को जानना पड़ता है, केवल आत्मा का ज्ञान करना पड़ता है। कुछ उद्धरण देखिये।

यस्मिन्काले स्वमात्मानम् योगी जानाति केवलम् ।
तस्मात्कालात्समारभ्य जीवन्मुक्तो भवेदसौ ।

वराहोपनिषत् २-४२

जब से योगी केवल अपने आत्मा को जानता है तब से वह जीवन्मुक्त हो जाता है।

---

१ कस्मिन्नुभावो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति । १--१--३ तस्मै सहोवाच । द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म य ब्रम्हविदो वदन्ति परा चैवापरा च। १-१-४ । तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः साम्वेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते । १-१-५ । मुंडकोपनिषत् ।

चेतसो यदव.तृत्वं तत्समाधानमीरितम् ।
तदेव केवलीभावं सा शुभा निर्वृतिः परा ॥
महोपनिषत् ४-७

चित्त का निष्क्रिय [स्थिर] हो जाना ही समाधि है वही केवली होना [कैवल्यपाना] है-वही परा मुक्ति है ।

महोपनिषत् के दूसरे अध्याय के ३९ वें श्लोक से लेकर ६२ वें श्लोक तक जीवन्मुक्त का बड़ा अच्छा वर्णन है । विस्तार-भय से यहाँ उद्धृत नहीं किया जाता । उससे पता लगता है कि जीवन्मुक्ति या कैवल्य क्या है ? उसमें निर्लिप्त जीवन का बड़ा ही हृदयग्राही चित्रण है पर कहीं भी अनन्त पदार्थों के युगपत् प्रत्यक्ष का बोझ बेचारे जीवन्मुक्त पर नहीं लादा गया है ।

जीवन्मुक्त का स्वरूप जानने के लिये पूरी महोपनिषत् का स्वाध्याय बहुत उपयोगी है ।

केवली का ज्ञान पराविद्या है और श्रुतकेवली का ज्ञान अपराविद्या है । श्रुतकेवली के पास पराविद्या नहीं होती है किन्तु केवली के पास परा और अपरा दोनों विद्याएँ होतीं हैं, क्योंकि अपराविद्या (पूर्ण श्रुतज्ञान) को प्राप्त करके ही पराविद्या प्राप्त की जा सकती है । हाँ, पराविद्या को प्राप्त करने के लिये अपराविद्या पूर्ण होना चाहिये, ऐसा नियम नहीं है । क्योंकि अपूर्ण अपराविद्या से भी पराविद्या प्राप्त की जा सकती है अर्थात् पूर्ण पाण्डित्य को प्राप्त किये बिना भी केवलज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । फिर भी यह राजमार्ग नहीं है । राजमार्ग यही है कि पहिले अपराविद्या में पूर्णता प्राप्त की जाय । पीछे सरलता से पराविद्या प्राप्त होती है ।

प्रश्न—पराविद्या वाले (केवली) को अपराविद्या की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—पराविद्या प्राप्त होने के पहिले उसकी ज़रूरत रहने पर भी उसके बाद ज़रूरत नहीं रहती। परन्तु यह अनावश्यकता अपने लिये है न कि जगत् के लिये। जगत् के उद्धार के लिये अपराविद्या की आवश्यकता है, क्योंकि जगत् की समस्याएँ उसीसे पूरी की जाती हैं।

प्रश्न—केवली की अपराविद्या और श्रुतकेवली की अपराविद्या में कुछ फर्क है कि नहीं ?

उत्तर- विशालता की दृष्टि से दोनों में कुछ अन्तर नहीं है। परन्तु गंभीरता की दृष्टि से दोनों में बहुत अन्तर है। केवली का ज्ञान अनुभवात्मक होता है। वह ज्ञान के मर्म को अनुभव में ले आता है, जबकि श्रुतकेवली का ज्ञान गुरु के द्वारा प्राप्त होता है। उसका ज्ञान अनुभवात्मक नहीं, पुस्तकीय होता है। इसीलिये केवली के ज्ञान को प्रत्यक्ष (अनुभवात्मक) और श्रुतकेवली के ज्ञान को परोक्ष (गुरु आदिसे प्राप्त) कहा जाता है। जैन-शास्त्रकारों ने इस विषयको अच्छी तरह लिखा है। गोम्मटसार में लिखा है—

'श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही ज्ञानकी दृष्टि से (पदार्थों को जानने की दृष्टिसे) बराबर हैं। अन्तर इतना ही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष (१) है।'

---

१ सुद केवलं च णाणं दोण्णिवि सरिसाणि होंति बोहादो। सुदणाण तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं। — गो. जीवकांड ३६९।

आप्तमीमांसा में समंतभद्र कहते हैं —

स्याद्वाद [श्रुतज्ञान] और केवलज्ञान दोनों ही सब तत्वोंको प्रकाशित करनेवाले हैं। अन्तर इतना है कि स्याद्वाद असाक्षात् (परोक्ष) है और केवलज्ञान साक्षात् १ (प्रत्यक्ष-अनुभवमूलक) है।

विशेषावश्यक भाष्य में भी केवलज्ञान और श्रुतज्ञान को बराबर कहा है। वहाँ कहा है कि श्रुतज्ञान की स्वपर्याय और परपर्यायें केवलज्ञान से कम होनेपर भी दोनों मिलकर केवलज्ञान के बराबर २ हैं।

इस से यह बात अच्छी तरह समझमें आजाती है कि केवलज्ञान, विषय की दृष्टिसे श्रुतज्ञान से अधिक नहीं है। प्राचीन मान्यता यही है और उस मान्यताके भग्नावशेष रूप ये उद्धरण हैं। पीछे से केवलज्ञान का जब विचित्र और असंभव अर्थ किया गया तब इन या ऐसे वाक्यों के अर्थ करने में भी खींचातानी की गई। फिर भी ये उद्धरण इतने स्पष्ट हैं कि वास्तविक बात जानने में कठिनाई नहीं रह जाती।

त्रिकाल त्रिलोक की समस्त द्रव्यपर्य्यायों को न तो केवलज्ञान जान सकता है और न श्रुतज्ञान जान सकता है। परन्तु जैनविद्वान् श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में यह बात स्वीकार करने के लिये तैयार हैं किन्तु केवलज्ञान के विषय में स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं

---

१ स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्वप्रकाशने। भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्। आप्तमीमांसा, देवागम, १०५।

१२ सयपज्जाएहि उ केवलेण तुल्लं न होइ न परेहिं। सपरपज्जाए हि तु तुल्लं तं केवलेणेव। ४९३

है। परन्तु जब दोनों बराबर हैं तब दोनों को एक सरीखा मानना चाहिये। जैनाचार्यों ने दोनों ज्ञानों को सर्वतत्त्व-प्रकाशक और समस्त वस्तुद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानात्मक कहा है। अष्टसहस्री में विद्यानन्दी कहते हैं-- "स्याद्वाद और केवलज्ञान जीवादि सात तत्त्वों के एक सरीखे प्रतिपादक हैं इसलिये दोनों ही सर्वतत्त्व--प्रकाशक कहे जाते [१] हैं।"

गोम्मटसार टीका में कहा गया है---श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही समस्त वस्तुओं के द्रव्य गुण पर्यायों को जाननेवाले हैं इसलिये समान हैं। (२)

इन उद्धरणोंसे यह बात साफ़ मालूम होती है कि प्राचीन मान्यता तत्त्वज्ञ को सर्वज्ञ कहने की हैं। जो तत्त्वज्ञ है वह समस्त द्रव्यगुणपर्यायों का ज्ञाता है। इसीलिये श्रुतज्ञान भी समस्त द्रव्यगुण-पर्यायज्ञानात्मक कहा गया है।

प्रश्न--जब जैनाचार्य श्रुतज्ञान और केवलज्ञान को बराबर मानते हैं तब केवलज्ञान को श्रुतज्ञान के समान सान्तविषय क्यों माना जाय? श्रुतज्ञान को ही केवलज्ञान के समान अनन्त विषय क्यों न माना जाय?

उत्तर--अनन्त द्रव्य पर्यायों का ज्ञान श्रुतज्ञान नहीं हो सकता है इस विषय में हमारा अनुभव, युक्ति और जैनशास्त्र सभी

---

१ 'जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वमितिवचनात्' तत्प्रतिपादनाविशेषात् स्याद्वादकेवलज्ञानयोः सर्वतत्त्वप्रकाशनत्वम्। अष्टसहस्री १०५।

२ श्रुतज्ञान केवलज्ञान चेति द्वे ज्ञानं बोधात् समस्त वस्तु द्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानात् सदृशे समाने भवतः। गोम्मटसार टीका ३६९

एक स्वर में स्वीकार करते हैं —'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु (तत्त्वार्थ) अर्थात् मति और श्रुतज्ञान द्रव्यों की सब पर्यायों को (यहां तक कि अनन्त पर्यायों को भी--सर्वार्थसिद्धि) विषय नहीं कर सकते। युक्ति भी कहती है कि श्रुतज्ञा एक ही साथ तो सब पर्यायों का ज्ञान कर नहीं सकता है और क्रम से ज्ञान करे तो अनन्तकाल बीत जाय फिर भी ज्ञान न होगा। हमारा आपका अनुभव तो इस बात का साक्षी है ही। इस प्रकार श्रुतज्ञान तो निश्चित ही सब पदार्थों को नहीं जानता तब उसके बराबरी का केवलज्ञान सब को कैसे जान सकता है !

ऊपर अष्टसहस्री का जो उद्धरण दिया गया है उससे यह बात बहुत साफ़ मालूम होती है कि जीवादि सात तत्त्वों के प्रतिपादन करने से श्रुतज्ञान और केवलज्ञान सर्वतत्त्व प्रकाशक हैं। इसका यही मतलब निकला कि सात तत्त्वों का प्रकाशन ही सर्वज्ञता है। इससे रत्नत्रय की भी एक विषमता सिद्ध होती है। जीवादि सप्त तत्त्वों का विश्वास सम्यग्दर्शन, इन्हीं सप्ततत्त्वों का ज्ञान सम्यग्ज्ञान, इन्हीं का आचरण—आत्मा में योग्य रीति से उतारना सम्यक् चारित्र। जब साततत्त्वों का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और केवलज्ञान सम्यग्ज्ञान का भेद है तब केवलज्ञान भी सप्ततत्त्वों को ही विषय करनेवाला कहलाया। तत्त्व का अर्थ है प्रयोजनभूत पदार्थ सो उन्हीं का ज्ञान सम्यग्ज्ञान या केवलज्ञान है। अप्रयोजनभूत अनन्त पदार्थों का ज्ञान व्यर्थ है असम्भव तो वह है ही।

इस प्रकार श्रुतज्ञान और केवलज्ञान की बराबरी भी सर्वज्ञता के प्रचलितरूप का खण्डन करती है।

प्रश्न--यदि अपराविद्या के क्षेत्र में केवली और श्रुतकेवली दोनों बराबर हैं तो धर्मप्रचार का कार्य दोनों एक सरीखा कर सकते होंगे या उनके इस कार्य में कुछ अन्तर है ?

उत्तर--अनुभव से निकलनेवाले वचनोंका प्रभाव और मूल्य बहुत अधिक होता है। इसलिये केवली अधिक जगदुद्धार कर सकते हैं। केवली का ज्ञान, मर्म तक पहुँचा हुआ होता है। श्रुतकेवली शास्त्र के अनुसार बोलता है और केवली के बोलनेके अनुसार शास्त्र बनते हैं। केवली को यह देखने की आवश्यकता नहीं है कि शास्त्र क्या कहता है; जब कि श्रुतकेवली अपने वक्तव्य के समर्थन में शास्त्र की दुहाई देता है। दोनों की योग्यता के इस अन्तर से समाज के ऊपर पड़नेवाले प्रभाव में भी अन्तर पड़ता है।

प्रश्न--कोई मनुष्य शास्त्र की पर्वाह नहीं करता। क्या उसे आप केवली कहेंगे ? अथवा कोई शास्त्रज्ञान के साथ अनुभव से भी काम लेता है तो क्या उसे आप केवली कहेंगे ?

उत्तर--एक परमयोगी कपड़ों की या वेषभूषा की पर्वाह नहीं करता और एक पागल भी नहीं करता, तो दोनों एक सरीखे नहीं हो जाते। शास्त्र की लापर्वाही अज्ञान से भी होती है और उत्कृष्ट ज्ञानसे भी होती है। इसलिये शास्त्र की लापर्वाही से ही कोई केवली नहीं हो जाता; वह लापर्वाही अगर ज्ञानमूलक हो तभी वह केवली कहा जा सकता है। शास्त्रज्ञान के साथ थोड़ा बहुत अनुभव तो प्रायः सभीको होता है, परन्तु जबतक वह अनुभव पूर्ण और व्यापक नहीं हो जाता तबतक कोई केवली नहीं कहला सकता। केवलज्ञान अनन्त

धार्मिक सत्यको प्राप्त करने की कुंजी है, जिसे कि श्रुतकेवली पा नहीं सका है। श्रुतकेवली सत्यका सिर्फ रक्षक है, जब कि केवली सर्जक (बनानेवाला) भी है।

प्रश्न--शास्त्र में लिखा है कि केवली जितना जानते हैं उससे अनंतवाँ भाग कहते हैं और जितना कहते हैं उससे अनंतवाँभाग श्रुतबद्ध १ होता है। तब श्रुतज्ञान और केवलज्ञान का विषय एक बराबर कैसे हो सकता है?

उत्तर--शास्त्रों में केवलज्ञान और श्रुतज्ञान को बराबर बताया है। फिर, दूसरी जगह अनन्तवाँ भाग कहा। इस पारस्परिक विरोध से मालूम होता है कि श्रुतके अनंतवें भाग की कल्पना तब की गई थी जब केवलज्ञान की विकृत परिभाषा का प्रचार हो गया था। दूसरा ओर दोनों का समन्वय करने वाला उत्तर यह है कि अनंतवें भाग का कथन अनुभव की गंभीरता की अपेक्षा से है न कि विषय की अधिकता की अपेक्षा से। एक आदमी मिश्री का स्वाद लेकर दूसरे को उसका परिचय शब्दों में देना चाहे तो घंटों व्याख्यान देकर भी अनुभव के आनन्द को शब्दों में नहीं उतार सकता। इसलिये ज्ञेय पदार्थों की अपेक्षा अभिलाप्य (बोलने योग्य) पदार्थ अनन्तभाग कहे गये हैं। एक मनुष्य जीवनभर में जितने व्याख्यान दे सकता है उतनेका श्रुतबद्ध होना भी अशक्य है, खासकर उस युगमें जब शास्त्र लिखे नहीं जाते थे और शीघ्रलिपि का जिन दिनों नाम भी न सुना गया था। इसलिये अभिलाप्य से श्रुतनिबद्ध अंश अनन्तवाँ भाग बताया गया है। यहाँ अनन्तवाँ भाग का अर्थ

---

१ पण्णवणिज्जाभावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं। पण्णवणिज्जाणं पुण अणंततमागो सुदणिबद्धो ॥ गो. जी. ३३४।

'बहुत थोड़ा' करना चाहिये। क्योंकि कोई जीवनभर बोलता रहे, तो भी अनंत अक्षर नहीं बोल सकता; एक अक्षर भी अगर श्रुत-निबद्ध हो तो वह संख्यातवाँ भाग ही कहलायगा। शास्त्रों में जहाँ गुणों की या भावों की तरतमता बताई जाती है या उससे मतलब होता है वहाँ अनंतभाग कह दिया जाता है।

प्रश्न–श्रुतनिबद्धभाग अनंतभाग भले ही न हो परन्तु केवली की वाणी से कम तो अवश्य है। ऐसी हालत में केवलज्ञान और श्रुत-ज्ञानका विषय बराबर कैसे कहा जा सकता है?

उत्तर–श्रुतनिबद्ध-शब्दों के समूह को श्रुतज्ञान नहीं कहते किन्तु उससे जो ज्ञान पैदा होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। तीव्र मतिवाला मनुष्य, थोड़े शब्दोंसे भी बहुत ज्ञान कर लेता है। इस-लिये केवली जो कुछ कहना चाहते हैं किन्तु शब्दों में उतनी शक्ति न होने से वे कह नहीं पाते उसे श्रुतकेवली उनके थोड़े शब्दों से ही जान लेता है। मतलब यह है कि केवली और श्रुत-केवली के बीच जो शब्द-व्यवहार है वह थोड़ा होनेपर भी उसका कारणरूप केवली का ज्ञान और कार्यरूप श्रुतकेवली का ज्ञान एक बराबर होता है। द्वादशांग की उत्पत्ति पर विचार करने से भी यही बात सिद्ध होती है।

जितना द्वादशांग का विस्तार है उतना तीर्थंकर नहीं कहते वे तो बहुत संक्षेप में कहते हैं किन्तु वंश बुद्धिधारी गणधर उसका विस्तार करके द्वादशांग बना डालते हैं १। इसी प्रकार केवली के

१ सो पुरिसाविक्खाए थोवं भणइ न उ बारसंगाइं। अत्थो तदावक्खाए, सुत्तं चियगणहराण तं॥ ११२२ — विशेषावश्यक

थोड़े शब्दों से भी श्रुतकेवली का पूरा मतलब समझ जाते हैं। इसीलिये दोनों का ज्ञान का बराबर है। हाँ, उनमें अनुभव की तरतमता अवश्य रह जाती है।

प्रश्न– यह अनुभव की तरतमता एक पहेली है। आप श्रुतकेवली का ज्ञान केवली के बराबर मानते हैं। श्रुतकेवली केवली का पूरा आशय समझ जाते हैं, वे थोड़े शब्दों का बहुत विस्तार भी कर सकते हैं यह भी मानते हैं; तब समझ में नहीं आता कि श्रुतकेवली के अनुभव में अब क्या कमी रह जाती है ? क्या केवली बनने के लिये सब पुण्य पाप आदि का भोग करना पड़ता है ? आखिर क्या बात है जिसे आप अनुभव कहते हैं।

उत्तर– आशयको समझना एक बात है; किन्तु वह आशय किस आधार पर खड़ा हुआ है आदि उसमें गहरा प्रवेश करना दूसरी बात है। केवली में जो आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार होता है वही उस अनुभव का बीज है जो श्रुतकेवली में नहीं होता। तत्त्व का ठीक ठीक निर्णय अपने ही द्वारा करने के लिये जिस परम वीतरागता की आवश्यकता होती है वह भी श्रुतकेवली को प्राप्त नहीं होती इसलिये भी वह पूर्ण सत्य को प्राप्त कर नहीं पाता। ये ही सब विशेषताएँ केवली की हैं जो अनुभवरूप या अनुभव का कारण कहीं जातीं हैं। अनुभव को शब्दों से कहना असम्भव है इसलिये वह यहाँ भी शब्दोंसे नहीं कहा जा सकता फिर भी विषय को यथाशक्ति स्पष्ट करने के लिये गुणस्थान-चर्चा के आधार पर कुछ विचार किया जाता है।

श्रुतकेवली सामान्यतः छट्ठे सातवें गुणस्थान में रहता है और केवली तेरहवें गुणस्थान में। श्रुतकेवली को केवली बनने के लिये आठवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक एक श्रेणी चढ़ना पड़ती है। उस श्रेणी में जो कुछ काम होता हो वही श्रुतकेवली से केवली की विशेषता समझना चाहिये।

श्रेणी में दो कार्य होते हैं, एक तो कषायों का क्षय और दूसरा ध्यान, अर्थात् किसी वस्तुपर गम्भीर विचार। बस, कषायक्षय से होनेवाली पूर्ण वीतरागता और ध्यान से पैदा होनेवाली गम्भीरता ही केवली की विशेषता है। जबतक किसी वस्तु में थोड़ा भी राग या द्वेष होता है तबतक हम उसकी हेयोपादेयता का ठीक ठीक निर्णय नहीं कर सकते। इसलिये पूर्ण सत्य की प्राप्ति के लिये पूर्ण वीतरागता चाहिये। पूर्णवीतरागता का अनुभव करने के लिये ध्यान की आवश्यकता होती है। किसी एक ध्येय वस्तु पर पूर्णवीतरागता से उपयोग लगाना ही ध्यान है। इस ध्यान की सिद्धि ही केवलज्ञान की विशेषता है जो कि श्रुतकेवली में नहीं होती।

प्रश्न—ध्यान में तो एक ही वस्तु का विचार किया जाता है। उस से एक ही वस्तु के सत्य की प्राप्ति होगी। इतने को पूर्ण सत्य की प्राप्ति कैसे कह सकते हैं? अथवा क्या कोई ऐसी वस्तु है जिसकी प्राप्ति से पूर्ण सत्य की प्राप्ति होती है?

उत्तर—किसी महल में प्रवेश करने के अगर सौ द्वार हैं तो उसमें जानेके लिए कोई सौ द्वारों में से नहीं जाता किन्तु किसी एक ही द्वार से जाता है। इसीप्रकार सत्यरूपी महल में भी एक

ही द्वार से प्रवेश किया जाता है। किसी वस्तुके विचार में वीत-रागता मुख्य है न कि वह वस्तु। प्रारम्भ में तो वह अनेक वस्तुओं पर विचार करता है परन्तु अन्तमें वह एक ही वस्तु पर विचार करता १ है। ध्यान के लिये किसी नियत वस्तुका चुनाव आवश्यक नहीं है, वह किसी भी वस्तु पर विचार कर सकता है २। हाँ, विचार करने की दृष्टि नियत है। वह है हेयोपादेयताका ठीक ठीक अनुभव। वस्तु तो अभ्यास का अवलम्बन मात्र है। किसी भी एक अवलम्बन से सिद्धि हो सकती है।

प्रश्न—यदि किसी एक वस्तुपर विचार करने से केवली बनता है तो केवली बनने के पहिले श्रुतकेवली बनने की आवश्यकता नहीं है।

उत्तर—श्रुतकेवली बने बिना पूर्णवीतरागता से ध्यान लगा-कर केवली बना जा सकता है। परन्तु यह राजमार्ग नहीं है। राजमार्ग यही है कि पहिले श्रुतकेवली बना जाय। श्रुतकेवली को आत्मोद्धार के मार्ग का पूर्ण और विस्तृत ज्ञान होता है जिसे अनु-भवात्मक बनाकर केवली बना जाता है। ऐसा ही केवली आत्मोद्धार के साथ जगदुद्धार कर सकता है। इसलिये केवलज्ञान का कारणभूत शुक्लध्यान श्रुतकेवली के ही बताया है। मतलब यह है कि सामान्य

---

१ जिस ध्यानमें क्रमसे अनेक वस्तुओंपर विचार किया जाता है उसे पृथक्त्व वितर्क कहते हैं और जिसमें एक वस्तुपर दृढ़ता आजाती है वह एकत्व-वितर्क कहलाता है। देखो तत्वार्थ. अध्याय नवमा, 'अविचारं द्वितीयम्', 'विचारोऽर्थ व्यञ्जनयोग संक्रान्तिः' ॥

२ जं किं च वि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू। लद्धूणय एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्चयं झाणं। दव्वसंगह।

राजमार्ग यही है कि श्रुतकेवली बने बिना शुक्लध्यान नहीं हो सकता [1] और शुक्लध्यान के बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता । परन्तु शास्त्रों में ऐसे भी दृष्टान्त मिलते हैं जो श्रुतकेवली बने बिना केवली बन गये हैं । खास कर गृहस्थावस्था में रहते हुए ही जिनको केवलज्ञान हुआ, अथवा नवदीक्षित होते ही जो केवली हो गये अर्थात् अंगपूर्वों का पूर्ण अभ्यास करने का जिनको समय नहीं मिला अथवा जिनने जैनलिंग धारण नहीं किया और पूर्ण वीतरागता [2] प्राप्त करके केवलज्ञान पैदा किया, वे श्रुतकेवली बने बिना ही केवली बन गये हैं ।

तत्त्वार्थ में इस विषय में सूत्ररूप प्रमाण मिलता है । मुनि पाँच तरह के होते हैं । चौथा भेद निर्ग्रंथ और पाँचवाँ स्नातक है । स्नातक अरहन्तको कहते हैं । अरहन्त के समान पूर्णवीतराग अर्थात् यथाख्यात चारित्रधारी मुनि निर्ग्रंथ कहलाता है । यह निर्ग्रंथ बारहवें गुणस्थान में [3] होता है । बारहवें गुणस्थान के लिये श्रेणी चढ़ना आवश्यक है और श्रेणी के लिये शुक्लध्यान आवश्यक है और शुक्लध्यान के लिये श्रुतकेवली होना आवश्यक है, इसलिये प्रत्येक निर्ग्रंथ मुनि

---

१ 'शुक्लेचाद्येपूर्वविदः–'तत्त्वार्थ ९-३७ । 'पूर्वविदः श्रुतकेवलिनः इत्यर्थः'-सर्वार्थसिद्धि । 'आद्येशुक्लेध्याने पृथक्त्ववितर्कैकत्ववितर्केपूर्वविदोभवतः' त० भाष्य ९-३९ ।

२ इस बातका विवेचन पाँचवें अध्याय में किया जायगा ।

३ उदके दंड राजिवत्संनिरस्तकर्माणोंतर्मुहूर्त केवल ज्ञान-दर्शन-प्रापिणो निर्ग्रंथाः । राजवार्तिक ९-४६-४ । निर्ग्रंथस्नातकाः एकस्मिन्नेव यथाख्यात संयमे । त० वा० ९-४७-४ । निर्ग्रंथस्नातकौ एकस्मिन् यथाख्यातसंयमे । ९-४९ त. भाष्य ।

श्रुतकेवली होगा। उपर्युक्त राजमार्ग के अनुसार यही बात कहना चाहिये। परन्तु आगे चलकर लिखा गया है कि निर्ग्रन्थके ज्याद: से ज्याद: श्रुत चौदह पूर्व तक होता है और कम से कम अष्ट प्रवचन मातर: (सिर्फ पाँच समिति तीन गुप्तिका ज्ञान)। यहाँ विचारणीय बात यह है कि जब श्रुतकेवली बने बिना निर्ग्रन्थ नहीं बनता तब सिर्फ समिति-गुप्ति-ज्ञानी निर्ग्रन्थ मुनि कैसे होगा? इससे मालूम होता है कि राजमार्ग के अनुसार तो श्रुतकेवली ही निर्ग्रन्थ बनता है और पीछे वही केवली हो जाता है और अपवाद के अनुसार साधारण ज्ञानी भी श्रेणी चढ़कर केवली होते हैं। इसीलिये समिति-गुप्तिज्ञानी भी निर्ग्रन्थ बनते हैं, और ध्यान की सिद्धि होनेपर केवली हो जाते हैं।

प्रश्न-आपके कहने से मालूम होता है कि केवलज्ञान से अनुभव में वृद्धि होती है, न कि विषय के विस्तार में। ऐसी हालत में जब जघन्य या मध्यम ज्ञानी निर्ग्रन्थ, केवली बनता होगा, तब उसका ज्ञान, श्रुतकेवली बनकर केवली बननेवालों की अपेक्षा कम रहता होगा। इतना ही नहीं किन्तु अन्य श्रुतकेवली की अपेक्षा भी उसका ज्ञान कम होता होगा। क्या किसी केवली का ज्ञान श्रुतकेवली से भी कम हो सकता है?

उत्तर--आत्मसाक्षात्कार और ज्ञान की निर्मलता की दृष्टिसे केवलियों में न्यूनाधिकता नहीं होती किन्तु बाह्यज्ञान की अपेक्षा न्यूनाधिकता होती है। इस बातको मैं दर्पण आदि के उदाहरण देकर साबित कर आया हूँ। इसी दिशा में श्रुतकेवली से भी किसी किसी केवली का बाह्यज्ञान कम हो सकता है।

शास्त्रों में जो मुंडकेवलियों का वर्णन आता है उनकी उपपत्ति भी इसी अर्थ में बैठ सकती है। मुंडकेवली १ उन्हें कहते हैं जो अपना उद्धार तो करलेते हैं किन्तु सिद्धान्तरचना नहीं करते, व्याख्यानादि नहीं देते। ये बाह्यातिशयशून्य होते हैं। इन केवलियों के मूक होने का और कोई कारण नहीं है, सिवाय इस बातके कि उनने श्रुतकेवली होकर केवलज्ञान नहीं पाया जिससे व्याख्यान आदि दे सकते। ये केवली बाह्यज्ञान में श्रुतकेवलियों से बहुत कम रहते हैं इसलिये इन्हें चुप रहना पड़ता है। इसीलिये इन्हें अतिशय आदि प्राप्त नहीं होते। अगर इनके ज्ञानमें कमी न होती तो कोई कारण नहीं था कि इनका व्याख्यान आदि न होता।

इन शास्त्रीय विवेचनों से सर्वज्ञ और केवलज्ञान का अर्थ ठीक ठीक मालूम होने लगता है और मुंडकेवली, जघन्यज्ञानी निर्ग्रन्थ आदि की समस्याएँ भी हल हो जातीं हैं।

सर्वज्ञताकी बाह्यपरीक्षा

(त्रिविध केवली)

सर्वज्ञता की चर्चा खूब विस्तार से सप्रमाण-सयुक्तिककर दी गई है। सर्वज्ञताके स्वरूप के विषय में जो मेरा वक्तव्य है उससे अनेक पुरानी समस्याएँ हल होतीं हैं, साथ ही ऐतिहासिक घटनाओं का भी समन्वय हो जाता है। बाह्यपरीक्षा से वास्तविक अर्थ के समर्थन के लिये तथा कुछ विशेष प्रकाश डालने के लिये यहां कुछ विवेचन और किया जाता है।

१–आत्ममात्रतारक मूकान्तकृत्केवल्यादिरूप मुंडकेवलिनो … । स्याद्वादमंजरी ।

जैनशास्त्रों में अनेक तरह के केवलियों का उल्लेख आता है। सुभीते के लिये उन सबका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

तीर्थंकर– ये धर्मतीर्थ के संस्थापक होते हैं। जगत् की समस्याओं का स्वयं अनुभव से अध्ययन करते हैं, अनुभव से ही उसका उपाय सोचते हैं। फिर वीतराग और परमज्ञानी होकर धर्म-संस्थापक बनते हैं। इनका कोई गुरु नहीं होता। इनसे बढ़कर पद किसी का नहीं माना जाता। ये परम सुधारक होते हैं। इनके अनुभव का इतिहास विशाल होता है।

गणधर– ये तीर्थंकर के साक्षात् शिष्य होते हैं, इन्हें तीर्थंकरके दाहिने हाथ कहना चाहिये। ये गण के नायक कहलाते हैं। यद्यपि ये श्रुतकेवली होते हैं फिर भी इनका महत्व केवलियों से भी अधिक होता है। इनके सैकड़ों शिष्य केवली होते हैं। तीर्थंकर के व्याख्यानोंका संग्रह करना इन्हीं का काम है। अन्त में ये भी केवली हो जाते हैं।

सामान्य केवली– तीर्थंकर और गणधरों को छोड़कर बाकी केवली सामान्य केवली कहलाते हैं। ये अनेक तरह के होते हैं।

स्वयं-बुद्ध–बाह्यनिमित्तों के बिना जो ज्ञानी होते हैं वे स्वयं-बुद्ध हैं। तीर्थंकर भी स्वयंबुद्धों में १ शामिल हैं। इनके अतिरिक्त भी स्वयंबुद्ध होते हैं। ये संघ में रहते हैं और नहीं भी रहते। ये पूर्वमें श्रुतकेवली होते हैं और नहीं भी होते २ हैं। जिनको श्रुत नहीं

[१] स्वयमेव बाह्यप्रत्ययमन्तरेणैव निजजातिस्मरणादिना सिद्धा स्वयंबुद्धा ते च द्विधा तीर्थंकराः तीर्थंकरव्यतिरिक्ताश्च। नन्दिवृत्तिः।

(२ – स्वयंबुद्धानां पूर्वाधीतं श्रुतं भवति न वा। नन्दीवृत्ति।

होता वे नियम से संघमें रहते १ हैं।

प्रत्येक बुद्ध–ये बाह्यनिमित्तों से बुद्ध होते हैं। इन्हें पहिले कम से कम ग्यारह अंग का और ज्यादा से ज्यादा दश पूर्वका ज्ञान होता है और ये अकेले विहार करते हैं।

बोधित बुद्ध–ये गुरु का अवलम्बन लेकर ज्ञानी बनते हैं। ये भी अनेक तरह के होते हैं।

मूककेवली–ये उपदेश आदि नहीं देते। इनकी मूकताका कारण पहिले बताया जा चुका है।

श्रुतकेवली–ये वास्तव में केवली नहीं हैं किन्तु गणधर-रचित शास्त्रों के या तीर्थंकर के उपदेश के पूर्णज्ञाता होते हैं।

इन भेदों से मालूम होता है कि जितने केवलज्ञानी हैं वे चारित्र की दृष्टि से और आत्मज्ञान की दृष्टि से समान होने पर भी बाह्यज्ञान या श्रुतज्ञान में न्यूनाधिकता रखते हैं। बाह्यज्ञान की यह न्यूनाधिकता केवलज्ञान होने पर भी रहती है। इसलिये कोई कोई केवली उपदेश नहीं देते, कोई संघ में मिलकर रहते हैं, आदि। यद्यपि स्वयंबुद्धादिक तीन भेद अकेवली मुनियों के भी कहे जा सकते हैं परन्तु ये केवली के भी होते हैं। यहां उन्हीं से मतलब है।

[संघमें केवलियोंका स्थान]

शास्त्रों में तीर्थंकरों के परिवारका जहाँ भी वर्णन आता है। उसमें केवलियों का जो स्थान है उससे केवलज्ञान के स्वरूप पर

(१)–अथ पूर्वाधीतं श्रुतं न भवति तर्हि नियमाद्गुरुसन्निधौ गत्वा लिंगं प्रतिपद्यते, गच्छं च अवश्यं न मुञ्चति।

भी कुछ प्रकाश पड़ता है। तीर्थंकर के परिवार में सब से पहिले गणधरों का नाम लिया जाता है, फिर चौदह पूर्वधारियों का, फिर उपाध्याय या अवधिज्ञानियों का, फिर केवलियों का। आत्मविकास की दृष्टि से देखा जाय तो केवलियों में तीर्थंकर से कुछ भी अन्तर नहीं है, इसलिये संघ में उनका स्थान सर्वप्रथम होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं है। इससे मालूम होता है कि यह क्रम लौकिक महत्व की दृष्टि से रक्खा गया है। गणधरों का लौकिक महत्व इसलिये अधिक कहा जा सकता है कि वे तीर्थंकर के साक्षात् शिष्य, संघ के नायक और अन्य केवलियों के भूतपूर्व गुरु होते हैं। परन्तु श्रुतकेवलियोंका स्थान केवलियोंसे भी पहिले रक्खा गया इसका कारण क्या है ? यदि केवलज्ञान का अर्थ त्रिकालत्रिलोकका ज्ञान हो तो केवलियोंके आगे श्रुतकेवली किसी गिनती में नहीं रहते।

केवली, आत्मानुभवकी गम्भीरतामें श्रुतकेवलियों से बढ़चढ़े हैं परन्तु वह आत्मानुभव जगत् को लाभ नहीं पहुँचा सकता। जो बाह्यज्ञान (अपराविद्या) जगत् को दिया जासकता है वह श्रुतकेवलियोंमें तो नियमसे पूर्ण होता है किन्तु केवलियों में कोई ग्यारह अंग दसपूर्व तक के ही पाठी होते हैं, कोई ग्यारह अंग तक के और कोई एक भी अंग के नहीं। इसलिये जो शास्त्रीय लाभ श्रुतकेवलियों से नियम से मिल सकता है वह केवलियों से नियम से नहीं मिल सकता। यही कारण है कि उनका नाम श्रुतकेवलियों के भी पीछे रक्खा गया है।

शास्त्रों में यह भी वर्णन मिलता है कि तीर्थंकर के साथ

सैकड़ों केवली रहा करते हैं १ समवशरणमें केवलियों के बैठने के लिये एक स्थान निर्दिष्ट रहता है जैसा कि अन्य प्राणियों के लिये रहता है। अब प्रश्न यह है कि केवलियों को तीर्थंकर के पास रहने की क्या ज़रूरत है? चारित्र की वृद्धि और रक्षण की तो उन्हें आवश्यकता नहीं है जिसके लिये वे तीर्थंकर के साथ रहें। तीर्थंकरके पास दूसरा लाभ व्याख्यान सुनने का है सो जब केवली त्रिकालदर्शी है तो उसे व्याख्यान सुनने की भी क्या ज़रूरत है? वह तो केवलज्ञान में सदा से उनका व्याख्यान सुन रहा है और बिना व्याख्यान के ही वे बातें जान रहा है। हाँ, अगर केवली अपराविद्या में कुछ कम हो तो तीर्थंकर के व्याख्यान सुनने से उसे लौकिक लाभ हो सकता है, और उसके लिये वह तीर्थंकर के पास रह सकता है।

प्रश्न—अपराविद्या में केवली कम हों तो भी उन्हें व्याख्यान सुनने की क्या ज़रूरत है, क्योंकि उनने पराविद्या प्राप्त करली है?

उत्तर—आत्मोद्धार के लिये उन्हें कुछ ज़रूरत नहीं है, किन्तु प्रत्येक मनुष्य को जीवित रहने तक समाजसेवा करना चाहिये, जिसके लिये अपराविद्या की ज़रूरत है।

प्रश्न—केवली तो कृत्यकृत्य होता है। उसे अब कुछ करने की ज़रूरत क्या है?

उत्तर—कृतकृत्य तो तीर्थंकर भी होते हैं किन्तु यदि वे जीवन

---

(१)—इअखवगसेणिपत्ता समणा चउरो वि केवली जाया। ते गंतूण जिणन्ते केवलिपरिसाइ आसीणा। १८३ कुम्मापुत्तचरियं। (चारों मुनि केवली होकर तीर्थंकरके पास गये और केवलिपरिषद्में बैठे।)

भर लोकसेवा करते हैं तो अन्य केवलियों को क्या बाधा है ? कृत-कृत्यका अर्थ इतना ही है कि उसे अपने कल्याण के लिये कुछ करना बाकी नहीं है। लोककल्याण करने से और उसके साधन जुटाने से कोई अकृतकृत्य नहीं होता।

तीर्थंकर के पास केवलियों के रहने की बात दिगम्बरों को भी मान्य है। यदि केवली अपनी इच्छा से कहीं आ जा नहीं सकते, यहाँ तक कि हाथ पैर भी नहीं चला सकते तो केवली तीर्थंकरके साथ कैसे रहा करते हैं ? समवशरण में सामान्य केवलियों के अतिशयों का कोई उल्लेख शास्त्रों में नहीं मिलता। इसप्रकार संघ में केवलियों के स्थान से निःपक्ष पाठकों के लिये केवलज्ञान के विषय में कुछ संकेत अवश्य मिलता है।

[सर्वज्ञत्वकी जाँच]

महात्मा महावीर चंपापुरके पूर्णभद्र वनमें ठहरे थे। वहाँ जमालि (म. महावीर का दामाद) आया और बोला कि आपके बहुतसे शिष्य केवली हुए बिना ही काल करगये, परन्तु मैं ऐसा नहीं हूँ, मैं केवली होगया हूँ। उसकी यह बात सुनकर इन्द्रभूति गौतम बोले " जमालि ! यदि तुम केवली हो तो बोलो—जगत् और जीव नित्य है कि अनित्य? " जमालि इसका ठीक ठीक उत्तर न देसका फिर महात्मा महावीरने उसका समाधान १ किया।

इस प्रकरणमें विचारणीय बात यह है कि जमालिने सर्वज्ञत्वका अभिमान किया था इसलिये उसकी जाँचके लिये ऐसा प्रश्न करना

(१) त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र पर्व १० सर्ग ८।

चाहिये था जिससे उसका त्रिकालत्रिलोकका अज्ञान मालूम होता। नित्यानित्य आदिके प्रश्नतो तत्वज्ञताकी परीक्षा कर सकते हैं। इससे मालूम होता है उससमय तत्वज्ञता ही सर्वज्ञता समझी जाती थी। इस वार्तालाप से यह भी मालूम होता है कि सर्वज्ञ मशीन की तरह अनिच्छापूर्वक नहीं बोलता। अन्यथा जमालि के ऊपर गौतमके द्वारा ऐसे आक्षपभी किये गये होते कि तू इच्छापूर्वक बोलता है, इसलिये केवली नहीं है आदि।

तत्वज्ञही सर्वज्ञ है और तत्वज्ञताका बीज स्याद्वाद है इसलिये गौतमने जमालिसे स्याद्वाद सम्बन्धी प्रश्न किया। आचार्य समन्तभद्र भी इसविषयकी साक्षी देते हैं—

" भगवन्! 'सारा जगत् प्रतिसमय उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है'। इस प्रकार का आपका बचनही सर्वज्ञता का (१) चिह्न है।"

जिसप्रकार किसी कक्षाके प्रश्नपत्रको देखकर यह अन्दाज लगाया जासकता है कि इस कक्षा का कोर्स क्या है इसीप्रकार गौतमके द्वारा ली गई जमालिकी परीक्षासे सर्वज्ञत्वके कोर्स का अन्दाजा लगता है।

जिस समय जमालि हारगया किन्तु जब उसने अपना आग्रह न छोड़ा तब संघने उसे बाहर कर दिया। महावीरकी पुत्री प्रियदर्शना भी साध्वीसंघ में थी। उनने देखाकि महावीरका पक्ष ठीक नहीं है जमालि का पक्ष ठीक है तो उनने जमालिको ही जिन

(१) स्थितिजननिरोधलक्षणं चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम्। इति जिन सकललाञ्छनं वचनमिदं वदतां वरस्य ते। बृहत्स्वयम्भू ११४।

मान कर म. महावीरका शिष्यत्व छोड़ दिया। बहुतदिनों तक प्रियदर्शना एक हजार आर्यिकाओंका नेतृत्व करती हुई जमालि की अनुयायिनी रहीं। बाद में एकबार ढंक नामक एक कुम्हार ने बड़ी चतुराईसे प्रियदर्शना के पक्ष की गल्ती सिद्ध की जिससे प्रियदर्शना ने जमालिका पक्ष छोड़ दिया और सब आर्यिकाओं को लेकर फिर म. महावीर की शिष्यता स्वीकार की। अन्य मुनि भी जमालिका साथ छोड़कर फिर म. महावीर के पास लौट आये।

इस चर्चा में बहुतसी ध्यान देने योग्य बातें हैं—

१– जैनशास्त्रोंके अनुसार यदि सर्वज्ञका अर्थ त्रिकालत्रिलोक-दर्शी माना जाय तो म. महावीर की पुत्री एक हजार आर्यिकाओंकी नायिका म. महावीर को छोड़कर जमालिका पक्ष कभी न लेती। जमालि अपने पक्ष को सत्य कह सकता था और प्रियदर्शना आदि को धोखा देकर अपने पक्ष में ले सकता था। परन्तु अगर वह अपने को त्रिकालत्रिलोकदर्शी कहता तो अपने मनकी बात पूछकर या और कोई आड़ा टेढ़ा प्रश्न पूछकर उसकी सर्वज्ञता की जाँच हो जाती, और प्रियदर्शना आदि को धोखा न खाना पड़ता।

२–सर्वज्ञतीर्थंकरों के पास करोड़ों देव आते हैं, उनका रत्नमय समवशरण देव बनाते हैं। इसके अतिरिक्त उनके अनेक अतिशय होते हैं। ऐसी हालत में म. महावीर के वे अतिशय जमालिके पास नहीं हो सकते थे। इसलिये प्रियदर्शनाको यह भ्रम कभी नहीं हो सकता था कि म. महावीर जिन नहीं हैं और जमालि जिन है। इसलिये यह स्पष्ट समझ में आता है कि तीर्थंकर, केवली आदि के बाह्य अतिशय भक्तिकल्प्य हैं।

३-ढंकने जब प्रियदर्शनाके पक्षको असत्य सिद्ध किया और म. महावीर के पक्षको सत्य सिद्ध किया तब उन्हें म. महावीर फिर सर्वज्ञ मालूम होने लगे इससे भी मालूम होता है कि सर्वज्ञता--असर्वज्ञता धार्मिक सत्य और असत्यका ही नामान्तर था न कि त्रिकाल-त्रिलोक का ज्ञान और अज्ञान।

(महावीर और गोशाल)

एकबार गोशालक अपने आजीवक-संघ के साथ श्रावस्ती नागरी में आये। तब नगर के चौराहों तिगड्डों आदिपर जगह जगह लोग इस प्रकार की चर्चा करने लगे कि **गोशालक जिन** हैं, वे अपने को जिन कहते हैं और इस नगर में आये (१) हुए हैं। इसी समय महात्मा महावीर के मुख्य शिष्य इन्द्रभूति गौतम भिक्षा लेने नगर में गये। उनने भी सुना कि लोग गोशालक को जिन कहते हैं। उन्हें खेद हुआ और उनने लौटकर महात्मा महावीर से पूछा कि लोग गोशालक को जिन कहते हैं, क्या यह बात ठीक है? तब म. महावीर ने गोशालक का जीवन-चरित्र कहा और कहा कि वह जिन नहीं है। वह पहिले मेरा शिष्य था। यह बात नगर में फैलगई, और लोग कहने (२) लगे कि महात्मा महावीर कहते हैं कि गोशालक अपने को जिन कहता है परन्तु उसका

---

१ तएणं सावत्थीए नयरीए सिंघाडग जाव पहेसु बहुजणो अन्नमन्नस्स एव माइक्खइ जाव एवं परूवेइ एवं खलु देवाणुप्पिया गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी जाव पगासेमाणे विहरइ। भगवती०।

२- जं णं देवाणुप्पिया गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी जाव विहरइ तं मिच्छा। समणे भगवं महावीरे एवं आइक्खइ जाव परूवेइ। भगवती०।

यह कहना मिथ्या है। गोशालक को भी इस बात का समाचार मिला। अपनी बदनामी से उसे बहुत क्रोध [१] आया। इसी समय महात्मा महावीर के शिष्य आनन्द नामक स्थविरमुनि उसी रास्ते से निकले। उन्हें बुलाकर गोशालक ने कहा 'आनन्द! तेरा धर्म-गुरु देव मनुष्य असुरों में [२] मेरी निन्दा करता है; अब अगर फिर वह निन्दा करेगा तो मैं उसे और उसके परिवार को राखका ढेर कर दूंगा'। आनन्द घबराये और म. महावीर से सब समाचार कहा और पूछा कि क्या गोशालक ऐसा कर सकता है? महावीर ने कहा कि वह जिनेन्द्र को नहीं मार सकता, परन्तु दूसरों को मार सकता है। इसलिये जाओ, तुम गौतम आदि से कहदो कि कोई गोशालक के साथ वाद विवाद आदि न करे! इसके बाद गोशालक आजीवक संघ के साथ म. महावीर के पास आया और उसने कहा कि तुम्हारा शिष्य गोशालक तो मर के देव हो गया है, मैं तो उदायी मुनि हूं जो कि इस शरीर में आगया हूं। तुम मुझे अपना शिष्य मत कहो! महावीर ने दृढ़ता से कहा—तुम उदायी नहीं हो किन्तु वही गोशालक हो। तब गोशालक ने महावीर को गालियां दीं। तब सर्वानुभूति और सुनक्षत्र नामक मुनियों ने गोशालक को फटकारा। गोशालक ने दोनों को मारडाला और म. महावीर पर भी तेजोलेश्या (कोई मान्त्रिक शक्ति या विषैली दवा) से प्रहार किया। तेजोलेश्या लौटकर गोशालक को लगी, (अथवा म. महावीरने अपने

१– तएण गोसाले मंखलिपुत्ते बहुजणस्स अन्तियं एयमट्ठं सोच्चा निसम्म- आसुरुत्ते जाव मिसिमिसेमाणे आयावण भूमीओ पच्चोरुहइ।

२– सदेवमणुयासुरे लोए.... ....।

बल से उसे लौटादिया)। जिससे गोशालक का शरीर जलने लगा। म. महावीर भी बीमार हो गये । गोशालक ने कहा, तुम अभी बच गये परन्तु सात दिन में मर जाओगे । म. महावीर ने कहा—मैं अभी १६ वर्ष तक जिऊंगा, तुम्हीं सात दिनमें मरजाओगे । [१६ वर्ष की बात महावीर-निर्वाणके बाद दिन गिनकर आचार्योंने लिख दी है]

यह समाचार शहर में पहुँचा । लोग आपस में बातचीत करने लगे कि श्रावस्ती नगरी के कोष्ठक चैत्यमें दो जिन लड़ रहे हैं एक कहता है कि तू पहिले मरेगा, दूसरा कहता है कि तू पहिले मरेगा । न जाने इनमें कौन सत्यवादी है और कौन मिथ्यावादी है १।

गोशालक की मन्त्रशक्ति निष्फल जाने पर म. महावीरने अपने शिष्यों से कहा कि अब गोशाल राख आदि के समान निर्वीर्य हो गया है, अब यह कुछ नहीं कर सकता इसलिये अब युक्ति दृष्टान्तों से इसकी (२) बोलती बन्द करदो । म. महावीर के शिष्यों ने ऐसा ही

---

१ तएणं सावत्थीए नयरीए बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ ··· एवंखलु देवाणुप्पिया सावत्थीए नयरीय बहिया कोट्ठए चेइए दुवे जिणा सलवंति एगे वयंति तुमं पुव्विं कालं करेस्ससि एगे वदंति तुमं पुव्विं कालं करेस्ससि । तत्थ णं के पुण सम्मावाई के पुण मिच्छावाई ?

२ समणे भगवं महावीर समणे निग्गंथ आमंतेत्ता एवं वयासी—अज्जो से जहानामए तणरासीइवा कट्ठरासीइवा पत्तरासीइवा तुसरासीइवा भुसरासीइवा गोमयरासी इवा अवक्खरासी इवा अगणिझामिए अगणिझूसिए अगणिपरिणामिए हयतेये गयतेये नट्ठतेये लुत्ततेये विणट्ठतेये जाव एवामेव गोसाले मखलिपुत्ते मम वहाए, सरीरगंसितेजं निसिरत्ता हयतेय जाव विणट्ठतेय जाये, तं छंदेणं अज्जो तुब्भं गोसालं मंखलिपुत्तं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएह, पडिचोइत्ता धम्मियाए पडिसारणाए पडिसारेह २ धम्मिएण पडोयारेणं पडोयारेह २ अट्ठेहिय हेऊहिय पसिणेहिय वागरणेहिय कारणेहिय निप्पट्ठपसिण वागरणं करेह ।

किया। गोशाल दाँत पीसता रहा और मुनियों का कुछ भी न कर सका तब गोशालके बहुत से शिष्य म. महावीर के अनुयायी हो गये और कुछ गोशाल के ही अनुयायी रहे। पीछे गोशालक को अपने कार्य पर पश्चात्ताप हुआ। वह मर कर अच्युत स्वर्ग गया ......।

भगवती सूत्र के गोशालविषयक लम्बे प्रकरण का यह सार है। जैन ग्रन्थ होने से इसमें गोशालक के साथ कुछ अन्याय हुआ हो, यह बहुत कुछ संभव है, परन्तु यह कदापि सम्भव नहीं है कि इसमें म. महावीर की शान के खिलाफ़ कुछ कहा गया हो। फिर भी भक्त लोगों की दृष्टि में उन की शान के खिलाफ़ कुछ मालूम हो तो उसे स्वाभाविक वर्णन समझना चाहिये। दिगम्बर लोग इसे नहीं मानते, परन्तु यह किसी भी तरह सम्भव नहीं है कि श्वेताम्बर लोग म. महावीर का अपमान करने के लिये यह कथा गढ़ डालें। श्वेताम्बर भी म. महावीर के उतने ही भक्त हैं जितने कि दिगम्बर। इसलिये अगर वे कोई कल्पित बात लिखें तो वह ऐसी ही होगी जो म. महावीर का महत्त्व बढ़ावे। अगर महत्व घटानेवाली मनुष्योचित स्वाभाविक घटना लिखी गई है तो समझना चाहिये कि वह सत्य के अनुरोध से लिखी गई है। खैर, गोशालक प्रकरण में निम्नलिखित बातें ध्यान देने लायक हैं।

(१) श्रावस्ती नगरी के लोग महावीर को भी जिन समझते हैं और गोशालक को भी, इससे मालूम होता है कि दोनों की बाह्य विभूति आदि में कोई ऐसा अन्तर न था जैसा कि शास्त्रों में अतिशय आदि से कहा गया है; अन्यथा जन-साधारण भ्रम में न पड़ते।

[२] इस प्रकरण में म. महावीर की बातचीत से दिव्यध्वनि आदि का वर्णन विरुद्ध जाता है। इच्छारहित वाणी [जो कि केवलज्ञान के स्वरूप को बनाये रखने के लिये कल्पित की गई है] आदिका स्पष्ट विरोध है।

[३] गोशालक कहता है कि देव असुरोंमें तेरा धर्म-गुरु मेरी निन्दा करता है। इससे मालूम होता है कि देव असुर एक जाति के मनुष्य थे। स्वर्ग के देव यदि म. महावीर के पास आते होते तो गोशालक की हिम्मत ही न पड़ती कि वह म. महावीर के पास आता या उनसे विरोध करता। यह हो नहीं सकता कि स्वर्ग के देव गोशाल के पास भी जाते हों, क्योंकि देवताओं से गोशालक का असली रूप छिपा नहीं रह सकता था। केवली और तीर्थंकर कैसे होते हैं, यह बात विदेह आदि के परिचय से देवताओं को मालूम रहती है। देवता आते होते तो गोशालक यह भी नहीं कह सकता था कि गोशालक मरकर देव होगया है, मैं तो उदायी हूँ, क्योंकि उसके वक्तव्य के विरोध में देवता सारा भंडाफोड़ कर सकते थे। इस के अतिरिक्त देवताओं की उपस्थिति में गोशालक मुनियों को भस्म कर दे, म. महावीर पर भी लेश्या छोड़े, और देवता कुछ भी न कर सकें, यह असम्भव है। इसलिये मालूम होता है कि देव शब्द का अर्थ स्वर्ग के देव नहीं किन्तु नरदेव और धर्मदेव हैं। भगवतीसूत्र १ में पाँच तरह के देव बतलाये हैं– भव्य द्रव्य देव, नरदेव, धर्मदेव, देवाधिदेव, भावदेव। जो मनुष्य या तिर्यञ्च देवगति

---

१ कतिविधा ण भंते देवा पण्णत्ता? गोयमा पंचविधा देवा पण्णत्ता तं जहा : वियदव्व देवा, नर देवा, धम्मदेवा देवाधिदेवा भावदेवा य। भ० १२-९-४६१

के योग्य कर्म करता हो अर्थात् जिसके विषय में लोग यह कल्पना करें कि यह मरकर देवगति में जायगा वह भव्यद्रव्यदेव है। राजा आदि श्रेष्ठ पुरुष नरदेव हैं। साधु लोग धर्मदेव हैं। अरहंत देवाधिदेव हैं, और स्वर्ग आदि के देव भावदेव हैं। गोशालक अपने को देवाधिदेव मानता है इसलिये वहाँ प्रारम्भ के तीन देव ही लेना चाहिये। नरलोक में देवताओं का जहाँ भी वर्णन आता हो वहाँ भावदेव को छोड़कर बाकी देव लेना चाहिये।

(४) गोशालकके आक्रमणकारी विचार म. महावीरको केवलज्ञानसे नहीं, किन्तु आनन्द मुनिसे मालूम होते हैं, इसके बाद वे गौतम आदिको चुप रहनेका सन्देश भेजते हैं। केवलज्ञानसे यदि यह बात जानी जासकती तो म. महावीरने गौतम आदिको महीनों पहिले ही यह सूचना दी होती और सर्वानुभूति और सुनक्षत्रको तो सख्त आज्ञा दी जाती कि वे बिलकुल चुप रहें, अथवा वे बाहर भेज दिये जाते जिससे वे मरनेसे बचजाते। यदि कहा जाय कि उनका भवितव्य ऐसा ही था तब तो महात्मा महावीर को बिलकुल चुप रहना चाहिये था। गौतम आदिको चुप रहनेका सन्देश भी क्यों भेजा ?

(५) श्रावस्तीके लोग कहते हैं कि कोष्ठक चैत्य में (इससे देवनिर्मित समवशरणका भी अभाव सिद्ध होता है) दो जिन आपसमें लड़ते हैं। लोग दोनों को ही जिन समझते हैं। क्या उन्हें मालूम नहीं कि महात्मा महावीर तो त्रिकालत्रिलोककी बातें बताते हैं जब कि गोशालक नहीं बता पाता। इससे भी मालूम होता है कि केवलज्ञान उच्चतम श्रेणीका आत्मज्ञान है जिसे साधारण

कारण सर्वज्ञाभासता है और सर्वज्ञाभासता अगर विद्वत्ताके क्षेत्र की चीज़ है तो सर्वज्ञता भी विद्वत्ताके क्षेत्रकी चीज़ है, दोनों में सिर्फ़ सत्य और मिथ्याका अन्तर हो सकता है, दोनोंके क्षेत्रका प्रचलित भेद नहीं हो सकता। मतलब यह है कि मिथ्याशास्त्रोंके ज्ञानी को ही सर्वज्ञम्मन्य कहना इस बातकी निशानी है कि सत्यशास्त्रों के विशेषज्ञाता ही सर्वज्ञ हैं।

[सर्वविद्याप्रभुत्व]

दिगम्बर सम्प्रदाय में केवलज्ञान के जो अतिशय बताये गये हैं, उन में एक सर्वविद्याप्रभुत्व भी है। इस से माल्रूम होता है कि तीर्थंकर केवली सर्वविद्याओं के प्रभु होते हैं अर्थात् वे सब शास्त्रों के विद्वान् होते हैं। अतिशयों के वर्णनमें इस बात पर कुछ विवेचन किया गया है। यहाँ सिर्फ़ उस तरफ़ संकेत कराया गया है।

(सर्वज्ञ-चर्चा का उपसंहार)

सर्वज्ञत्व के विषय में बहुत कुछ कहा गया है। थोड़ीसी शास्त्रीय चर्चा और बाक़ी है। वह चर्चा मैंने इसलिये नहीं की है कि उसका सम्बन्ध प्रमाण के अन्यभेदों के साथ है; इसलिये जब भेदप्रभेदों का वर्णन होगा तब उसका स्पष्टीकरण होगा। उस से भी सर्वज्ञत्व के ऊपर बहुत प्रकाश पड़ेगा। श्री धवला में जो दर्शन-ज्ञान के लक्षण, प्रचलित लक्षणों से भिन्न किये गये हैं, उनका खुलासा भी वहीं होगा। यहाँ तो मैं उपसंहार-रूप में दो तीन बातें कह देना चाहता हूँ।

कुछ लोग कहेंगे कि सर्वज्ञत्व की प्रचलित परिभाषा को न मानने से तीर्थंकरों का—ख़ासकर महात्मा महावीरका—अपमान होता है। परन्तु उनको यह भ्रम निकाल देना चाहिये। असम्भव

बात को अस्वीकार करने में किसी का अपमान नहीं होता। हाँ, अगर इस प्रकार की सर्वज्ञता सम्भव होती और फिर भी मैं कहता कि म. महावीर सर्वज्ञ नहीं थे या जैन तीर्थंकर सर्वज्ञ नहीं होते, तब अपमान कहा जा सकता था। परन्तु, यहाँ तो इस प्रकार की सर्वज्ञता ही असम्भव बताई गई है; इसलिये वह किसी में भी नहीं हो सकती। तब महात्मा महावीर में या अन्य किसी तीर्थंकर में भी कैसे होगी ?

अगर मैं कहूँ कि तीर्थंकर में यह शक्ति नहीं है कि वे एक परमाणु को बिलकुल नष्ट कर दें; तो इसका यह अर्थ न होगा कि मैं तीर्थंकर को कमज़ोर बता रहा हूँ, उनकी अनंतवीर्यता में सन्देह कर रहा हूँ, और उनका अपमान कर रहा हूँ। जब किसी भी सत् पदार्थ का नाश होना असम्भव है तब परमाणु का भी नाश कैसे होगा ? और जिसका नाश हो नहीं सकता उसका नाश तीर्थंकर भी कैसे कर सकते हैं ? यह कहने में तीर्थंकर का ज़रा भी अपमान नहीं, इसी प्रकार सर्वज्ञत्व अगर असम्भव है तो तीर्थंकर में भी वह कैसे होगा ?

कोई कहेगा कि अगर तीर्थंकर सब पदार्थ नहीं जानते तो वे मोक्षमार्ग कैसे बताँयगे ? तो इसका उत्तर यह है कि तीर्थंकर मोक्षमार्ग के पूर्ण और सत्यज्ञाता हैं, इसलिये इस में कोई बाधा नहीं है।

प्राणियों का लक्ष्य सुख है न कि ज्ञान। इसलिये उन्हें सर्वज्ञत्व नहीं चाहिये पूर्ण सुख चाहिये। सुख का सम्बन्ध निराकुलता से है न कि अधिक ज्ञान से। जो जितने अधिक पदार्थों को जाने

वह उतना ही अधिक निराकुल हो, ऐसा नियम नहीं है । इसलिये समस्त जगत् के जाननेकी चिन्ता क्यों करना चाहिये ? हमें तो सिर्फ सुखोपयोगी ज्ञान की ही आवश्यकता है और उसी की पूर्णज्ञता ही सर्वज्ञता है ।

इस प्रकार प्रचलित सर्वज्ञता असम्भव होने के साथ अनावश्यक भी है । परन्तु इतने से ही खैर नहीं है किन्तु उसने मनुष्य समाज का घोर अहित किया है । पिछले कई हज़ार वर्ष से भारतवर्ष किसी भी क्षेत्र में प्रगति नहीं कर रहा है । दूसरे देश जोकि भारत वर्ष से बहुत पिछड़े थे, वे आविष्कारों के भण्डार हो गये । उनने नई बातों की खूब खोजकी है और पुरानी खोजों को खूब आगे बढ़ाया है, उन्हें बालक से युवा बनाया है । परन्तु हमारे यहाँ के विद्वान् ऐसा नहीं कर सके इसका कारण यह नहीं था कि यहाँ बुद्धिमान नहीं थे । थे, परन्तु उनकी बुद्धि क़ैद करदी गई थी । हज़ार में नवसौ निन्यानवे विद्वानों के मन पर ये संस्कार सुदृढ़ छाप लगाचुके थे कि जो कुछ कहना था सर्वज्ञ ने कहदिया है, इससे ज्याद: कुछ कहा नहीं जा सकता, हम लोग सर्वज्ञ हो नहीं सकते, जो ज्ञान नष्ट हो गया है वह आज की ज्ञानतपस्या से आ नहीं सकता । इस प्रकार के संस्कारों को पैदा करनेवाली सर्वज्ञत्वकी यह विचित्र परिभाषा ही है । सभी देशों में सर्वज्ञत्वकी इस विचित्र परिभाषा ने नानारूपों में मनुष्य की बुद्धि को क़ैद किया है, हज़ारों वर्ष तक मनुष्य की प्रगति के मार्ग में रोड़े अटकाये हैं । आचार और आत्मशुद्धि का रोधक मिथ्यात्व या नास्तिकत्व ज्ञान के क्षेत्र में आकर प्रगति के मार्ग में पिशाच बनकर बैठा है और लाखों

विद्वानों को आगे बढ़ने से रोका है । सर्वज्ञत्व के वास्तविक स्वरूपको समझकर हमें अब प्रगति के मार्ग में बढ़ना चाहिये । इससे हम सत्य की रक्षा भी करते हैं, अनावश्यक अन्धविश्वास के बोझ से भी बचते हैं, और प्रगति के मार्ग में स्वतन्त्रता से आगे भी बढ़ते हैं ।

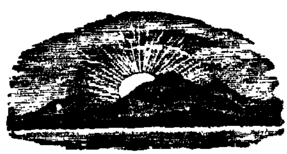

पाँचवाँ अध्याय

ज्ञान के भेद

प्रचलित मान्यताएँ

चतुर्थ अध्याय में मैंने ज्ञानके शुद्ध और सर्वोत्तम रूप (सर्वज्ञत्व) की आलोचना की है। इस अध्याय में ज्ञानके सब भेद-प्रभेदों की आलोचना करना है । ज्ञानके भेदप्रभेदों की शस्त्र-चिकित्सा करूं, इसके पहिले यह अच्छा होगा कि मैं इस विषय में वर्तमान मान्यताओं का उल्लेख करदूँ । वे इस प्रकार हैं:–

[क] ज्ञानके दो भेद हैं—सम्यग्ज्ञान और मिथ्या-ज्ञान। सम्यग्ज्ञान के दो भेद हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के दो भेद हैं, सकल और विकल। सकल का कोई भेद नहीं, वह केवलज्ञान है। विकल के दो भेद हैं, अवधि और मनः--पर्यय। परोक्ष के दो भेद हैं, मति और श्रुत। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद हैं। ये प्रमाण कहलाते हैं।

[ख] मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान अगर मिथ्या-दृष्टि के होते हैं तो मिथ्याज्ञान कहलाते हैं, इस प्रकार ज्ञान के कुल आठ भेद हैं।

[ग] केवलज्ञान का वर्णन चौथे अध्याय में होगया। जो इन्द्रियमन की सहायता के बिना रूपी पदार्थों को स्पष्ट जाने वह

अवधिज्ञान है। और जो इन्द्रियमन की सहायता के बिना दूसरे के मन की बात स्पष्ट जाने वह मनःपर्यय ज्ञान है। ये तीनों ज्ञान आत्ममात्र-सापेक्ष हैं।

[घ] अवधिज्ञान का विषय तीन लोक तक है और मनःपर्यय का सिर्फ़ नर-लोक।

[ङ] मनःपर्यय ज्ञान सिर्फ़ मुनियों के ही हो सकता है।

[च] इन्द्रिय और मन से जो ज्ञान होता है उसे मति-ज्ञान कहते हैं। उसके ३३६ भेद हैं तथा और भी भेद हैं।

[छ] एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का ज्ञान होता है उसे श्रुत (१) कहते हैं। उसके दो भेद हैं अङ्गबाह्य और अङ्ग-प्रविष्ट।

[ज] सब ज्ञानों के पहिले दर्शन होता है।

[झ] सामान्य [सत्तामात्र के] प्रतिभास को दर्शन कहते हैं।

[ञ] दर्शन प्रमाण नहीं माना जाता (२)

[ट] दर्शन के चार भेद हैं। चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल। चक्षु से होने वाला दर्शन चक्षुदर्शन है। बाक़ी इन्द्रियों से होने वाला दर्शन अचक्षुदर्शन (३) है। अवधिज्ञान के पहिले

१– अत्थादो अत्थंतरमुवलंभं तं भणंति सुदणाणं। गोम्मटसार जीवकांड

२– एतच्च (व्यवसायि) विशेषणं अज्ञानरूपस्य व्यवहारानुपयोगितामना-दधानस्य सन्मात्रगोचरस्य स्वसमयप्रसिद्धस्य दर्शनस्य प्रामाण्यपराकरणार्थं। रत्नाकरावतारिका।

३– अचक्षु दर्शनं शेषेन्द्रियविषयम्। तत्त्वार्थ सि. टी. २-९।

होनेवाला दर्शन अवधि-दर्शन है। केवलज्ञान के साथ होनेवाला दर्शन केवलदर्शन है।

(ठ) मतिज्ञानके पहिले चक्षु अथवा अचक्षु दर्शन होता है।

(ड) श्रुत और मनःपर्यय के पहिले दर्शन नहीं होता; ये ज्ञान, ज्ञानपूर्वक होते हैं।

[ढ] विभंगावधि के पहिले भी अवधिदर्शन नहीं होता है (१) मिथ्यादृष्टियों को जो अवधिज्ञान होता है उसे विभंगावधि कहते हैं।

[ण] इन्द्रिय प्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं और वह मतिज्ञान का भेद माना जाता है। अवधि आदि पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं।

[त] प्रत्येक ज्ञान चाहे वह मिथ्या भी हो--स्वपर-प्रकाशक अर्थात् अपने और पर को जानने वाला होता है। (२)

[थ] प्रमाण के एक अंश को नय कहते हैं। यह द्रव्य (सामान्य) अथवा पर्याय (विशेष) दृष्टि से वस्तु को जानता है

(द) नय के सात भेद हैं। और विस्तार से असंख्य भेद हैं।

(ध) मिथ्या-दृष्टियों को पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त नहीं होता।

१– अवधिदर्शनं तु सम्यग्दृष्टेरेव न मिथ्यादृष्टेः। तत्त्वार्थ सि. टी. २-९

२– भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः। बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते। आप्तमीमांसा। ज्ञानस्य-प्रामाण्याप्रामाण्ये अपि बहिरर्थापेक्षयेव न स्वरूपापेक्षया; लघीयस्त्रयटीका।

(दिवाकरजी का मतभेद)

ये सब मान्यताएँ बहुप्रचलित और निर्विवाद मानीं जातीं हैं। इनके विषय में विद्वानों का भी यही विचार है कि ये म. महावीर के समय से चली आरहीं हैं। परन्तु विचार करने से मालूम होगा कि इन में बहुत गड़बड़ाध्याय हुआ है। इतना ही नहीं, किन्तु बहुत से प्राचीन आचार्यों ने इन मान्यताओं के विरुद्ध भी लिखा है। मालूम होता है कि उनका विचार यही था कि "जो बुद्धिगम्य हो और सच्चा सिद्ध हो वही जैनधर्म है। परम्पराके छिन्नभिन्न तथा विकृत होजानेसे महात्मा महावीरके शासनमें भी विकार आगया है। तर्क ही उस विकार को दूर कर सकता है।"

श्री सिद्धसेन दिवाकरने केवलज्ञान और केवलदर्शनके विषयका जो नया मत निकाला था उसकी चर्चा सर्वज्ञत्वके प्रकरणमें होचुकी है। परन्तु उनने दर्शन और ज्ञानका स्वरूप भी बदला है और चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शनके लक्षण भी बदले हैं। इस प्रकार बहुत परिवर्तन कर दिया है। उनका वक्तव्य यह है।

सामान्य ग्रहण दर्शन है, और विशेष ग्रहण ज्ञान है। इस प्रकार दोनों द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय का अर्थ ज्ञान (१) है। ये दोनों उपयोग एक दूसरेको गौण करके जानते हैं। अर्थात् दर्शनमें गौण रूपसे ज्ञान रहता है और ज्ञानमें गौण रूपसे दर्शन रहता है। इसलिये दोनों प्रमाण हैं। वस्तु सामान्य-विशेषात्मक

१— जं सामण्णग्गहणं दंसणमेयं विसेसियं णाणं। दोण्हवि णयाण एसो पाडिक्कं अत्थपज्जाओ। सम्मतितर्क २—१।

है। अगर दर्शन सामान्य-विशेषको न जानेगा और ज्ञान सामान्य विशेषको न जानेगा तो अवस्तु को विषय करनेसे दोनों अप्रमाण हो जावेंगे (१)। ज्ञान और दर्शनका भेद मनःपर्यय ज्ञान तक (छद्मस्थके) है। केवलीके ज्ञानदर्शनका भेद नहीं है (२)। सच तो यह है कि दर्शनभी एक प्रकारका ज्ञान है। दूर रहकर जाने गये (अस्पृष्ट) पदार्थों के अनुमान-भिन्न ज्ञान को दर्शन कहते हैं (३)। अनुमानको दर्शन नहीं कहते। चक्षुरिन्द्रियको छोड़ कर बाकी इन्द्रियोंसे दर्शन नहीं होता, क्योंकि वे प्राप्यकारी हैं। मनसे होने वाले दर्शन को अचक्षु दर्शन [४] कहते हैं। इसीप्रकार सम्यग्दर्शन भी एक प्रकारका ज्ञान ही है (५)।

१– दव्वट्ठिओ वि होऊण दंसणे पज्जवट्ठिओ होइ। उवसामियाईभावं पडुच्च णाणे उ विवरीयं २--२। दर्शनेऽपि विशेषांशो न निवृत्तः नापि ज्ञाने सामान्यांशः। टीका। निराकारसाकारोपयोगौ तूपसर्जनीकृततदितराकारौ स्वविषयावभासकत्वेन प्रवर्तमानौ प्रमाणं न तु निरस्तेतराकारौ, तथाभूत वस्तुरूपविषयाभावेन निर्विषयतया प्रमाणत्वानुपपत्तेरितरांशविकलकांशरूपोपयोगसत्तानुपपत्तेश्च।

२– मणपज्जव णाणंतो णाणस्स य दरिसणस्स य विसेसो। केवलणाणं पुण दंसणं ति णाणं ति य समाणं। सं० २–३।

३– णाणं अपुट्ठे अविसए य अत्थम्मि दंसणं होइ। मोत्तूण लिंगओ जं अणागयाई य विसएसु। स०प्र० २-२५

४– अस्पृष्टेऽर्थरूपे चक्षुषा य उदेति प्रत्ययः स चक्षुर्दर्शनं ज्ञानमेव सत् इन्द्रियाणामविषये च परमाण्वादौ अर्थे मनसा ज्ञानमेव सद् अचक्षुर्दर्शनम्। स०प्र० टीका २-२५।

५– एवं जिणपण्णत्ते सद्दहमाणस्स भावओ भावे। पुरिसस्साभिणिबोहे दंसण सद्दो हवइ जुत्तो। स०प्र २–३२।

दिवाकरजीके इस वक्तव्यसे कहना चाहिये कि उनने पुरानी मान्यताओंमें खूब परिवर्तन किया है।

[१] ज्ञान, दर्शन और सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) को उनने एकही बनादिया है जबकि ये जुदे जुदे माने जाते हैं।

(२) दर्शन और ज्ञान दोनोंको उनने सामान्य-विशेष-विषयी माना है। तथा दर्शनका द्रव्यार्थिक नयसे और ज्ञानका पर्यायार्थिक नयसे सम्बन्ध जोड़ दिया है।

(३) स्पर्शनादि इन्द्रियोंसे उनने दर्शन नहीं माना।

अर्थज्ञान के पहिले निर्विकल्पक प्रतिभास बौद्ध वैशेषिक (१) आदि अनेक दर्शनों ने माना है; परन्तु सभी लोग उसे ज्ञानरूप ही मानते हैं। ज्ञानसे भिन्न सत्ता सामान्य का प्रतिभास समझ में भी नहीं आता। केवल सामान्य या केवल विशेष को जैन लोग विषयरूप नहीं मानते इसलिये ज्ञान-दर्शन को जुदा जुदा समझना ठीक नहीं मालूम होता। इसके अतिरिक्त ज्ञान से भिन्न अगर दर्शन को स्वीकार कर लिया जाय तो सभी दर्शन एक सरीखे हो जाँयँगे, उनमें विषय-भेद बिलकुल न होगा। क्योंकि सभी में सत्ता सामान्य का प्रतिभास है।

ये सब ऐसी समस्याएँ थीं जिनका प्रचलित मान्यता से ठीक ठीक समाधान नहीं होता था। इसलिये दिवाकरजी ने इन परि-

---

१— चक्षुःसंयोगाद्यनन्तरं घट इत्याकारकं घटत्वादिविशिष्टं ज्ञानं न सम्भवति पूर्वं विशेषणस्य घटत्वादेर्ज्ञानाभावात्। विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानस्य कारणत्वात्। तथा च प्रथमतो घटघटत्वयोरवशिष्ट्यानवगाह्येव ज्ञानं जायते तदेव निर्विकल्पकम्। सि० मुक्तावली ५८।

भाषाओं को बदल दिया। जब दर्शन भी ज्ञानरूप सिद्ध हो गया तब ज्ञानके भेदरूप नयोंके साथ सम्बन्ध जोड़ने में भी कुछ विशेष आपत्ति न रही। बल्कि उससे कुछ स्पष्टता मालूम होने लगी।

अचक्षुदर्शन मनका दर्शन ही क्यों लिया, इसका ठीक कारण बतलाना कठिन है, परन्तु सम्भवतः ये कारण हो सकते हैं:—

(१) यदि सब इन्द्रियों से दर्शन माना जाय तो जिस प्रकार चक्षुरिन्द्रियके दर्शन को चक्षुदर्शन कहते हैं उसी प्रकार स्पर्शन इन्द्रिय के दर्शन को स्पर्शनदर्शन कहना चाहिए।

(२) दूरसे किसी पदार्थ को विषय करने पर उसका दर्शन माना जाता है। चक्षु और मन इन दोनों से दूर से वस्तुका ग्रहण होता है इसलिए इन दोनों से ही दर्शन हो सकता है। स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ तो वस्तुको छूकरके जानतीं हैं इसलिये उनका दर्शन नहीं कहा जा सकता।

दिवाकरजी के इन परिवर्तनों से इतना तो मालूम होता है कि डेढ़ हजार वर्षके पहिलेके उपलब्ध वाङ्मयको दिवाकरजी तीर्थंकरोक्त नहीं मानते थे अर्थात् उसको इतना विकृत मानते थे कि सत्यान्वेषीको उसकी जराभी पर्वाह न करना चाहिए। इसलिए दिवाकरजीने निर्द्वंद होकर परिवर्तन किया है। दिवाकरजीके इस प्रयत्नसे जैनवाङ्मय की त्रुटियाँ भी मालूम होतीं हैं। इससे सर्वज्ञकी परिभाषाके ऊपरभी अव्यक्तरूप में कुछ प्रकाश पड़ता है।

दिवाकरजीका यह विचारस्वातन्त्र्य आदरकी वस्तु है। फिरभी उनके प्रयत्नसे समस्या पूर्ण नहीं हुई। निम्नलिखित समस्याएँ खड़ीं रहीं या खड़ीं होगईं।

१--द्रव्यार्थिक नय तो वस्तुके सामान्य अंश को ग्रहण करने वाला विकल्प है। उसका सम्बन्ध निर्विकल्पक दर्शन के साथ कैसे हो सकता है ?

२--यदि दर्शनोपयोग और सम्यग्दर्शन, ज्ञान के अन्तर्गत हैं तो इनके घातके लिये दर्शनावरण और दर्शन-मोह ये जुदे जुदे कर्म क्यों हैं ?

३--छद्मस्थोंके दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है। यदि स्पर्शन आदि इन्द्रियों से दर्शन न माना जायगा तो स्पर्शन, रसन आदि प्रत्यक्ष, दर्शनपूर्वक न होंगे। इस प्रकार छद्मस्थों के भी दर्शनपूर्वक ज्ञान न होगा।

४--अप्राप्यकारी इन्द्रियों (चक्षु और मन) से होने वाले अर्थावग्रह के पहिले व्यञ्जनावग्रह नहीं माना जाता। इससे मालूम होता है कि वे एकदम व्यक्त ज्ञान करा देतीं हैं, तब उन्हें दर्शन की क्या ज़रूरत है ? और जहां व्यञ्जनावग्रह की आवश्यकता है वहां दर्शन भी क्यों न मानना चाहिये ?

५--यदि अचक्षुर्दर्शनका अर्थ मनोदर्शन होता तो उसे अचक्षुर्दर्शन इस शब्द से क्यों कहा गया ? मनोदर्शन क्यों न कहा ? अचक्षु शब्द से चक्षु से भिन्न इन्द्रियों का ज्ञान होता है न कि अकेले मन का।

दिवाकरजी के सामने इस प्रकार की समस्याएँ खड़ी होने का यह मतलब नहीं है कि उनने जो पुरानी परम्परा में दोष निकाले थे उनका परिहार हो गया। इससे सिर्फ़ इतना ही सिद्ध

हुआ कि पुरानी मान्यता भी सदोष है और दिवाकरजी की मान्यता भी सदोष है ।

अन्य मतभेद

दर्शन ज्ञानकी समस्या सुलझानेका प्रयत्न सिर्फ़ दिवाकरजीने ही नहीं किया किन्तु अन्य लोगोंने भी किया है । सिद्धसेन गणीने अपनी तत्त्वार्थ टीकामें इन मतोंका उल्लेख किया है और उनके खण्डनकी भी चेष्टा की है ।

प्रथम मतभेद— निराकारका अर्थ निर्विकल्प और साकारका अर्थ सविकल्प करना ठीक नहीं, क्योंकि इससे केवलदर्शन शक्तिहीन होजायगा और मनःपर्ययमें भी दर्शन होगा । उनमें घटादि सामान्यका ग्रहण होनेपर भी ज्ञान ही हुआ न कि दर्शन । इसलिए आकारका अर्थ लिंग करना चाहिए । स्निग्ध, मधुर आदि शंख शब्दादिकमें जहाँ ग्राह्य पदार्थोंसे भिन्न किसी लिंगसे अथवा ग्राह्यसे अभिन्न किसी साधकसे जो उपयोग हो वह साकार उपयोग है । जो लिंगसे भिन्न साक्षात् उपयोग हो वह अनाकार है इससे पूर्वोक्त दोनों दोषों का परिहार होजायगा (१) ।

सि० गणीका उत्तर [२] तुम्हार यह कहना ठीक नहीं है ।

१— साकारानाकारयोर्यत्केवलदर्शनेशक्त्यभावः प्रसज्यते मनः पर्याये च दर्शनप्रसङ्गः तयोर्हि घटादिसामान्यग्रहणेऽपि ज्ञानमेव तन्न दर्शनमिति । तस्मादाकारो लिंगम्, स्निग्धमधुरादिशब्दादिषु यत्रलिङ्गेन ग्राह्यार्थान्तरभूतेन ग्राह्यैकदेशेन वा साधकेनोपयोगः स साकारः यः पुनर्विना लिंगेन साक्षात् सोऽनाकारः एवंसति पूर्वकं दोषद्वयं परिहृतं भवति । त. टी. २–९

२— तदेतदयुक्तम् यत्तावदुच्यते-केवलदर्शने शक्त्यभावः प्रसजतीति का पुनरसौ शक्तिः ? यदि तावद्विशेषविषयः परिच्छेदः शक्तिशब्दवाच्यः तस्याभावश्चोद्यते

तुमने केवल-दर्शनमें जो शक्तिका अभाव बतलाया है वहाँ शक्ति शब्दका क्या मतलब है ? यदि विशेष विषयके परिच्छेदको शक्ति कहते हो तो केवलदर्शनमें उसका अभाव हमें मंजूर है। यदि शक्तिका अर्थ सामान्य अर्थका ग्रहण है तो उसे दर्शन ही न कहसकेंगे क्योंकि उससे फिर क्या देखा जायगा ? मनःपर्यय दर्शनकी बात तुमने आगमके अज्ञानसे कही है। आगममें चार ही दर्शन बतलाये हैं। यहाँ हमें आगमानुसार बात करना है। अपनी अक्कके नमूने नहीं बतलाना है। भगवतीमें मनःपर्याय ज्ञानीके दो या तीन दर्शन ही बतलाये गये हैं, अवधिज्ञानवालेके तीन और अवधिज्ञानरहितके दो। इसलिए मनःपर्यायमें दर्शन नहीं होसकता।

यहाँ गणीजीने आगमकी दुहाई और बुद्धिकी निन्दा करके अपनी अन्धश्रद्धाका परिचय दिया है और विरोधी को दबाना चाहा है; परन्तु इससे विरोधीका खण्डन नहीं हुआ, उसका मतभेद खडा ही रहा है।

बौद्धदर्शनमें प्रत्यक्षको निर्विकल्पक कहा है विरोधीका मत भी उसी तरहका माल्रूम होता है।

ततोऽभिलषितमेव सद्गृहीतं स्यात्। अथ सामान्यार्थग्रहणं शक्त्यभावश्चोद्यते ततस्तस्य दर्शनार्थतैवानुपपन्ना स्यात्। किं हि तेन दृश्यते ? यदप्युक्तं मनःपर्याये दर्शनप्रसङ्गः इति तदागमानवबोधादयुक्तम्। नह्यागमे मनःपर्यायदर्शनमस्ति; चतुर्विधदर्शनश्रवणात्। आगम प्रसिद्धं चेहोपनिबध्यते न स्वमनिषिका प्रतन्यते इति। मनःपर्याय ज्ञानिनो हि भगवत्यामाशीविषोद्देशके (श. ८, उ. २. सू. ३२१) द्वे-त्रीणि वा दर्शनान्युक्तानि अतो गम्यते यो मनःपर्यायविदवधिमांस्तस्य त्रयमन्यस्य द्वयम् अन्यथा त्रयमेवाभविष्यत्। तत्रागमप्रसिद्धस्य व्याख्या क्रियते। निर्विकल्पोऽर्थोऽनाकारार्थं यद्दर्शनं तन्निर्विकल्पकम्। अतो न मनःपर्यायदर्शनप्रसंगः। त.टी.२-९

दूसरा मतभेद—ज्ञान दर्शनसे भिन्न बिलकुल निर्विकल्पक उपयोग अलग होता है । विग्रह गतिमें जबकि ज्ञान दर्शन सम्भव नहीं है उस समय वह उपयोग रहता है । भगवतीमें भी द्रव्य, कषाय, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चरण, वीर्य, इसप्रकार के आत्माष्टकमें उपयोग को ज्ञान दर्शनसे जुदा बतलाया [१] है ।

सि० गणीका उत्तर—विग्रहगतिमें लब्धि-रूप ज्ञान दर्शन रहता है, और भगवतीमें यह साफ़ लिखा है कि उपयोगात्मा ज्ञानरूप या दर्शनरूप होता है । इस प्रकार स्पष्ट सूत्र होने पर भी हम नहीं समझते कि मोहसे मलिन बुद्धिवालों को ये बातें कहाँसे सूझतीं [२] हैं ।

तीसरा मतभेद—आत्माके मध्यमें आठ प्रदेश ऐसे हैं जो कर्मसे नहीं ढँकते, उनका चैतन्य भी अविकृत रहता है । उसे उपयोगका एक स्वतन्त्रभेद मानना चाहिये ।

सि० गणीका उत्तर—इसका उत्तर दूसरे मतभेदके उत्तरसे हो जाता है (३) ।

१– ननु च ज्ञानदर्शनाभ्यामर्थान्तरभूत उपयोगोऽस्त्येकान्तनिर्विकल्पः । एवं च विग्रहगतिप्राप्तानां ज्ञानदर्शनोपयोगासम्भवेऽपि जीवलक्षणव्याप्तिरन्यथा ह्यव्यापकं लक्षणं स्यात् । आगम एवोपयोगात्मा ज्ञानदर्शनव्यतिरिक्त उक्तः । भगवत्यां द्वादश शते द्रव्यकषाययोगोपयोगज्ञानदर्शनचरणवीर्यात्मानोऽष्टौ भवन्ति ।

२ 'जस्स उवयोगाता तस्स नाणाया वा दंसणाया वा णियमा अत्थि' एवंसूत्रेऽतिस्पष्टेऽपि विभक्ते न विद्मः कुत इदन्तेषाम्मोहमलीमसधियामागतम् ।

३ एतेन कर्मानावृतप्रदेशाष्टकाविकृतचैतन्यसाधारणावस्थोपयोगभेदः प्रत्यस्तोऽवगतव्यः ।

चौथा मतभेद—वर्तमान कालको विषय करनेवाला और सत्पदार्थोंको ग्रहण करनेवाला दर्शन है और त्रिकाल को विषय करनेवाला ज्ञान है।

सि० गणीका उत्तर—यह ठीक नहीं है वर्तमानकाल सिर्फ़ एक समय रूप होने से इतना छोटा है कि उसका विवेचन नहीं हो सकता (१)।

ये चारों मतभेद ठीक हैं या नहीं यह मैं नहीं कहना चाहता और गणीजी के उत्तर कितने प्रबल हैं यह बतानेकी भी ज़रूरत नहीं है। हमें तो सिर्फ़ इतना समझना चाहिये कि ज्ञान दर्शनकी समस्या अधूरी रही है। उसकी प्रचलित मान्यता को सदोष समझ कर उसको ठीक करने के लिये अनेक जैनाचार्योंने अपनी अपनी कल्पनासे कसरत कराई है।

अभी तकके मतभेद श्वेताम्बर सम्प्रदायमें प्रचलित हैं परन्तु यह विषय सम्प्रदायातीत है इसलिये इन्हें जैनशास्त्रोंका ही मतभेद कहना चाहिये। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि दिगम्बर शास्त्रोंमें मतभेद हैं ही नहीं। यहाँ एक मतभेद उपस्थित किया जाता है।

आलापपद्धतिमें (२) प्रमाणके दो भेद कहेगये हैं। सविकल्प

---

१ अपरे वर्णयन्ति-वर्तमानकालविषयं सदर्थग्रहणं दर्शनम्; त्रिकालविषयं साकार ज्ञानमिति, एतदपिवार्तम् वर्तमानस्य परम निरुद्ध समयरूपत्वाद्विवेचनाभावः।

२ तद्द्वेधा सविकल्पेतरभेदात्। सविकल्पं मानसं तच्चतुर्विधम मतिश्रुताव-धिमनः पर्ययरूपम्। निर्विकल्पं मनोरहितं केवलज्ञान। इति प्रमाणस्य व्युत्पत्तिः स द्वेधा सविकल्प निर्विकल्पभेदात् इति नयस्य व्युत्पत्तिः।

और निर्विकल्प। सविकल्प मानसिक है। उसके चार भेद हैं मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय। निर्विकल्प मनरहित है, वह केवलज्ञान है। इसीप्रकार नयके भी दो भेद हैं सविकल्प और निर्विकल्प।

देवसेन सूरिके इस वक्तव्यसे निम्नलिखित बातें सिद्ध होतीं हैं।

(१) अवधि और मनःपर्यय ज्ञान, इन्द्रिय और मनकी सहायता विना माने जाते हैं परन्तु यह प्रचलित मान्यता ठीक नहीं है। अवधि और मनःपर्ययभी मति श्रुतके समान मानसिक हैं। यह मैं कह-चुका हूँ कि नन्दीसूत्रमें केवलज्ञान को भी मानसिक प्रत्यक्ष कहा है।

(२) केवलज्ञान निर्विकल्प है इससे मालूम होता है कि केवलज्ञान केवदर्शनसे पृथक् नहीं है। अर्थात् वह त्रिकालत्रिलोकके पदार्थोंको भेद रूपसे विषय नहीं कर सकता।

(३) नयके भेद निर्विकल्प सविकल्प हैं। इससे मालूम होता है कि सिद्धसेन दिवाकरने जिसप्रकार दर्शनज्ञानका सम्बन्ध द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकके साथ लगाया है उसीप्रकार देवसेन भी लगाना चाहते हैं।

यदि विकल्प शब्दका अर्थ 'भेद' कियाजाय तो समस्या और जटिल होजाती है। उस समय निर्विकल्पका अर्थ होगा अभेदरूप ज्ञान। तब तो केवलज्ञान, वेदान्तियोंकी या उपनिषदोंकी अद्वैतभावना-रूप होजायगा। वह त्रिलोकत्रिकालको जाननेवाला न रहेगा। इसके अतिरिक्त नयोंका 'निर्विकल्प' नामक भेद न बन सकेगा।

यदि विकल्प शब्दका अर्थ संकल्प-विकल्प किया जाय तो बारहवें गुणस्थान में जब कि एकत्व वितर्क शुक्लध्यान होता है निर्विकल्प ज्ञान मानना पड़ेगा क्योंकि वहाँ न तो कोई कषाय रहती है, न ज्ञानमें चंचलता रहती है। वह निर्विकल्प समाधिकी अवस्था है। परन्तु वहाँ केवलज्ञान नहीं होता, इसलिये केवलज्ञानसे भिन्न ज्ञानोंको भी निर्विकल्प मानना पड़ेगा।

श्रीधवल का मत

दिगम्बर सम्प्रदाय में सब से महान् और पूज्य ग्रन्थ श्रीधवल माना जाता है। श्रीधवल के मतको पिछले अनेक ग्रंथकारोंने सिद्धान्तमत कहा है। लघीयस्त्रय के टीकाकार अभयचंद्र सूरि और द्रव्यसंग्रहके टीकाकार ब्रह्मदेव ने इस मतका उल्लेख किया है। जैन-शास्त्रों की दर्शनज्ञान की चर्चा का यह मत बहुत विचारपूर्ण कहा जा सकता है। प्रश्नोत्तर के रूप में वह यहाँ उद्धृत किया जाता है।

प्रश्न–१ जिसके द्वारा जानते हैं देखते हैं वह दर्शन है, ऐसा कहने पर दोनों में क्या भेद रहेगा ?

उत्तर–२ दर्शन अन्तर्मुख है अर्थात् अपने को जानता है उसको चैतन्य कहते हैं। ज्ञान बहिर्मुख है वह पर पदार्थ को जानता है उसको प्रकाश कहते हैं। उनमें एकता नहीं हो सकती।

---

१ दृश्यते ज्ञायतेऽनेनेति दर्शनं इत्युच्यमाने ज्ञानदर्शनयोरविशेषः स्यात्।

२ इतिचेन्न, अन्तर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्दर्शनज्ञानव्यपदेशभाजोरेकत्व विरोधात्।

प्रश्न--१ आत्माको और बाह्यार्थ को जो जाने उसे ज्ञान कहते हैं ''---यह बात जब सिद्ध है तब 'त्रिकालगोचर अनन्त-पर्यायात्मक जीवस्वरूप का अपने क्षयोपशम से संवेदन करना चैतन्य और अपने से भिन्न बाह्यपदार्थों को जानना प्रकाश यह बात कैसे बन सकती है ? इसलिये ज्ञानदर्शन में भेद नहीं रहता।

उत्तर--२ ज्ञानमें जिस प्रकार जुदी जुदी कर्मव्यवस्था है। अर्थात जैसे उसके जुदे जुदे विषय हैं वैसे दर्शन में नहीं हैं।

प्रश्न- ३ आत्माका और पर पदार्थ का सामान्य ग्रहण दर्शन और विशेष ग्रहण ज्ञान, ऐसा क्यों नहीं मानते ?

उत्तर--४ किसी भी वस्तुका प्रतिभास हो उसके सामान्य और विशेष ये दोनों अंश एक साथ ही प्रतिभासित होंगे। पहिले अकेले सामान्य का और पीछे अकेले विशेष का प्रतिभास नहीं हो सकता।

प्रश्न-- (५) एकही समय में वस्तु सामान्य विशेष रूप प्रति-भासित भले ही हो, कौन मना करता है ?

---

१ त्रिकालगोचरानन्तपर्यात्मकस्य जीवस्वरूपस्य स्वक्षयोपशमवशेन संवेदनं चैतन्यं स्वतोव्यतिरिक्तबाह्यार्थावगतिः प्रकाशः इति अन्तर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्जानात्यनेनात्मानं बाह्यमर्थमिति च ज्ञानमितिसिद्धत्वादेकत्वं ततो न ज्ञानदर्शनयोर्भेदः

२ इतिचेन्न, ज्ञानादिव दर्शनात् प्रतिकर्मव्यवस्थाऽभावात्।

३ तर्हि अस्तु अन्तर्बाह्यसामान्यग्रहणं दर्शनं विशेषग्रहणं ज्ञानम्।

४ इतिचेन्न, सामान्य विशेषात्मकस्य वस्तुनो विक्रमेणोपलम्भात्।

५ सोऽप्यस्तु न कश्चिद्विरोधः।

उत्तर--१ तब तो एक ही समय में दर्शन और ज्ञान दोनों उपयोग मानना पड़ेंगे। परन्तु 'एक समय में दो उपयोग नहीं हो सकते' इस वाक्य से विरोध होगा। दूसरी बात यह है, ज्ञान और दर्शन दोनों अप्रमाण हो जावेंगे। क्योंकि सामान्यरहित विशेष कुछ काम नहीं कर सकता, इसलिये वह अवस्तु है। इतना ही नहीं, किन्तु अवस्तु का ग्रहण भी नहीं हो सकता क्योंकि अवस्तु में कर्तृकर्मरूपका अभाव है। इसी प्रकार दर्शन भी अप्रमाण हो जायगा, क्योंकि विशेषरहित सामान्य भी अवस्तु है।

प्रश्न--२ प्रमाण न माने तो?

उत्तर--३ यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रमाण के अभाव में सारे जगत्का अभाव हो जायगा।

प्रश्न--४ हो जाय!

उत्तर--५ यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जगत् अभावरूप उपलब्ध नहीं होता। इसलिये सामान्यविशेषात्मक बाह्यार्थ ग्रहण ज्ञान और सामान्य विशेषात्मक स्वरूप ग्रहण दर्शन सिद्ध हुआ।

---

१ इतिचेन्न 'हंदि दुवे णत्थि उवजोगा' इत्यनेन सह विरोधात्। अपि च न ज्ञानं प्रमाणं सामान्यव्यतिरिक्तविशेषस्य अर्थक्रियाकर्तृत्वं प्रति असमर्थत्वतः अवस्तुनो ग्रहणात्। न तस्य ग्रहणमपि सामान्यव्यतिरिक्ते विशेषे ह्यवस्तुनि कर्तृकर्मरूपाभावात्। तत एव न दर्शनमपि प्रमाणं।

२ अस्तु प्रमाणाभावः।

३ इतिचेन्न प्रमाणाभावे सर्वस्याभावप्रसङ्गात्।

४ अस्तु।

५ इतिचेन्न तथानुपलम्भात्। ततः सामान्यविशेषात्मकबाह्यार्थग्रहणं ज्ञानं तदात्मकस्वरूपग्रहणं दर्शनमिति सिद्धं।

प्रश्न—१ यदि ऐसा मानोगे तो 'सामान्य ग्रहण दर्शन' है इस प्रकार के शास्त्रवचन से विरोध होगा।

उत्तर--२ न होगा, क्योंकि वहाँ यह भी कहा है कि 'भावों का आकार न करके'। भाव अर्थात् बाह्य पदार्थ उनका आकार अर्थात् जुदी जुदी कर्म [विषय] व्यवस्था न करके जो ग्रहण है वह दर्शन है। इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिए कहते हैं 'अर्थों की विशेषता न करके' ग्रहण करना दर्शन है इसलिये 'बाह्यार्थ-गत सामान्यग्रहण दर्शन है' ऐसा न कहना चाहिये। क्योंकि केवल सामान्य अवस्तु है इसलिये वह किसी का कर्म [विषय] नहीं हो सकता। और न सामान्य के बिना केवल विशेष का किसी से ग्रहण हो सकता है।

प्रश्न--३ यदि ऐसा माना जायगा तो दर्शन अनध्यवसाय हो जायगा। इसीलिये वह प्रमाण न होगा।

उत्तर--४ नहीं; दर्शन में बाह्यार्थ का अध्यवसाय न होने

---

(१) तथाच 'जं सामण्णं गहणं तं दंसणं' इति वचनेन विरोधःस्यात्

(२) इतिचेन्न तदा 'भावाणं णेव कट्टुमायारं' इति वचनात। तद्यथा भावानां बाह्यार्थानामाकारं प्रतिकर्मव्यवस्थामकृत्वा यद्ग्रहणं तद्दर्शनं। अस्यैवार्थस्य पुनरपि दृढीकरणार्थमाह 'अविसेसदूण अट्ठे' इति। अर्थान् अविशेष्य यद्ग्रहणं तद्दर्शनं इति न बाह्यार्थगतसामान्यग्रहणं दर्शनं इति आशङ्कनीयं, तस्य अवस्तुनः कर्मत्वाभावात्। न च तदन्तरेण विशेषो ग्राह्यत्वमास्कन्दति इत्यतिप्रसङ्गात्।

(३) सत्येवमनध्यवसायो दर्शनं स्यात्।

(४) इतिचेन्न, स्वाध्यवसायस्य अनध्यवसितबाह्यार्थस्य दर्शनत्त्वाद्दर्शनं प्रमाणमेव।

पर भी आत्माका अध्यवसाय होता है इसलिये वह प्रमाण है ।

प्रश्न–१आत्मोपयोग को यदि आप दर्शन कहोगे तो आत्मा तो एक ही तरह का है इसलिये दर्शन भी एकही तरह का होगा । फिर दर्शन के चार भेद क्यों किये ?

उत्तर–२ जो स्वरूपसंवेदन जिस ज्ञान का उत्पादक है वह उसी नामसे कहा जाता है । इसलिये चार भेद होने में बाधा नहीं है ।

दर्शन और ज्ञान की यह परिभाषा श्रीधवलकार की अपनी है या पुरानी, यह कहना जरा कठिन है । परन्तु श्रीधवलके पहिले, किसी जैन ग्रंथ में यह परिभाषा मेरी समझ में नहीं पाई जाती । इसके अतिरिक्त श्रीधवलसे पहिले के अनेक आचार्योंने दर्शन ज्ञानके विषय में जो अनेक तरह की चित्र विचित्र कल्पनाएं की हैं उनसे मालूम होता है कि धवलकार के पहिले हजार वर्ष में होनेवाले जैनाचार्य दर्शन ज्ञान की परिभाषा को अंधेरे में टटोलते थे और वास्तविक परिभाषा को ढूंढने में असफल रहे थे अगर धवलाकार यह सोचते कि "भगवान महावीर सर्वज्ञ थे उन्हीं का उपदेश जैन ग्रंथों में लिखा है, उसका विरोध करके मैं मिथ्यादृष्टि क्यों बनूं ?" तो वे यह खोज न कर पाते । परन्तु उनने मन में यही विचार किया होगा कि "भगवान सर्वज्ञ अर्थात् आत्मज्ञ थे इसलिये यह आवश्यक नहीं कि

---

(१) आत्मविषयोपयोगस्य दर्शनत्वेऽगीक्रियमाणे आत्मनो विशेषाभावात् चतुर्णामपि दर्शनानामविशेषःस्यात ।

(२) इतिचेन्नैष दोषः यद्यस्य ज्ञानस्योत्पादकं स्वरूपसंवेदन तस्य तद्दर्शनव्यपदेशात् न दर्शनचातुर्विध्यानियमः ।

उनका कोई भी निर्णय पुनर्विचारणीय न हो। अथवा भगवान का निर्णय आज उपलब्ध कहां है ? भगवान का उपदेश तो लोग भूल गये हैं, इसलिये तर्क से जो सत्य सिद्ध हो उसे ही भगवान की वाणी मानना चाहिये —भले ही वह पूर्वाचार्यों के विरुद्ध हो, क्योंकि सत्य ही जैन धर्म है।"

अगर धवलकार के मन में ये विचार न आये होते तो उनने प्राचीन मान्यता को बदलने का साहस न किया होता। धवलकार की यह नीति आज कल के विचारकों के लिए भी आदर्श है। पहिले भी सिद्धसेन दिवाकर आदि अनेक जैनाचार्य—जिनके मतों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है—इसी नीति पर चले थे।

शंका—धवलकार का मत ही वास्तव में सिद्धान्त मत है। उनके आगे पीछे के आचार्यों ने जो सामान्यावलोकन को दर्शन कहा उसका अभिप्राय दूसरा है। दूसरे दर्शनों की विरुद्ध बातों के खण्डन के लिए न्यायशास्त्र है। इसलिये दूसरों के माने हुए निर्विकल्पक दर्शन की प्रमाणता को दूर करने के लिये स्याद्वादियों ने सामान्य ग्रहण को दर्शन कहा। स्वरूपग्रहण की अवस्था में छद्मस्थों को बाह्य अर्थ का ग्रहण नहीं होता। प्रमाणता का विचार बाह्य अर्थ की अपेक्षा से किया जाता है क्योंकि वही व्यवहारोपयोगी है। दीपक को देखने के लिए ही दीपक की खोज नहीं की जाती। इसीलिये न्यायशास्त्री ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं क्योंकि वह व्यवहारोपयोगी है, दर्शन को प्रमाण नहीं मानते क्योंकि वह व्यवहारोपयोगी नहीं है। वास्तव में तो स्वरूपग्रहण ही दर्शन है

अन्यथा ज्ञान, सामान्य विशेषात्मक वस्तु को विषय कैसे करेगा ? ?

उत्तर—यह लीपापोती इस बात का प्रमाण है कि जब कोई समर्थ विद्वान् अपने से पूर्वाचार्यों का विरोध करके भी किसी बात को प्रबल प्रमाणों से साबित कर देता है तब उसके पीछे के विद्वान् उसी के नये मत को भगवान की वाणी कहने लगते हैं और पुरानी मान्यताओं की भूल को छुपाने के लिये विचित्र ढंगसे लीपापोती करते हैं। इसी प्रकार की यह लीपापोती अमृतचन्द्रसूरिने की है। न्यायशास्त्रियों ने दर्शन ज्ञानके विषय में जो विरुद्ध कथन किया था उसका कारण जो अमृतचन्द्रसूरिने बतलाया है वह बिलकुल पोचा है। दूसरों का खण्डन करने के लिये अपनी परिभाषा को अशुद्ध बना लेना कौनसी बुद्धिमानी है ? दूसरों को अपशकुन करने के लिये अपनी नाक कटाने के समान यह आत्मघात है। दूसरे लोग अगर निर्विकल्पको प्रमाण मानते हैं और जैन भी प्रमाण मानते हैं तब दूसरों की इस सत्य और अपने से मिलती हुई मान्यता का खण्डन क्यों करना चाहिये ? यदि कहा जाय कि 'वे सविकल्पक को प्रमाण नहीं मानते इसलिये उनके निर्विकल्पक का

---

(१) ननु स्वरूपग्रहणं दर्शनमितिराद्धान्तेन कथं न विरोधः इतिचेन्न, अभिप्रायभेदात्। परविप्रतिपत्तिनिरासार्थं हि न्यायशास्त्रं ततस्तदभ्युपगतस्य निर्विकल्पकदर्शनस्य प्रामाण्यविघातार्थं स्याद्वादिभिः सामान्यग्रहणमित्याख्यायते। स्वरूपग्रहणावस्थायां छद्मस्थानां बहिरर्थविशेषग्रहणाभावात्। प्रामाण्यं च बहिरर्थापेक्षयैव विचार्यते व्यवहारोपयोगात्। न खलु प्रदीपः स्वरूपप्रकाशनाय व्यवहारिभिरन्विष्यते। ततो बहिरर्थविशेषव्यवहारानुपयोगाद्दर्शनस्य ज्ञानमेव प्रमाणं तदुपयोगात् विकल्पात्मकत्वात्तस्य। तत्वतस्तु स्वरूपग्रहणमेव दर्शनं केवलिनां तयोर्युगपत्प्रवृत्तेः अन्यथा ज्ञानस्य सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयत्वाभावप्रसंगात्।

—लघीयस्त्रय टीका १-६

खण्डन किया जाता है' परन्तु इसके लिये तो सविकल्पक को प्रमाण सिद्ध करना चाहिये। निर्विकल्पक की प्रमाणता के खण्डन से सविकल्पक तो प्रमाण सिद्ध हुआ नहीं, किन्तु अपना भी खण्डन हो गया। यदि कहा जाय कि अपने निर्विकल्पक की परिभाषा से दूसरों के निर्विकल्पक की परिभाषा जुदी है' तब तो यह और भी बुरा हुआ क्योंकि इससे हमने अपने निर्विकल्पक दर्शन को तो अप्रमाण बना डाला और दूसरे फिर भी बचे रहे क्योंकि उन को यह कहने का मौका मिला कि 'भले ही तुम्हारा निर्विकल्पक दर्शन अप्रमाण रहे परन्तु हमारा निर्विकल्पक अप्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि वह तुम्हारे निर्विकल्पक से भिन्न है।'

'दर्शन व्यवहार में उपयोगी नहीं है,' इसलिये प्रमाण नहीं कहा—यह बहाना भी ठीक नहीं है; क्योंकि व्यवहार में उपयोगी तो व्यञ्जनावग्रह भी नहीं है, फिर उसे प्रमाण क्यों कहा? यदि कहा जाय कि व्यञ्जनावग्रह अप्रमाण होगा तो अर्थावग्रह भी अप्रमाण हो जायगा तो यह बात दर्शन के लिये भी कही जा सकती है। जब दर्शन ही अप्रमाण है तब उससे पैदा होनेवाला ज्ञान प्रमाण कैसे होगा? दर्शन को अप्रमाण मानकर तो जैन नैयायिकों ने दूसरों को अपने ऊपर आक्रमण करने का मौका दिया है। उससे हानि के सिवाय लाभ कुछ नहीं हुआ।

इससे पाठक समझ गये होंगे कि जैन नैयायिकों ने दर्शन की परिभाषा जानबूझ कर असत्य नहीं की है किन्तु उन्हें वास्तविक परिभाषा मालूम नहीं थी। सच्ची परिभाषा के लिये शताब्दियों तक जैनाचार्यों ने परिश्रम किया परन्तु उन्हें न मिली। अन्त में

धवलकार ने एक नई परिभाषा निकाली जो पहिली परिभाषाओं से बहुत अच्छी थी। फिर भी वह अस्पष्ट और अधूरी है। आज उस पर भी विचार करने की बहुत जरूरत है।

इस अध्यायके प्रारम्भमें जो मैंने प्रचलित मान्यताओं की संक्षिप्त सूची दी है, उस में से दर्शन ज्ञानकी कुछ चर्चा की गई है। परन्तु उस सूचीका बहुभाग विचारणीय है। इससे मालूम होगा कि म. महावीरके समयमें इन विषयोंकी मान्यता कुछ दूसरी ही थी। वह विकृत होगई है; उनका मर्म अज्ञात होगया है। इसलिये जबतक उनकी शुद्धि न कीजाय तबतक सब शंकाओंका ठीक ठीक उत्तर नहीं होसकता। यहाँ मैं शंकाओंकी सूची रखता हूँ।

शंकाएँ

(१) अवधि और मनःपर्ययमें मनकी सहायता नहीं मानी जाती, परन्तु आलापपद्धति में इन दोनोंको और नन्दीसूत्रमें केवलज्ञान को भी मानसिक कहा, इसका क्या कारण है?

(२) मनःपर्यय ज्ञान अगर प्रत्यक्ष ज्ञान है तो उसके पहिले मनःपर्यय दर्शन क्यों नहीं होता? अगर उसके पहिले ईहा आदि किसी ज्ञानकी जरूरत होती है, तो उसे प्रत्यक्ष क्यों कहते हैं? क्योंकि जो ज्ञान दूसरे ज्ञानको अन्तरित करके होता है उसे प्रत्यक्ष नहीं कहते।

(३) मनःपर्यय ज्ञान अवधिज्ञानसे उच्च श्रेणी का है, फिर उसका क्षेत्र क्यों कम है? अथवा मनःपर्यय अवधिसे उच्च श्रेणीका क्यों हैं? अगर मनःपर्ययमें विशुद्धि ज्यादः बतलाई जाय तो विशुद्धि की अधिकता क्या है? गोम्मटसार आदि ग्रंथोंके अनुसार अवधिज्ञान

परमाणु तक जान सकता है। मनःपर्यय इससे ज्याद:सूक्ष्म क्या होगा ? अवधिज्ञानी सभी भौतिक पदार्थोंका प्रत्यक्ष कर सकता है, परन्तु मनःपर्यय ज्ञानी मनके सिवाय अन्य पदार्थोंका प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। द्रव्य मनका प्रत्यक्ष अवधिज्ञानी भी कर सकता है, फिर मनःपर्ययज्ञानीकी विशेषता क्या है ? मनकी अपेक्षा कर्म बहुत सूक्ष्म है। अवधिज्ञानी जब कर्मों का प्रत्यक्ष करलेता है, तब वह मनका भी प्रत्यक्ष करसकेगा।

(४) मनःपर्यय ज्ञान सिर्फ मुनियोंके ही क्यों होता है ; भौतिक पदार्थोंके ज्ञानके लिये महाव्रत अनिवार्य क्यों है ? (वस्तुस्वभाव ऐसा है, दूसरोंमें योग्यता नहीं है, आदि अन्धश्रद्धागम्य उत्तरोंकी यहाँ जरूरत नहीं है)।

(५) मतिज्ञान के ३३६ भेदों में अनिःसृत और अनुक्तभेद भी आते हैं जिनमें एक पदार्थ से दूसरे पदार्थका ज्ञान किया जाता है। इसलिये श्रुत को मतिज्ञान के भीतर शामिल क्यों नहीं करलिया जाता ? संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध मतिज्ञान हैं परन्तु इस में एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का ज्ञान होता है, इसलिये उन्हें श्रुतज्ञान क्यों न कहाजाय ?

(६) अर्थसे अर्थान्तारके ज्ञानको अगर श्रुत ज्ञान कहा जाय तो श्रुतज्ञानके भेदोंमें फिर शास्त्रोंके ही भेद क्यों गिनाये गये ? शास्त्र-ज्ञानसे दूसरी जगह भी अर्थसे अर्थान्तर का ज्ञान होसकता है।

(७) जिसप्रकार मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थों पर विचार करनेसे श्रुतज्ञान होता है उसीप्रकार अवधिज्ञान से जाने हुए पदार्थों

पर विचार करने से भी श्रुतज्ञान होना चाहिये। तब श्रुतज्ञान को मतिपूर्वक ही क्यों कहा ? अवधिपूर्वक या मनःपर्ययपूर्वक भी क्यों न कहा ?

(८) दर्शन को सामान्यविषयक और अप्रमाण मानने में जो पहिले शंकाएँ कीगई हैं उनका समाधान क्या है ?

९–विभङ्गावधि के पहिले अवधि दर्शन क्यों नहीं होता ? अवधिज्ञान और विभङ्गावधि में ज्ञान की दृष्टि से क्या अन्तर है जिससे एकके पहिले अवधिदर्शन है और दूसरे के पहिले नहीं है ?

(१०) मिथ्यादृष्टिको ग्यारह अंग नव पूर्वसे अधिक ज्ञान क्यों नहीं होसकता ? जो यहाँतक पढ़ गया उसे पाँच पूर्व पढ़नेमें क्या कठिनाई है ?

और भी शंकाएँ हैं जिनका ठीकठीक उत्तर नहीं मिलता है। इसका मुख्य कारण यह कि आगमकी परम्परा छिन्नभिन्न होजानेसे आगम इस समय उपलब्ध नहीं है। खासकर मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, और केवल इन पाँचों ज्ञानोंका वास्तविक स्वरूप इस समय जैन शास्त्रोंमें स्पष्ट रूपमें नहीं मिलता। कुछ संकेत मिलते हैं, जिनकी तरफ़ लोगोंका ध्यान आकर्षित नहीं होता। यह भूल कभी की सुधर गई होती परन्तु जैनियोंको इन बातकी बहुत चिन्ता रही है कि हमारे शास्त्रोंमें पूर्वापरविरोध न आजावे। इसलिये जहाँ एक आचार्यसे भूल हुई कि सदाके लिये उस भूलकी परम्परा चली। उनको यह भ्रम होगया था कि अगर हमारे वचन पूर्वापरविरुद्ध न होंगे तो सत्य सिद्ध होजावेंगे। वे इस बातको भूलगये कि सत्य वचन

पूर्वापर अविरुद्ध होते है, किन्तु पूर्वापर अविरुद्ध वचन सत्यभी होते हैं और असत्य भी होते हैं। अग्निमें से धूम निकलता है परन्तु अगर धूम न भी निकले तो अग्निका अभाव नहीं होजाता। इसी प्रकार असत्य से पूर्वापरविरुद्धतारूपी धूम निकलता है परन्तु यदि यह धूम न भी निकले तो असत्यतारूप अग्नि नष्ट नहीं होजाती। जैनियोंने अग्निको बुझानेकी अपेक्षा उसके धूम को रोकनेकी कोशिश अधिक की है। फल यह हुआ कि एकबार जो असत्य आया, वह फिर निकल न सका। उधर पूर्वापरविरुद्धताके रोकनेका प्रयत्न भी असफल गया। जैनशास्त्र पूर्वापरविरोध से वैसेही भरे हुए हैं जैसे कि अन्य दर्शनोंके शास्त्र। किसी सम्प्रदायमें पूर्वापरविरुद्ध वचन हो तो इससे इतना अवश्य सिद्ध होता है कि उस सम्प्रदायमें स्वतन्त्र विचारक ज़रूर हुए हैं— उस में सभी लकीर के फकीर नहीं थे।

खैर, इस चर्चा को मैं यहाँ बन्द करता हूं। श्रुतज्ञान का जब प्रकरण आयगा तब देखा जायगा। यहाँ जो मैने शङ्काएँ उपस्थित की हैं वे इसलिये कि जिससे लोगों को सत्यके खोजने की आवश्यकता माळूम हो।

उपयोगों का वास्तविक स्वरूप

पहिले जो दर्शन ज्ञान की चर्चा की गई है उससे इतना तो पता लगता है कि कई कारणों से सत्य परिभाषा लुप्त हो गई है धवलकार सिर्फ उस तरफ इशारा कर सके हैं। फिर भी दर्शन के विषय में इतना पता अवश्य लगता है—

१ दर्शन सामान्य ग्रहण है।

२ वह ज्ञानके पहिले होता है।

३ निर्विकल्प है।

४ स्वग्रहण रूप है।

५ चार इन्द्रियों से पैदा होने वाले दर्शनों में एक ऐसी समानता है जो चक्षु दर्शन में नहीं पाई जाती।

६ वह इन्द्रिय विषय सम्बन्ध के बाद होता है।

७ वह ज्ञान से जुदी अवस्था है।

८ दर्शन भी सामान्यविशेषात्मक वस्तु को ग्रहण करता है क्योंकि न तो वह मिथ्याज्ञान है न नय है।

इससे यह पता लगता है कि जैन न्यायग्रन्थों में जो सत्ता-सामान्यग्रहण को दर्शन कहा जाता है वह ठीक नहीं है।

कोई कोई कहते हैं "चेतनागुण जिस समय केवल अपना प्रकाश करता है चेतनागुण की उस अवस्था का नाम दर्शन है। ब्रह्मदेवने इसही को एक दृष्टान्त द्वारा भी स्पष्ट किया है कि जिस समय हमारा उपयोग एक विषय से हट जाता है किन्तु दूसरे पर लगता नहीं है उस समय जो चेतनागुण की अवस्था होती है उसे दर्शन कहते हैं।"

दर्शन की यह परिभाषा और भी बेहूदी है एक विषय से हटकर जब उपयोग दूसरे पर नहीं लगेगा तब उसको उपयोग ही क्यों कहेंगे? जो उपयोग नहीं वह दर्शनोपयोग कैसा? अगर उपयोग मान भी लिया जाय तो उसके चक्षु अचक्षु आदि भेद किस लिये किये जावेंगे। दूसरे जैनाचार्य विषय विषयी के सन्निपात के बाद ही दर्शन मानते हैं वह ठीक जचता भी है पर एक उपयोग

से हट जाने पर ही दर्शन हो गया दूसरे पर लगने की जरूरत ही न रही तब वहां विषय-विषयी-सन्निपात कहाँ रहा ? इसलिये श्री ब्रह्मदेव की यह बात तो बिलकुल ठीक न रही।

फिर एक बात और है-विषयहीन चेतना का स्वप्रकाश क्या ? क्या लब्धिरूप चेतना का उपयोग ही स्वप्रकाश है जैसा कि श्री ब्रह्मदेव का कथन है। तब तो ऊपर श्री ब्रह्मदेव के कथन में जो दोष बताये गये हैं वे भी ज्यों के त्यों रहे। यदि उपयोग रूप चेतना का ग्रहण दर्शन है तब ज्ञान दर्शन से पहिले हो गया क्योंकि चेतना विषयग्रहण से उपयोगात्मक होती है और तब वह ज्ञान कहलाती है, तब दर्शन की जरूरत ही न रही। इसलिये सिर्फ चेतना को ग्रहण करना दर्शन है यह बात किसी भी तरह नहीं बनती है।

आत्मद्रव्य को ग्रहण करना दर्शन है यह भी ठीक नहीं है क्योंकि आत्म द्रव्य इन्द्रियों का विषय ही नहीं है।

इस प्रकार दर्शन का निर्दोष स्वरूप जब दुष्प्राप्य हो रहा है तब हमें नये सिरेसे इस विषय पर विचार करना चाहिये। इतना तो मालूम होता है कि दर्शन का सम्बन्ध विषय से अवश्य है उसके बिना दर्शन नहीं हो सकता परन्तु ज्ञान की तरह वह विषय को ग्रहण नहीं करता। हां, ज्ञान के पहिले वह विषय से सम्बन्ध रखने-वाले किसी पदार्थ को विषय अवश्य करलेता है जोकि विषय की अपेक्षा विषयी के इतने नजदीक है जिसे स्व कहा जा सकता है। इसी की खोज हमें करना चाहिये।

यह बात तो निश्चित है कि दर्शन ज्ञाता और ज्ञान के बीच की कड़ी है। ज्ञाता को चाहे हम आत्मा नामक स्वतन्त्र द्रव्य मानें या मस्तिष्क को ही ज्ञाता मान लें ये दोनों ही ज्ञेय विषय को नहीं छूते, तब प्रश्न यह है कि दोनों में ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध कैसे बनेगा जिससे ज्ञाता अमुक पदार्थ को ही जाने। अनुभव से पता लगता है कि जब हम किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष करते हैं तब उसका कुछ न कुछ प्रभाव हमारी इन्द्रियों पर पड़ता है-जैसे पदार्थ से आई हुई किरण आंख की पुतली पर प्रभाव डालती है, शब्द की लहर कानों की झिल्ली में कम्पन पैदा करती है इसी प्रकार नाक पर जीभ पर तथा शरीर की त्वचा पर पदार्थों का प्रभाव पड़ता है। इन्द्रियों पर पड़ने वाला यह प्रभाव पतले स्नायुओं द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचता है तब इसका संवेदन होता है। यही दर्शन है। इसके बाद पर पदार्थ की जो कल्पना हुई वह ज्ञान है। इस कल्पना से ही हम घट पट आदि पदार्थों को जानते हैं इसलिये घट पटादि का प्रत्यक्ष सविकल्प कहलाता है। किन्तु उसके पहिले जो स्वरूप संवेदन होता है अर्थात् पर पदार्थ से आये हुए प्रभाव का संवेदन होता है वह दर्शन है उसमें घट पटादि की कल्पना नहीं होती इसलिये वह निर्विकल्प है।

प्रश्न--पदार्थ द्वारा आया हुआ प्रभाव भी तो पर कहलाया तब उसका संवेदन स्वसंवेदन क्यों कहलाया।

उत्तर--ज्ञेय ज्ञायक भाव में ज्ञेयरूप से सिद्ध पदार्थ ही पर है। मतिष्क आदि वहां पर ज्ञेयरूप नहीं है वे तो आत्मा के साथ

सम्बन्ध होने से आत्मरूप ही हैं । स्व और पर सापेक्ष शब्द हैं । जैसे मन आत्मद्रव्य की अपेक्षा पर और इन्द्रियों की अपेक्षा स्व है, इन्द्रियाँ मनकी अपेक्षा पर और विषय (घट पटादि) की अपेक्षा स्व हैं । इस प्रकार आत्मा से लेकर विषय तक जो प्रभाव की धारा है उसमें विषय पर है और आत्मद्रव्य तथा विषय के बीच में जितने प्रभावित कारण हैं वे स्व हैं । यहां स्वका अर्थ आत्मद्रव्य नहीं है ।

प्रश्न-कभी सिर में दर्द हो या और कहीं कोई वेदना मालूम हो तो इसे स्वसंवेदन समझ कर दर्शन कहना चाहिये ।

उत्तर-शरीर में ही दर्द क्यों न हो उसका असर जैसा मस्तिष्क के ज्ञान तन्तुओं पर पड़ेगा वैसा ही ज्ञान होगा । मस्तिष्क पर या स्पर्शन इन्द्रियपर पड़े हुए प्रभाव का संवेदन दर्शन है और उससे दर्द की कल्पना होना ज्ञान है । दूसरी बात यह है कि दर्द के अनुभव में कल्पना है इसलिये वह सविकल्पक ज्ञान है उसे निर्विकल्पक दर्शन नहीं कह सकते । दर्शन तो ज्ञेय वस्तु का अपने पर पड़ने वाले प्रभाव का संवेदन है । यहाँ ज्ञेय वस्तु अपने अंगोपांग हैं और घट-पटादि की तरह यहाँ भी कल्पना से काम लेना पड़ता है इसलिये अंगोपांग भी पर हैं । शरीर बात दूसरी है और शरीर में रहनेवाली इन्द्रियाँ दूसरी, इन्द्रिय पर पड़नेवाले प्रभाव का संवेदन दर्शन है न कि अंगों पर । जैसे अपनी ही आंख से अपना हाथ देखना दर्शन नहीं है उसी प्रकार अपनी इन्द्रिय से अपने अंगोंके दर्द का ज्ञान भी दर्शन नहीं हैं । एक बात और है शरीर के भीतर रहनेवाले विजातीय द्रव्य से दर्द आदि हुआ करते हैं वह द्रव्य शरीर का

अंश नहीं होता इसलिये जैसे बाहर से मिट्टी आदि की चोट होती है उसी प्रकार भीतर से विजातीय द्रव्य या मलद्रव्य की चोट होती है शरीर से भिन्न दोनों ही हैं। खैर, शरीर से भिन्न हों या न हों पर इन्द्रिय आदि ज्ञानोपकरणों से भिन्न अवश्य हैं इसलिये वह पर संवेदन ही है। संवेदन प्रकरण में स्व की सीमा संवेदन के उपकरणों तक ही है।

प्रश्न–इन्द्रिय पर तो पदार्थ का प्रभाव उल्टा ही पड़ता है तो दर्शन उल्टा होना चाहिये।

उत्तर जैसे फोटो के केमरे पर पहिले उल्टे चित्र बनते हैं पर फिर उलट कर चित्र सीधा ही आता है उसी प्रकार इंद्रियों पर जो प्रभाव पड़ता है वह उलटकर सीधा हो जाता है। प्रभाव परम्परा के कारण ऐसा होता है। दूसरी बात यह है कि दर्शन तो निर्विकल्पक है उसमें उल्टे सीधे आदि की कल्पना होती ही नहीं, यदि प्रभाव उल्टा पड़कर भी सीधे ज्ञान को पैदा करता है तो उस से कुछ बिगड़ता नहीं है।

प्रश्न--ज्ञानको आपने कल्पना कहा है पर कल्पना तो मिथ्या होती है।

उत्तर–कल्पना होने से ही कोई असत्य नहीं हो जाता। जो कल्पना निराधार अथवा असत्याधार होती है वह असत्य कहलाती है। जिसको सत्य आधार है वह असत्य नहीं कहलाती। ज्ञानका आधाररूप दर्शन सत्य है। कल्पना अविसंवादिनी है इसलिये ज्ञानरूप कल्पना सिर्फ कल्पना होने से असत्य नहीं हो सकती। अनुमान उपमान आदि कल्पना रूप होने पर भी असत्य नहीं कहलाते।

प्रश्न—कल्पना होने से असत्य होना भले ही अनिवार्य न हो, परन्तु कल्पना को प्रत्यक्ष कभी नहीं कह सकते । इसलिये सभी ज्ञान परोक्ष होंगे सिर्फ दर्शन ही प्रत्यक्ष कहलायगा ।

उत्तर—वास्तव में प्रत्यक्ष तो दर्शन ही है, फिर भी दर्शन में प्रत्यक्ष शब्दका व्यवहार नहीं होता इसका कारण यह है कि कोई दर्शन परोक्ष नहीं होता । प्रत्यक्ष और परोक्ष ये परस्पर सापेक्ष शब्द हैं । जहाँ परोक्ष का व्यवहार नहीं, वहाँ प्रत्यक्ष का व्यवहार निरुपयोगी है । दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद परपदार्थों को जानने की अपेक्षा से है । आत्मग्रहण की दृष्टि से न तो कोई अप्रमाण (१) होता है न परोक्ष (२) । इसलिये पर पदार्थ के ग्रहण की स्पष्टता अस्पष्टता से प्रत्यक्ष परोक्ष का व्यवहार करना चाहिये ।

प्रश्न—दर्शन की अपेक्षा तो सभी ज्ञान परोक्ष हुए तब किसी ज्ञानको प्रत्यक्ष और किसी को परोक्ष कैसे कहा जाय ?

उत्तर—जिस ज्ञान में किसी दूसरे ज्ञानकी जरूरत न हो अथवा अनुमानादिसे स्पष्ट हो वह प्रत्यक्ष और इससे विपरीत परोक्ष । स्पष्टता अस्पष्टता का विचार हमें दर्शन की अपेक्षा नहीं, किन्तु एक ज्ञान से दूसरे ज्ञानकी अपेक्षा करना है । आँखों से जो हमें कोई पदार्थ दिखाई देता है उसका ज्ञान, दर्शन के समान स्पष्ट भले ही न हो परन्तु अनुमान आदि से स्पष्ट है इसलिये प्रत्यक्ष है ।

---

(२) भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः । बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते । आप्तमीमांसा ।

(१) ज्ञानस्य बाह्यार्थापेक्षयैव वैशद्यावैशद्ये दर्वैः प्रणीते । स्वरूपापेक्षया सकलमपि ज्ञानं विशदमेव । लघीयस्त्रयटीका ।

प्रश्न–यदि स्वग्रहण दर्शन है और परग्रहण ज्ञान, तो जितने तरह का ज्ञान होता है उतने ही तरह का दर्शन होना चाहिये।

उत्तर–ज्ञान विशेषग्रहणरूप है और उसका क्षेत्र विस्तृत है इसलिये उसके बहुत भेद हैं। दर्शन के बाद प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और उसके बाद परोक्ष ज्ञानों की परम्परा चालू हो जाती है। इसलिये ज्ञान के भेद बहुत होते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान के मूल में दर्शन होता है, परोक्ष ज्ञान के मूल में दर्शन नहीं होता है। इसलिये दर्शन के सिर्फ उतने ही भेद हो सकते हैं जितने प्रत्यक्ष के होते हैं। परोक्ष सम्बन्धी भेद नहीं हो सकते। दूसरी बात यह है कि ज्ञानका भेद तो ज्ञेय के भेद से हो जाता है परन्तु आत्मा के ऊपर पड़नेवाले प्रभाव में इतना शीघ्र भेद नहीं होता। मतलब यह कि ज्ञान में जितनी जल्दी वर्गभेद हो सकता है उतना दर्शन में नहीं, क्योंकि दर्शन का विषय क्षेत्र सिर्फ आत्मा है।

प्रश्न–दर्शन और ज्ञान की इस परिभाषा के अनुसार पदार्थ भी ज्ञानमें कारण सिद्ध हुआ। परन्तु जैन लोग तो ज्ञानकी उत्पत्ति में पदार्थ को कारण नहीं मानते।

उत्तर– पदार्थको ज्ञानोत्पत्तिमें कारण नहीं माननेका मतलब यह है कि ज्ञानकी उत्पत्ति में पदार्थका विशेष व्यापार नहीं होता। जिस प्रकार देखनेके लिये आँखको कुछ खास प्रयत्न करना पड़ता है उस प्रकार पदार्थको दिखनेके लिये कुछ खास प्रयत्न नहीं करना पड़ता (१)। पीछेके कुछ जैन नैयायिकोंने इस रहस्यको भुलादिया

(१) अर्थो विषयस्तयोर्योगः सन्निपातो योग्यदेशावस्थानं। तस्मिन् सति

और पदार्थकी ज्ञानकारणता को असिद्ध करनेके लिये निष्फल प्रयत्न किया। जैन शास्त्रोंमें जहाँ भी अवग्रह आदि की उत्पत्तिका वर्णन किया गया है वहाँ अर्थ आवश्यक बतलाया गया है। 'इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निपात (योग्य स्थान पर आना) होने पर अवग्रह होता है'१ इस भावका कथन सर्वार्थसिद्धि, लघीयस्त्रय, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों में पाया जाता है। मतलब यह कि प्रत्यक्ष के लिये अर्थ आवश्यक तो है परन्तु इंद्रियोंके समान उसका विशेष व्यापार न होनेसे उसका उल्लेख नहीं किया जाता।

प्रश्न— आप स्वरूपग्रहणको दर्शन कहते हो और वह युक्त्यागमसंगत भी मालूम होता है परन्तु 'सामान्यग्रहण दर्शन है' इस प्रकार की मान्यता क्यों होगई ? इस भ्रमका कारण क्या है ?

उत्तर— स्वरूपग्रहण वास्तवमें सामान्यग्रहण ही है। ज्ञानमें ज्ञेयभेदसे भेद होता है इसलिये हम उसे विशेषग्रहण कहते हैं, परन्तु दर्शनमें ज्ञानके समान भेद नहीं होता इसलिये वह सामान्यग्रहण है। उदाहरणार्थ जब हमें चाक्षुष ज्ञान होता है तब टेबुल, कुर्सी, पलँग आदिका जुदा जुदा ग्रहण होता है। परन्तु इन सबके चक्षुदर्शन में

उत्पद्यते इत्यर्थः। ननु अक्षवदर्थोऽपि तत्कारणं प्रसक्तमितिचेन्न तद्व्यापारानुपलब्धेः नहि नयनादिव्यापारवदर्थव्यापारो ज्ञानोत्पत्तौ कारणमुपलभ्यते तस्योदासीन्यात्। लघीयस्त्रय टीका। अर्थ उदासीन है परन्तु है तो।

(१) अक्षार्थयोगे सत्तालोकोऽर्थाकारविकल्पधीः। अवग्रहे विशेषाकांक्षेहावायो विनिश्चयः। लघीयस्त्रय ५। विषयविषयिसन्निपातसमयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः। सर्वार्थसिद्धि ११५। विषयविषयिसन्निपातसमनन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः। त. राजवार्तिक १-१५ १। अक्षार्थयोगजाद्वस्तुमात्रग्रहणलक्षणात् जातं यद्वस्तुभेदस्य ग्रहणं तदवग्रहः। १-१५-२ श्लोकवार्तिक।

तो हमें सिर्फ चक्षुका ही ग्रहण होता है । यही कारण है कि दर्शन सामान्य कहागया है । मतलब यह कि कल्पनाजन्य विशेषताएँ न होने से दर्शनको सामान्य कहा है 'सामान्य' और 'विशेष' वास्तवमें 'ग्रहण' के विशेषण हैं न कि पदार्थके । 'सामान्य रूप ग्रहण' दर्शन है 'विशेषरूपग्रहण' ज्ञान है, न कि 'सामान्यका ग्रहण दर्शन' और 'विशेषका ग्रहण ज्ञान' । माल्रूम होता है 'सामान्यग्रहण' इस शब्द के अर्थमें गड़बड़ी हुई है । 'सामान्यग्रहण' इस पदके 'सामान्यरूप ग्रहण' और 'सामान्यका ग्रहण' ऐसे दो अर्थ होसकते हैं । पहिला अर्थ ठीक है किन्तु कोई आचार्य पहिला अर्थ भूलगये और दूसरा अर्थ समझे । पीछे इस भूलकी परम्परा चली, सामण्णं ग्रहणं' इस पाठ से पहिले अर्थका ही समर्थन होता है, जिस पाठको धवलकारने भी उद्धृत किया है । 'सामण्णग्गहणं' । पाठ सिद्धसेन दिवाकरका है । इससे दोनों ही अर्थ निकलते हैं किन्तु उनने दूसरा ही अर्थ लिया है इससे यह भ्रमपरम्परा बहुत पुरानी माल्रूम होती है ।(१)

दर्शन की परिभाषा के विषय में जितना जैन साहित्य मिलता है उसको आधार लेकर अगर निःपक्ष विचार किया जाय तो पता लगेगा कि जैनाचार्यों ने भी संवेदन के विषय में काफी खोज की है ।

ऊपर जो स्वसंवेदन रूप परिभाषा का विस्तार से वर्णन किया गया है उससे माल्रूम होता है कि इस परिभाषा में वे आठ बातें पाई जाती हैं जो भिन्न भिन्न जैनाचार्यों ने दर्शन के स्वरूप

---

(१) 'जं सामण्णग्गहणं दंसणमेयं विसेसियं णाणं' सं. प्र. २-१ । इसमें 'विसेसियं पद 'ग्रहण का विशेषण है इसलिये 'सामण्ण पद भी ग्रहणका विशेषण ठहरा। इसलिये यहाँ भी–सामण्णग्गहण–में षष्ठीतत्पुरुष करना ठीक नहीं ।

के विषयमें यहाँ वहां लिखी हैं। इसलिये दर्शन की यही परिभाषा ठीक है।

विषय और विषयी किस प्रकार दूर दूर रहते हुए भी उनमें ज्ञेय ज्ञायक भाव होता है सम्बन्ध मिलता है इसके लिये जैनाचार्यों ने गम्भीर चिन्तन किया है। काल के थपेड़ों से वह छिन्नभिन्न हो गया फिर भी उसकी सामग्री आज भी मौजूद है जिससे ऊपर का निष्कर्ष निकाला गया है। आधुनिक दृष्टिकोण से भी उसका समर्थन होता है।

दर्शन के भेद

दर्शन के चार भेद हैं। चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधि दर्शन, और केवल दर्शन। चक्षुरिन्द्रिय के ऊपर पड़नेवाले प्रभावों से युक्त स्वात्मग्रहण चक्षुर्दर्शन है, और अन्य इन्द्रियों के ऊपर पड़ने वाले प्रभावों से युक्त स्वात्मग्रहण अचक्षुर्दर्शन है। अवधिदर्शन और केवलदर्शन का स्वरूप ज्ञान के साथ बताया जायगा।

प्रश्न-अन्य इन्द्रियों का अचक्षुर्दर्शन नामक एकही भेद क्यों बताया? जिस प्रकार चक्षुर्दर्शन का एक स्वतन्त्र भेद है उसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के भी स्वतन्त्र भेद होना चाहिये, जैसे कि ज्ञान में होते हैं।

उत्तर-ज्ञेयभेद से ज्ञान में भेद होता है। क्योंकि उसमें स्पर्श रस गन्ध शब्द का ज्ञान जुदा मालूम होता है। लेकिन दर्शन के लिये चारों एक सरीखे हैं। दर्शन में जुदे जुदे गुणों का ग्रहण नहीं होता किन्तु उन गुणवाली वस्तुओं का इन्द्रियों पर जो प्रभाव पड़ता है उसका ग्रहण होता है।

प्रश्न—चक्षु के ऊपर पड़नेवाले प्रभाव में और अन्य इन्द्रियों पर पड़ने वाले प्रभाव में क्या विषमता है जिससे चक्षु-अचक्षु अलग अलग दर्शन कहे गये और स्पर्शन रसन आदि में परस्पर क्या समता है जिससे वे सब एकही अचक्षु शब्द से कहे गये ?

उत्तर—चक्षु इन्द्रिय से हम जिस पदार्थ को देखते हैं वह पदार्थ चक्षुके साथ संयुक्त नहीं होता किन्तु उसकी किरणें संयुक्त होती हैं लेकिन अन्य इन्द्रियों के विषय उनसे स्वयं भिड़ते हैं। इस लिये अन्य इन्द्रियाँ प्राप्यकारी मानी जाती हैं और चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी मानी जाती है। अप्राप्यकारी होने से चक्षु इन्द्रिय अन्य इन्द्रियों से विषम है और प्राप्यकारी होने से चारों इन्द्रियाँ समान हैं (१)।

प्रश्न—मन से होने वाले दर्शन को चक्षुदर्शन में शामिल करना चाहिये या अचक्षु दर्शन में ? चक्षुमें मन शामिल नहीं है इसलिये उसे अचक्षुमें लेना चाहिये। परन्तु अचक्षुमें शामिल करना भी ठीक नहीं क्योंकि स्पर्शनादि इन्द्रियोंके समान मन प्राप्य-कारी नहीं है।

उत्तर—मनके द्वारा दर्शन नहीं होता। पारमार्थिक विषयोंका जो मनोदर्शन होता है उसे अवधिदर्शन या केवलदर्शन कहते हैं।

प्रश्न—जैनशास्त्रों में मन से भी दर्शन माना है और उसको अचक्षुदर्शन में शामिल किया है। व्याख्याप्रज्ञप्ति [भगवती] की

---

(१) यच्च प्रकारान्तरेणापि निर्देशस्य सम्भवे चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं चेत्युक्तं तादिन्द्रियाणामप्राप्तकारित्वप्राप्तकारित्वविभागात् । भगवती टीका श. १, सूत्र ३७।

टीका में इस प्रकार का स्पष्ट विधान है।

उत्तर—'मनोदर्शन मानना और उसे अचक्षुदर्शन में शामिल रखना' इस प्रकार की मान्यता जैनाचार्यों में रही अवश्य है, परन्तु वह युक्ति और शास्त्र के विरुद्ध होने से उचित नहीं है। चक्षु और अचक्षु दर्शन का भेद अप्राप्यकारी का भेद है। तब अप्राप्यकारी मनोदर्शन प्राप्यकारी के भीतर शामिल कैसे होगा? अभयदेवजीने मनको अचक्षु के भीतर शामिल तो किया परन्तु शंका का समाधान नहीं कर सके। वे कहते हैं कि "मन यद्यपि अप्राप्यकारी है, परन्तु वह प्राप्यकारी इन्द्रियों का अनुसरण करता है इसलिये उसे प्राप्यकारी इन्द्रियों के साथ अचक्षुमें शामिल (१) कर लिया"। इस समाधान में कुछ भी दम नहीं है क्योंकि जिस प्रकार मन, प्राप्यकारी स्पर्शन आदि इन्द्रियों का अनुसरण करता है उसी प्रकार अप्राप्यकारी चक्षुका भी अनुसरण करता है। इसके अतिरिक्त वह अप्राप्यकारी भी माना जाता है। तब वह प्राप्यकारियों में शामिल क्यों किया जाय? अन्य बहुत से आचार्योंने चक्षुभिन्न इन्द्रिय दर्शन को अचक्षु कहा है। उसमें मनको नहीं गिनाया। उनके स्पष्ट न लिखने से यह मालूम होता है कि या तो वे मनोदर्शन को मानते ही न थे या उन्हें भी संदेह था जिससे वे स्पष्ट न लिख सके।

प्रश्न—मन से दर्शन क्यों न मानना चाहिये?

उत्तर—मैं पहिले कह चुका हूं कि प्रत्यक्ष के पहिले दर्शन होता है, परोक्ष के पहिले नहीं। मन से बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष

---

(१) मनसस्त्वप्राप्तकारित्वेऽपि प्राप्तकारीन्द्रियवर्गस्य तदनुसरणीयस्य बहुत्वात् तद्दर्शनस्य अचक्षुर्दर्शनशब्देन ग्रहणमिति। भ० १. सूत्र ३७। टीका।

ज्ञान नहीं होता इसलिये मनसे दर्शन नहीं माना जाता। नन्दी सूत्र में प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष के स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र के भेद से पाँच भेद हैं। नोइंद्रिय प्रत्यक्ष के अवधि, मनःपर्यय और केवल ऐसे तीन भेद हैं। (१) वहां मन से कोई ऐसा प्रत्यक्ष नहीं बतलाया गया जो मतिज्ञान के भीतर शामिल होता हो। अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान नोइंद्रिय प्रत्यक्ष के भेद माने गये हैं परन्तु वे मतिज्ञान के बाहर हैं इसलिये मतिज्ञान को पैदा करने वाला कोई मनोदर्शन नहीं हो सकता जिसे अचक्षुर्दर्शन के भीतर शामिल किया जाय।

प्रश्न—यदि आप मन से प्रत्यक्ष न मानेंगे तो मतिज्ञान के ३३६ भेद कैसे होंगे?

उत्तर—३३६ भेद मतिज्ञान के हैं न कि प्रत्यक्ष ज्ञान के। मैं यह नहीं कहता कि मन से मतिज्ञान नहीं होता। मैं तो यह कहता हूं कि मनसे प्रत्यक्ष मतिज्ञान नहीं होता। ३३६ भेद सभी प्रत्यक्ष नहीं हैं।

ज्ञान के भेद

ज्ञान के पाँच भेद हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। पाँच भेदों की यह मान्यता महावीर-युग से लेकर अभी

---

(१) पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं इंदिय पच्चक्खं नोइंदिय पच्चक्खं च ।३। से किं तं इंदियपच्चक्खं? इंदिय पच्चक्खं पंचविहं पण्णत्तं तंजहा—सोइंदिअ पच्चक्खं, चक्खिंदिअ पच्चक्खं, घाणिंदिअ पच्चक्खं, जिब्भिंदिअ पच्चक्खं, फासिंदिअ पच्चक्खं से तं इंदियपच्चक्खं ।४। से किं तं नोइंदिय पच्चक्खं? नोइंदिअ पच्चक्खं तिविहं पण्णत्तं तं जहा ओहिनाण पच्चक्खं मणपज्जवनाण पच्चक्खं केवलनाण पच्चक्खं ।५।

तक चली आ रही है, परन्तु इनके लक्षणों में बहुत अन्तर हो गया है तथा अनेक नयी समस्याएँ भी इनके भीतर पैदा हुई हैं, जिनके समाधान के प्रयत्न ने भी इनके स्वरूप को विकृत करने में सहायता पहुँचाई है।

म. महावीर ने ज्ञानके पाँच भेद ही बताये थे। इसीलिये ज्ञानावरण कर्म के भी पाँच भेद माने गये हैं। प्रत्यक्षावरण, परोक्षावरण आदि भेदों का शास्त्रों में उल्लेख नहीं है। ज्ञानके प्रत्यक्ष, परोक्ष भेद कुछ पीछे शामिल हुए हैं। यह दूसरे दर्शनों की विचार-धारा का प्रभाव है।

दूसरे दर्शनों में ज्ञानों को प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम आदि भेदों में बाँटा गया है। ये भेद अनुभवगम्य और तर्कसिद्ध हैं। आगमके मति आदि भेद इस प्रकार तर्कपूर्ण नहीं हैं इसलिये जैनाचार्योंने प्रत्यक्ष और परोक्ष इस प्रकार दो भागों में ज्ञान को विभक्त किया। इस प्रकार जैनशास्त्रों में दोनों तरह के भेदोंकी परम्परा चली। नन्दीसूत्र के टीकाकार मलयगिरि इस बात को स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि तीर्थंकरोंने और गणधरोंने अपनी प्रज्ञा से ज्ञानके पाँच भेद प्राप्त किये थे, न कि सिर्फ दो जैसे कि आगे [१] कहे जायंगे'। इससे साफ मालूम होता है कि ज्ञानों के प्रत्यक्ष परोक्ष की कल्पना म. महावीर और गणधरों के पीछे की है। वास्तव

(१) ज्ञानं तीर्थकरैरपि सकलकालावलम्बिसमस्तवस्तुस्तोमसाक्षात्कारिकेवलप्रज्ञया पञ्चविधमेव प्राप्तं गणधरैरपि तीर्थकृद्भिरुपादिश्यमानं निजप्रज्ञया पञ्चविधमेव नतु वक्ष्यमाणनीत्या द्विभेदमेव। नन्दीटीका ज्ञानपञ्चकोद्देश सूत्र १

में म. महावीर के समय में ज्ञानों पर इस दृष्टि से विचार ही नहीं किया गया था।

जिस समय जैनियों को दूसरे दर्शनों का सामना करना पड़ा उस समय उन्हें नये सिरेसे प्रमाण व्यवस्था माननी पड़ी। मत्यादि पाँच भेद तार्किक चर्चा के लिये उपयोगी नहीं थे इसलिये जैनियोंने अपनी प्रमाणव्यवस्था दो भागों में विभक्त की। एक धर्मशास्त्रोपयोगी पाँच ज्ञान रूप, दूसरी तार्किक क्षेत्रोपयोगी द्विविध या चतुर्विध। तार्किक दृष्टि से भी प्रमाणके भेद दो तरह से किये गये हैं। एक तो प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम इस प्रकार चार भेद दूसरे प्रत्यक्ष और परोक्ष इस प्रकार दो भेद। तार्किक पद्धति के ये दोनों प्रकार के भेद म. महावीर के बहुत पीछे के हैं। उमास्वाति ने तार्किक पद्धति के इन दोनों प्रकार के भेदों का उल्लेख किया है। वे कहते हैं–"प्रमाणके दो भेद हैं–प्रत्यक्ष और परोक्ष। कोई कोई अपेक्षाभेद से चार प्रमाण मानते हैं"........"ये चार भेद भी प्रमाण हैं (१)।"

उस समय प्रमाणके और भी बहुत से भेद प्रचलित थे। कोई पाँच छः सात आदि भेद मानते थे जिसमें अर्थापत्ति संभव अभाव का समावेश होता था। उमास्वाति इन भेदों को अपने

---

(१) तत्र प्रमाणं द्विविधं प्रत्यक्षं च परोक्षं च वक्ष्यते। चतुर्विधमित्येके नयवादान्तरेण। त० भा० १-६। यथा वा प्रत्यक्षानुमानोपमानप्रवचनैरेकोऽर्थः प्रमीयते। त० भा० १-३५। अतश्च प्रत्यक्षानुमानोपमानप्रवचनानामपि प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते। १-३५।

भेदों में शामिल करके भी इनका विरोध (१) करते हैं। इससे मालूम होता है कि उमास्वाति जिस प्रकार चार भेदों के समर्थक थे, उस प्रकार पाँच, छः, सात आदि के नहीं। फिर भी मालूम होता है कि उनने चार भेदों का समर्थन सिर्फ़ इसलिये किया था कि उनसे पहिले के जैनाचार्यों ने उन्हें स्वीकार किया था। वास्तवमें प्रमाणके चार भेद उन्हें पसन्द नहीं थे। अगर उन्हें ये भेद पसन्द होते तो जिस प्रकार उनने प्रत्यक्ष परोक्ष भेदों में पाँच ज्ञानों का अन्तर्भाव किया है उसी प्रकार प्रत्यक्ष अनुमान आदि चार भेदों में भी पाँच ज्ञानों का अन्तर्भाव करते। चार भेदोंवाली मान्यता में पाँच ज्ञानों का अन्तर्भाव ठीक ठीक न हो सकने के कारण ही उमास्वातिने इस पर एक प्रकारसे उपेक्षा की है। सूत्रमें प्रत्यक्ष परोक्ष का ही उल्लेख किया है और उसीमें पाँच ज्ञानों का अन्तर्भाव किया है।

चार भेदवाली मान्यता अवश्य ही उमास्वाति के पहिले की थी, परन्तु दोभेदवाली मान्यता पहिले की थी या नहीं, यह कहना ज़रा कठिन है। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि जैन साहित्य में चार भेदवाली मान्यता से दो भेदवाली मान्यता पीछे की है। प्रमाण के दो भेदवाली मान्यता चार भेदवाली मान्यता से अधिक पूर्ण है। इसलिये अगर प्रत्यक्ष परोक्षवाली मान्यता पहिले आगई होती तो चार भेदवाली मान्यता को ग्रहण करने की आवश्यकता ही न होती। इसलिये प्रारम्भमें काम चलाने के लिये नैयायिकों की

---

(१) अनुमानोपमानागमार्थापत्तिसम्भवाभावानपि च प्रमाणानीति केचिन्मन्यन्ते तत्कथमेतदित्यत्रोच्यते- सर्वाण्येतानि मतिश्रुतयोरन्तर्भूतानि इन्द्रियार्थसान्निकर्षनिमित्तत्वात्। किञ्चान्यत् अप्रमाणान्येव वा कुतः मिथ्यादर्शनपरिग्रहाद्विपरीतोपदेशाच्च। त० भा० १-१२।

चार भेदवाली मान्यता स्वीकार कर लीगई। पीछे जैन विद्वानों ने स्वयं वर्गीकरण किया और दो भेद माने।

इन दोनों मान्यताओं के प्रचलित होनेपर भी पाँच भेदों के साथ समन्वय करना अभी बाकी ही रहा। प्रमाण के दो या चार भेद माने जावें, तो इनमें मत्यादि पाँच भेद किस प्रकार अन्तर्गत किये जावें—यह प्रश्न बाकी रहा, जिसका समाधान पिछले आचार्यों ने किया। उपलब्ध साहित्य पर से यही कहा जा सकता है कि इस प्रकार का पहिला प्रयत्न उमास्वातिने किया। उनने परोक्ष में मति श्रुत को और प्रत्यक्ष में अवधि, मनःपर्यय, और केवल को शामिल किया। इसके पहिले अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान के विषय में प्रत्यक्ष परोक्ष की कल्पना न थी। मतिज्ञान को या उसके एक अंश को ही प्रत्यक्ष माना जाता था। यद्यपि कुंदकुंदने भी इस प्रकार प्रत्यक्ष परोक्ष का समन्वय किया है परन्तु जब तक कुंदकुंद का समय उमास्वाति के पहिले निश्चित न हो जाय तब तक उमास्वाति को ही इस समन्वय का श्रेय देना उचित है।

उमास्वाति के इस समाधान के बाद एक जटिल प्रश्न फिर खड़ा हुआ। वह यह जिस ज्ञानको दुनियाँ प्रत्यक्ष कहती है, और अनुभव से भी जो प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, उसे परोक्ष क्यों कहा जाय ? यदि इस प्रत्यक्ष को परोक्ष कहा जायगा तो अनुमान वगैरह से इसमें क्या भेद रहेगा ?

उमास्वाति से पीछे होनेवाले आचार्यों ने इस प्रश्न के समाधान की चेष्टा की। नन्दी सूत्र में प्रत्यक्ष के दो भेद किये

गये-इन्द्रिय प्रत्यक्ष, नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष में स्पर्शन आदि प्रत्यक्ष शामिल किये गये। नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष में अवधि आदि। बाद के आचार्यों ने सांव्यवहारिक, पारमार्थिक नाम से इन प्रत्यक्षों का उल्लेख किया। नन्दी सूत्रमें मतिज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष [१] दोनों में शामिल किया है। उधर अनुयोगद्वारसूत्र में मति ज्ञानको सिर्फ प्रत्यक्ष कहा है। अन्त में अकलंक आदि ने इन सब गुत्थियों को सुलझाकर प्रमाण के व्यवस्थित भेद किये जिनमें पाँचों ज्ञानों का भी अन्तर्भाव हुआ। सर्वार्थसिद्धि में [२] प्रकरण आने पर भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नहीं कहा गया, सिर्फ इन्द्रियज्ञान की प्रत्यक्षता का ही खण्डन किया गया है। इससे मालूम होता है कि पूज्यपाद के समय तक प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक और पारमार्थिक भेदों की कल्पना नहीं हुई थी। अथवा वह इतनी प्रचलित नहीं हुई थी कि पूज्यपाद को उसका पता होता।

श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने कदाचित सबसे पहिले प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक और पारमार्थिक दो भेद कहे हैं [३]। जिनभद्रगणिकी इस नवीन कल्पना को भाष्य के टीकाकार ने पूर्ण शास्त्रानुकूल सिद्ध करने के लिये जो एड़ी से चोटी तक पसीना बहाया

---

(१) परोक्खणाणं दुविहं पण्णत्तं तं जहा आभिणिबोहिअनाणपरोक्खं च सुअनाणपरोक्खं च। नन्दी २४।

(२) स्यान्मतमिन्द्रियव्यापारजनितं ज्ञानं प्रत्यक्षं व्यतीतेन्द्रियविषयव्यापारं परोक्षं इत्येवविसंवादलक्षणमभ्युपगन्तव्यं इति तदयुक्तम् १-१२।

(३) एगंतेण परोक्खं लिंगियमोहाइय च पच्चक्खं। इंदिय मणोभवं जं तं संववहार पच्चक्खं। विशेषावश्यक भाष्य ९५।

है वह भी इस बातका साक्षी है कि यह नवीन कल्पना है। यहाँ मैं टीकाकार के वक्तव्य को शंका समाधान के रूपमें उद्धृत करता हूँ। टीकाकारने जो उत्तर दिये हैं वे बहुत विचारणीय हैं।

प्रश्न—सांव्यवहारिक और पारमार्थिक भेद शास्त्र में तो मिलते नहीं हैं, फिर भाष्यकार (जिनभद्रगणी) को कहाँ से मालूम हुए।

उत्तर—शास्त्रमें नहीं हैं, परन्तु दूसरी जगह इस तरह है कि—परोक्षके दो भेद हैं; आभिनिबोधिक और श्रुत। इन दोनोंको छोड़ कर और कोई इंद्रिय ज्ञान नहीं है जिसे प्रत्यक्ष कहा जाय।

प्रश्न- यदि ऐसा है तो मतिज्ञानके भीतर जो साक्षात् इन्द्रिय ज्ञान है, उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष मानो और जो लिंगादिसे उत्पन्न अनुमानादि मतिज्ञान है उसे परोक्ष मानो। इस प्रकार मतिज्ञान प्रत्यक्ष में भी शामिल रहेगा और परोक्षमें भी। जिनने इंद्रिय ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है उनका कहना भी ठीक होगा और जिनने मतिज्ञानको परोक्ष कहा है, उनका कहना भी ठीक होगा।

उत्तर- इन्द्रिजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष मानने पर यह छठा ज्ञान होजायगा। इसलिये इन्द्रियजन्य ज्ञान को मतिज्ञानके भीतर ही मानना चाहिये और मतिज्ञान परोक्ष है, इसलिये इन्द्रियजन्य ज्ञान भी परोक्ष कहलाया। इसी प्रकार मनोजन्य ज्ञान भी परोक्ष सिद्ध हुआ।

प्रश्न-आगममें मनसे पैदा होनेवाले ज्ञानको परोक्ष कहाँ कहा है?

उत्तर- मनोजन्य ज्ञानको परोक्ष भलेही न कहा हो परन्तु मतिश्रुतको तो परोक्ष कहा है और मनोजन्य ज्ञान मतिश्रुतके भीतर है इसलिये वह भी परोक्ष कहलाया।

प्रश्न–आगम में नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष का स्पष्ट उल्लेख है और नोइन्द्रिय का अर्थ तो मन ही होता है इसलिये मनोजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाया ।

उत्तर–भले आदमी ! आगम के सूत्रका अर्थ न जान कर तू ऐसा कहता है । आगम में नोइंद्रिय शब्दका अर्थ मन नहीं है, किन्तु आत्मा है । नोइंद्रिय प्रत्यक्ष अर्थात् सिर्फ आत्मा से होनेवाला प्रत्यक्ष । अगर नोइंद्रिय का अर्थ आत्मा न किया जायगा तो निम्न लिखित आपत्तियाँ खड़ी होंगी ।

(क) अवधिज्ञान अपर्याप्त अवस्था में भी बतलाया गया है परन्तु अपर्याप्त अवस्था में मन नहीं होता अगर अवधिज्ञान मानसिक होगा तो अपर्याप्त अवस्था में कैसे होगा ?

(ख) सिद्धों के मन नहीं होता, इसलिये उनके भी प्रत्यक्ष ज्ञान का अभाव मानना पड़ेगा ।

(ग) मनोनिमित्तज्ञान मनोद्रव्य द्वारा ही होता है इसलिये परनिमित्त वाला होने से वह अनुमान की तरह परोक्ष ही कहलाया न कि प्रत्यक्ष ।

(घ) मनोजन्य ज्ञान अगर प्रत्यक्ष होगा तो वह मतिश्रुत में शामिल न होगा क्योंकि मतिश्रुत परोक्ष हैं । तब मतिज्ञानके २८ भेद कैसे होंगे ? [मन के चार भेद निकल जाने से चौबीस ही होंगे ।]

यहाँ पर नोइंद्रिय का जो आत्मा अर्थ किया गया है वह जबर्दस्ती की खींचातानी है । वास्तव में नोइंद्रिय का अर्थ मन

ही होता है। टीकाकार ने जो चार आपत्तियाँ बतलाई हैं वे बिलकुल निःसार हैं। उनकी यहाँ संक्षेप में आलोचना की जाती है।

(क) जिस प्रकार अपर्याप्त अवस्था में अवधिज्ञान होता है उस प्रकार श्रुतज्ञान भी तो होता है। श्रुतज्ञान तो मानसिक ही है। जब मानसिक होने पर भी श्रुतज्ञान अपर्याप्त अवस्था में रहता है, तब अवधि क्यों नहीं रह सकता ? बात यह है कि मन करण है। जबतक करण न हो तबतक ज्ञान का उपयोग नहीं हो सकता परन्तु लब्धिरूप में ज्ञान रह सकता है। अपर्याप्त अवस्था में लब्धि [शक्ति] रूप में अवधिज्ञान होता है।

(ख) सिद्धों के प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी तरह का पर-पदार्थों का ज्ञान ही नहीं होता। प्रत्यक्ष परोक्ष भेद परपदार्थोंकी अपेक्षा से हैं। जब उनके परपदार्थों का ज्ञान ही नहीं तब प्रत्यक्ष परोक्ष की चिन्ता व्यर्थ है।

(ग) परनिमित्त के होने से प्रत्यक्ष परोक्ष नहीं होता किन्तु स्पष्टता और अस्पष्टता से होता है। ज्ञान मात्र किसी रूप में पर-निमित्तक होता है। परन्तु इसीलिये उसकी प्रत्यक्षता नष्ट नहीं होती।

(घ) 'मनोजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होने से मतिश्रुत में शामिल न होगा' यह कहना ठीक नहीं क्योंकि मन से पैदा होने वाले सभी ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होते। जो मानसिक प्रत्यक्ष होते हैं वे अवधि आदि में शामिल होते हैं, और जो परोक्ष होते हैं वे मतिश्रुत ज्ञान में शामिल किये जाते हैं। मतिज्ञान के जो २८ भेद हैं वे मतिज्ञानके हैं न कि प्रत्यक्ष मतिज्ञान के।

इस प्रकार 'नोइंद्रिय' शब्द का वास्तविक 'मन' अर्थ करने में कोई बाधा नहीं है। नंदीसूत्र में जो अवधि आदि को नोइंद्रिय प्रत्यक्ष कहा है वह मानसिक प्रत्यक्ष है जो कि सत्य और मौलिक है।

इस विवेचनसे यह अच्छी तरह समझा जा सकता है कि जब से पांच ज्ञानों को दो भागों में बांटने की चेष्टा हुई तभी से इन ज्ञानों का स्वरूप भी विकृत हुआ है। तथा संगति बैठाने के लिये सांव्यहारिक आदि भेदों की कल्पना हुई है। इस भेद कल्पना ने अवधि आदि के स्वरूप को और भी विकृत कर दिया।

इस प्रकार दूसरे दर्शनों के निमित्त से या संघर्षण से जैनाचार्यों को नयी ज्ञानव्यवस्था करनी पड़ी किन्तु उनको जब पांचज्ञानवाली मान्यता से समन्वय करना पड़ा तब उनको उसी कठिनाई का सामना करना पड़ा जिसका कि दो नौकाओं पर सवारी करने वाले को करना पड़ता है। इस चेष्टा से पांचों ज्ञानों का स्वरूप इतना विकृत होगया कि समन्वय का मूल्य न रहा, साथ ही पांच ज्ञानों की मान्यता अन्धश्रद्धा में विलीन हो गई खास कर अवधि मनःपर्यय केवलज्ञान तो बिलकुल अश्रद्धेय होगये। जैनधर्म की पांच ज्ञानवाली मान्यता पर जो प्रत्यक्ष परोक्ष और उसके भेद प्रभेदों का आवरण पड़ गया है, उसको जब तक हम न हटायेंगे तबतक ज्ञानों के वास्तविक रूप की खोज न कर सकेंगे।

इसलिये यह चर्चा मैंने यहाँ पर की है कि पाँच ज्ञानों के स्वरूप पर स्वतन्त्रता से विचार किया जा सके। "अमुक ज्ञान तो प्रत्यक्ष है इसलिये उसका ऐसा लक्षण नहीं हो सकता" इत्यादि

आपत्तियों का यहाँ इसलिये कुछ मूल्य नहीं है कि ज्ञानों की प्रत्यक्षता परोक्षता का यह विचार मौलिक नहीं है । न्यायशास्त्र में आये हुए प्रमाण के लक्षण से लेकर उसके भेदप्रभेदों तक का जितना विवेचन है वह सब जैनेतर दार्शनिकों के साथ होनेवाले संघर्षण का फल है । आचार्यों की इन खोजों में सभी सत्य है और वह महात्मा महावीर के मौलिक विवेचन से विरुद्ध नहीं गया है, यह नहीं कहा जा सकता । बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि पीछेके कुछ आचार्यों ने तो दूसरों का अन्ध अनुकरण तक कर डाला है । उदाहरण के लिये माणिक्यनन्दिके परीक्षामुख की एक बात लीजिये । इनने प्रमाण के लक्षण में 'अपूर्व' विशेषण डाला है, जिसे कि मीमांसकों के प्रभाव का फल कहना चाहिये । पहिले के जैनाचार्य पूर्वार्थग्राही को भी प्रमाण मानते हैं । बल्कि विद्यानन्दिने तो इस विषय को बिलकुल ही स्पष्ट लिखा है कि ज्ञान चाहे पूर्वार्थग्राही हो या अपूर्वार्थग्राही उसके प्रमाण होने में बाधा (१) नहीं है ।

यह तो एक उदाहरण है । ऐसी बहुत सी बातें विचारणीय हैं । प्रमाण की स्वपरव्यवसायात्मकता, उत्पत्ति में परतस्त्व, प्रत्यक्ष परोक्ष की परिभाषा, अनुमान के अंगों का विचार, हेतु के उपलब्धि अनुपलब्धि आदि भेद, प्रमाण का सामान्यविशेषात्मक विषय, आदि बातें सब पीछे की हैं, विचारणीय भी हैं । मूलजैनसाहित्य में इन बातों की चर्चा ही नहीं थी । दार्शनिक संघर्षण के कारण ये सब बातें

---

(१)तत्त्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता । लक्षणेन गतार्थत्वाद्व्यर्थमन्यद्विशेषणम् ॥ १-१०-७७ । गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति । तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम् । १-१०-७८ ।

आईं। इसलिये अगर आज हमें इनके विरोध में कुछ कहना पड़े तो इससे प्राचीन जैन विद्वानों की मान्यताओं का विरोध होगा, न कि महात्मा महावीर की मान्यताओं का।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का स्वरूप

सब ज्ञानों का मूल मतिज्ञान है। इन्द्रियों के द्वारा होनेवाला प्रत्यक्ष, मानसिक विचार, स्मरण, तुलनात्मक ज्ञान, तर्क वितर्क अनुमान, अनेक प्रकार की बुद्धि आदि सभी का मतिज्ञान में अन्तर्भाव होता है। इसलिये साधारणतः मतिज्ञान का यही लक्षण किया जाता है कि 'इन्द्रिय और मन से जो ज्ञान पैदा होता है वह मतिज्ञान है (१)।

प्रश्न—मति और श्रुत में क्या अन्तर है?

उत्तर– मतिज्ञान स्वार्थ है, और श्रुतज्ञान परार्थ है। श्रुतज्ञान दूसरों के विचारों का भाषा के द्वारा होनेवाला ज्ञान (२) है इसलिये वह परार्थ कहलाता है। मुख्यतः शास्त्रज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं।

प्रश्न—शास्त्र में अर्थ से अर्थान्तर के ज्ञानको श्रुतज्ञान कहा है।

उत्तर--शब्दको सुनकर अर्थ का ज्ञान करना अर्थ से अर्थान्तर का ही ज्ञान है। परन्तु यह नियम नहीं है कि एक अर्थ से

---

(१) इन्द्रियैर्मनसा च यथास्वमर्थान्मन्यते अनया मनुते मननमात्रं वा मतिः। सर्वार्थसिद्धि १-९।

(२) शब्दमाकर्णयतो भाष्यमाणस्य, पुस्तकादिन्यस्तं वा चक्षुषा पश्यतः, घ्राणादिभिर्वा अक्षराणि उपलभमानस्य यद्विज्ञानं तत् श्रुतमुच्यते। त० टी० सिद्धसेन १-९।

दूसरे अर्थका जितना ज्ञान होगा वह सब श्रुतज्ञान कहलायगा। यदि ऐसा माना जायगा तो चिन्ता (तर्क) अभिनिबोध (१) अनुमान श्रुतज्ञान कह लायगा। मतिज्ञान के ३३६ भेदों में ऐसे बहुत से भेद हैं जो एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ के ज्ञानरूप हैं, वे सब श्रुत-ज्ञान कहलाएँगे। परन्तु वे मतिज्ञान ही (२) माने जाते हैं। इसलिये गोम्मटसार (३) आदि का लक्षण अतिव्याप्त है।

प्रचलित भाषा में जिसे हम शास्त्रज्ञान कहते हैं वही श्रुतज्ञान है, बाकी सब मतिज्ञान है। जैन शास्त्रों के निम्नलिखित वर्णन भी मतिश्रुतकी इस परिभाषा को स्पष्ट करते हैं।

[क] श्रुतज्ञान के जहाँ भी कहीं भेद किये गये हैं, वहाँ अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट किये गये हैं। शास्त्र के भेदों को ही श्रुतके भेद कहा गया, इससे मालूम होता है कि शास्त्रज्ञान ही श्रुतज्ञान है।

[ख] जिस प्रकार श्रुतज्ञान के विषय में सभी द्रव्यों का समावेश होता है, उसी प्रकार मतिज्ञान का विषय भी बतलाया (४) गया है। परन्तु प्रश्न यह है कि मतिज्ञान के द्वारा धर्म अधर्म आदि अमूर्तिक द्रव्यों का ज्ञान कैसे होगा? किसी भी इन्द्रिय से हम

---

(१) तत्साध्याभिमुखो बोधो नियतः साधने तु यः। कृतोऽनिंद्रिय-युक्तेनाभिनिबोधः स लक्षितः। श्लोकवार्तिक १-१३-१२२।

(२) एतेषाम् श्रुतादिष्वप्रवृत्तेश्च। सर्वार्थसिद्धि १-१३।

(३) अत्थादो अत्थंतर मुवलंभं तं भणंति सुदणाणं। गो० जी० ३१५।

(४) मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु। त० अ० १ सूत्र २६। द्रव्येषु इति बहुवचननिर्देशः सर्वेषां जीवधर्माधर्माकाशपुद्गलानां सङ्ग्रहार्थः। सर्वार्थसिद्धि।

अमूर्तिक पदार्थ को नहीं जान सकते । यह प्रश्न प्राचीन विद्वानों के सामने भी खड़ा हुआ था परन्तु मतिज्ञान की ठीक परिभाषा भूलजाने से इस प्रश्नका उनसे ठीक समाधान न हुआ । पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि [१] में कहते हैं--अनिन्द्रिय नामका करण है, उससे पहिले धर्म अधर्म आदि का अवग्रह होता है, उसके बाद श्रुतज्ञान उस विषय में प्रवृत्त होता है ।"

पूज्यपाद का यह उत्तर बिलकुल अस्पष्ट और टालमटूल है, क्योंकि मनके द्वारा धर्म द्रव्यका अनुभव तो होता नहीं है । हां, अनुमान होता है । अगर अनुमान [अर्थ से अर्थान्तर का ज्ञान] श्रुतज्ञान है तो धर्म द्रव्य का यह श्रुतज्ञान कहलाया न कि मतिज्ञान, मन के द्वारा धर्म आदि का अवग्रह किसी भी तरह सिद्ध नहीं होता । यही कारण है कि अकलंकदेवने धर्मादि के अवग्रहादि का उल्लेख नहीं किया; सिर्फ 'मन का व्यापार होता है' इतना ही कहा है । और श्लोकवार्तिककारने इस प्रश्न से किनारा काट लिया है(२) ।

सिद्धसेन गणीने इस प्रश्न का समाधान दूसरी तरह किया है । वे कहते हैं कि 'पहिले श्रुतज्ञान से धर्मद्रव्य का ज्ञान होता है पीछे जब वह उसका ध्यान करता है तब मतिज्ञान(३) होता है ।

---

(१) अनिन्द्रियाख्यं करणमस्ति तदालम्बनो नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमलब्धिपूर्वक उपयोगोऽवग्रहादिरूपः प्रागेवोपजायते । ततस्तत्पूर्वं श्रुतज्ञानं तद्विषयेषु स्वयोग्येषु व्याप्रियते । स० सि० १-२६ ।

(२) नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमलब्ध्यपेक्षं नोइन्द्रियं तेषु व्याप्रियते । त० राज० १-२६-४ ।

(३) मतिज्ञानी तावत् श्रुतज्ञानेनोपलब्धेष्वर्थेषु यदाऽक्षरपरिपाटीमन्तरेण स्वभ्यस्तविद्यो द्रव्याणि ध्यायति तदा मतिज्ञानविषयः सर्वद्रव्याणि । त०भा० टीका १-२७

इस समाधान में उलटी गंगा बहायी गई है। अनुभव और मान्यता यह है कि पहिले मति होता है, पीछे श्रुत (१) होता है, जबकि गणीजीने पहिले श्रुत और पीछे मति का कथन किया है। दूसरी बात यह है कि ध्यान, किसी उपयोग की स्थिरता है। ध्यान से उस उपयोग की स्थिरता सिद्ध होती है न कि उपयोगान्तरता। इस लिये ध्यानरूप होने से श्रुतज्ञान मतिज्ञान नहीं बन सकता। वास्तव में वह अर्थ से अर्थान्तरका ज्ञान तो रहता ही है। इससे यह बात स्पष्ट है कि अर्थ से अर्थान्तर के ज्ञान को श्रुतज्ञान नहीं कहते किंतु शास्त्रज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। शास्त्रज्ञान के सिवाय बाकी अर्थ से अर्थान्तर का ज्ञान मतिज्ञान ही है। दूसरे शब्दों में हम मति-ज्ञानी को बुद्धिमान कह सकते हैं और श्रुतज्ञानी को विद्वान कह सकते हैं। बुद्धि और विद्याके अन्तर से मतिश्रुत के अन्तर का अंदाज लग सकता है।

प्रश्न—मतिज्ञान का क्षेत्र अगर इतना व्यापक होगा तो मति- और श्रुत में व्याप्य-व्यापक भाव हो जायगा। अर्थात् श्रुतज्ञान मति का अंश हो जायगा।

उत्तर—विशेषावश्यक भाष्य में कहा है कि 'श्रुतज्ञान मति-ज्ञान का एक विशिष्ट भेद ही है, इसलिये उसे मतिज्ञान के बाद कहा(२) है।' इस प्रकार किसी अपेक्षा से श्रुतज्ञान, मति का विशिष्ट

---

(१) मइपुव्वं सुयमुत्तं न मई सुयपुव्विया विसेसोऽयं। विशेषावश्यक १०५।

(२) मइपुव्वं जेण सुयं तेणाईए मई, विसिट्ठो वा—मइभेओ चेव सुयं तो मइसमणंतरं भाणियं। ८६।

भेद होने पर भी बुद्धि और विद्वत्ताके समान उन दोनों में भेद स्पष्ट है। मतिज्ञान स्वयं उत्पन्न ज्ञान है अर्थात् उसमें परोपदेश की आवश्यकता नहीं है, जब कि श्रुतज्ञान परोपदेश से पैदा होता है—उसमें शब्द और अर्थ के संकेत की आवश्यकता होती है।

प्रश्न—क्या मतिज्ञान में संकेत की आवश्यकता नहीं होती? आंखों से जब हम घड़ा देखते हैं, तब 'यह घड़ा है इस प्रकार के ज्ञानके लिये 'घड़ा' शब्द के संकेत की आवश्यकता होती है : तब इस प्रकार के मतिज्ञान को क्या हम श्रुतज्ञान कहें?

उत्तर—यहां हमें घड़े के ज्ञानके लिये संकेत की आवश्यकता नहीं है किन्तु उसके व्यवहार के लिये है। जिसको घड़े का संकेत है, और जिसे घड़े का संकेत नहीं है दोनों ही घड़े का ज्ञान कर सकते हैं।

प्रश्न—जब मनुष्य पैदा होता है तब उसे किसी भाषा का संकेत नहीं होता और संकेत बिना श्रुतज्ञान नहीं होता, तब किसी को श्रुतज्ञान कैसे पैदा होगा, क्योंकि संकेत के बिना न तो श्रुतज्ञान होता है न श्रुतज्ञान के बिना संकेत?

उत्तर—पिछला वाक्य ठीक नहीं। क्योंकि श्रुतज्ञान के लिये संकेत की जरूरत है परन्तु संकेत के लिये श्रुतज्ञान अनिवार्य नहीं है। संकेत श्रुतज्ञान से भी होता है और मतिज्ञान से भी। जब हमसे कोई कहता है कि 'इस वस्तु को घड़ा कहते हैं' तब यह संकेत श्रुतपूर्वक है। परन्तु जब कोई बालक, वचन और क्रिया के

अविनाभाव से संकेत का अनुमान करता है, तब वह मतिपूर्वक संकेत कहलाता है।

प्रश्न—मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थ को दूसरे से कहने के लिये जब हम मन ही मन भाषा रूप में परिणत करते हैं तब वह मति बना रहता है या श्रुत हो जाता है?

उत्तर—मन में भाषारूप परिणत होने से अर्थात् भावाक्षर होने से कोई ज्ञान श्रुत नहीं कहलाता, किन्तु भाषा से पैदा होने से श्रुत कहलाता है। इसलिये भाषापरिणत होने पर भी वह मति ही कहलाया।

प्रश्न—ज्ञान को भाषा परिणत करके जब हम बोलते हैं तब कौन ज्ञान कहलाता है?

उत्तर—बोलना कोई ज्ञान नहीं है, न शब्द ज्ञान है। दूसरे प्राणी के लिये यह श्रुत ज्ञान का कारण है, इसलिये हम इसे द्रव्य श्रुत कहते हैं। इसे द्रव्याक्षर अथवा व्यञ्जनाक्षर भी कहते हैं।

प्रश्न—द्रव्यश्रुत का क्या अर्थ है और भावश्रुत तथा द्रव्यश्रुत में क्या अन्तर है?

उत्तर—भावश्रुत का कारण जो शब्द, या भाषारूप संकेत लिपि आदि द्रव्यश्रुत हैं। इनसे जो ज्ञान पैदा होता है वह भावश्रुत है। द्रव्यश्रुत कारण और भावश्रुत कार्य है।

प्रश्न—द्रव्यश्रुत, भावश्रुत का कारण है, परन्तु कार्य किस का है।

उत्तर–द्रव्यश्रुत, किसी भी ज्ञान का कार्य हो सकता है। मतिज्ञान से(१) किसी अर्थ को जान कर जब हम बोलते हैं तब द्रव्य श्रुत मतिज्ञान का कार्य है, जब श्रुतज्ञान से जानकर बोलते हैं तब भावश्रुत का कार्य है।

प्रश्न–द्रव्यश्रुत, भावश्रुत का कार्य भी है और कारण भी है। दोनों बातें कैसे संभव हैं?

उत्तर–द्रव्यश्रुत, वक्ता के भावश्रुत का कार्य है और श्रोता के भावश्रुत का कारण है। वह एकही भावश्रुत का कार्य और कारण नहीं है।

प्रश्न–श्रुतज्ञान से जाने हुए पदार्थ पर विशेष विचार करना और नयी खोज करना किस ज्ञान में शामिल है?

---

(१) इस विषय में भी जैनाचार्यों में मतभेद है। तत्त्वार्थभाष्यके टीकाकार सिद्धसेनगणी कहते हैं कि मतिज्ञानके द्वारा किसी अर्थका प्रतिपादन नहीं होसकता क्योंकि यह ज्ञान मूक है। मतिज्ञानसे जाना हुआ अर्थ श्रुतसे ही कहा जा सकता है। केवलज्ञान यद्यपि मूक है लेकिन सम्पूर्ण अर्थको जाननेसे प्रधान है, इसलिये प्रतिपादन कर सकता है। (मत्याद्यालोचितोऽर्थः न मत्यादिभिः शक्यः प्रतिपादयितुं मूकत्वान्मत्यादिज्ञानानां, अतस्तैरालोचितोऽप्यर्थः पुनरपि श्रुतज्ञानेनैवान्यस्मै स्वपरप्रत्यायकेन प्रतिपाद्यते, तस्मात्तदेवालम्बितं युक्तं नेतराणि। केवलज्ञानं तु यद्यपि मूकं तथाप्यशेषार्थपरिच्छेदात् प्रधानमिति कृत्वाऽवलम्ब्यते। त० भा० टी० १-३५) परन्तु इस मतका विरोध विशेषावश्यकमें किया गया है। मैंने भी इस मतको स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि इससे ईहा अवाय आदि सभी ज्ञान श्रुत कहलाने लगेंगे। मूक होने पर भी अगर केवलज्ञानसे प्रतिपादन होसकता है तो मतिज्ञानसे भी होसकता है। 'भासासंकप्पविसेसमेत्तओ वा सुयमजुत्तं।' विशेषावश्यक १३४। अर्थात् भाषाके संकल्प मात्रसे किसी ज्ञानको श्रुत कहना ठीक नहीं है।

उत्तर यह विशेष विचार बुद्धिरूप है और बुद्धि मतिज्ञान का भेद है, इसलिये यह भी मतिज्ञान कहलाया। मतिज्ञान के भेद में चार तरह की बुद्धि का कथन किया जाता है उसमें दूसरा भेद 'वैनयिकी' बुद्धि का है। यह विशेष विचार वैनयिकी बुद्धिरूप होने से मतिज्ञान कहलाया।

प्रश्न—यदि श्रुतज्ञान भाषाजन्य ज्ञान है तो वह एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय के कैसे होगा ? उनके कान नहीं होते कि वे सुनें। उनके मन नहीं होता कि वे विचार करें। दूसरे के भावों से वे क्या लाभ उठा सकते हैं ?

उत्तर–श्रुतज्ञानकी जितनी परिभाषाएँ प्रचलित हैं, उन सब के सामने यह प्रश्न खड़ा ही है। श्रुतज्ञान अगर अर्थ से अर्थान्तरका ज्ञान माना जाय तो भी एकेन्द्रिय आदि के मन नहीं होने से श्रुज्ञान कैसे होगा ? इसके अतिरिक्त एक प्रश्न यह भी खड़ा होता है कि अगर इनके मन न माना जाय तो इनके द्वारा सुव्यवस्थित काम कैसे होते हैं ? चींटियोंका अगर ध्यान से निरीक्षण किया जाय तो मालूम होगा कि उनके मन है। वे अपना एक समूह बनातीं हैं। एक चींटीको अगर कहीं कुछ खाद्य सामग्री का पता लगता है तो वह सैकड़ों चींटियों को बुलालाती है। एक चींटी जब दूसरी चींटियों पर अपना भाव या ज्ञात समाचार प्रकट करती है तब उनमें कोई भाषा होना चाहिये और भाषाजन्य ज्ञान श्रुतज्ञान है। इस प्रकार उनके श्रुतज्ञान स्पष्ट सिद्ध होता है। किन्तु मन नहीं माना जाय तो श्रुतज्ञान कैसे होगा ? मन के बिना श्रुत असम्भव है।

जमीन के भीतर चींटियों के नगर होते हैं, उनमें सड़कें होती हैं रक्षक चींटियाँ, रानी चींटी, आदि के उनमें दल होते हैं। वे विजातीय चींटियों से लड़ती हैं। इस प्रकार एक तरह की संगाठित समाजरचना उनमें होती है। न्यूनाधिक रूप में अन्य कीड़ों तथा प्राणियों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। केवल मनके विषय में ही यह प्रश्न नहीं है, किन्तु आज वैज्ञानिकों ने वृक्षों में भी पाँचों इन्द्रियाँ साबित की हैं। सुस्वर, सुगंध दुर्गंध का उनके ऊपर जैसा प्रभाव पड़ता है वह यंत्रों द्वारा दिखला दिया गया है। इससे जैन शास्त्रों में वर्णित एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि भेद भी शङ्कनीय मालूम होने लगते हैं। परन्तु जैन शास्त्रों के देखने से मालूम होता है कि वे भी इस विषय में उदासीन नहीं हैं, वे भी इस बात से परिचित हैं कि एकेन्द्रिय आदि जीवों पर पाँचों इन्द्रियों के विषयों का प्रभाव पड़ता है, इसलिये किसी न किसी रूपमें उनने भी एकेन्द्रिय आदि जीवोंके न्यूनाधिक रूपमें पाँचों इन्द्रियाँ और मनको स्वीकार किया है। इसलिये उनके श्रुतज्ञान भी होता है।

नंदी सूत्रकी टीका में लिखा है:--

"जिसके तर्कवितर्क ढूँढना खोजना, सोच विचार नहीं है वह असंज्ञी है। सम्मूर्छिमपंचेन्द्रिय विकलेन्द्रिय आदि को असंज्ञी समझना चाहिये। उनके उत्तरोत्तर थोड़ा थोड़ा मन होता है इसलिये वे थोड़ाथोड़ा जानते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रियों की अपेक्षा सम्मूर्छिम पंचेन्द्रिय अस्पष्ट या थोड़ा जानते हैं। उससे कम चतुरिन्द्रिय आदि। सबसे कम एकेन्द्रिय क्योंकि उसके

मनोद्रव्य प्रायः है ही नहीं। सिर्फ बहुत ही थोड़ा बिलकुल अव्यक्त मन उनके पाया जाता है जिससे उनके आहारादि संज्ञाएँ होती हैं (१)"

विशेषावश्यक भाष्य [२] में कहा है:-

"पृथ्वीकायिकादि जीवों के जिस प्रकार द्रव्येन्द्रिय बिना भावेन्द्रिय ज्ञान होता है उसी प्रकार उनके द्रव्यश्रुत के अभाव में भावश्रुत जानना चाहिये।"

"असंज्ञी जीवों के संज्ञाएँ बहुत थोड़ी होती हैं इसलिये वे संज्ञी नहीं कहलाते। जिस प्रकार एकाध रुपया होने से कोई धनवान नहीं कहलाता, साधारण रूप होने से कोई रूपवान नहीं

---

(१) यस्य पुनर्नास्ति ईहा अपोहो मार्गणा गवेषणा चिन्ता विमर्शः सोऽसंज्ञीति लभ्यते। स च सम्मूर्छिम पञ्चेन्द्रियविकलेन्द्रियादिर्विज्ञेयः। सहि स्वल्पस्वल्पतरमनोलब्धिसम्पन्नत्वादस्फुटमस्फुटतरमर्थं जानाति। तथाहि संज्ञि पञ्चेन्द्रियापेक्षया सम्मूर्छिमपञ्चेन्द्रियोऽस्फुटमर्थं जानाति, ततोऽप्यस्फुटं चतुरिन्द्रियःततोऽप्यस्फुटतरं त्रीन्द्रियः ततोऽस्फुटतरं द्वीन्द्रियः ततोऽप्यस्फुटतयेकेन्द्रियः तस्य प्रायो मनोद्रव्यासम्भवात् केवलमव्यक्तमेव किञ्चिदतीवाल्पतरं मनो दृष्टव्यं यद्वशादाहारादिसंज्ञा अव्यक्तरूपाः प्रादुर्ष्यन्ति। नन्दी टीका सूत्र ३९।

(२) जह सुहुमं भाविंदिय नाणं दव्विंदियावरोहे वि। तह दव्वसुयाभावे भावसुयं पत्थिवाईणं। १०३। टीका में विस्तृत विवेचन है। एकेन्द्रियों पर पांचों इन्द्रियों के विषय का प्रभाव बताया है और पाँचों ही इन्द्रियावरण का क्षयोपशम माना है इसप्रकार पण्णवणा सूत्र के नवमें सूत्र की टीका में वृक्षों को पंचेन्द्रिय सिद्ध किया है। और बाह्येन्द्रियों के न होने से उन्हें एकेन्द्रिय माना है। पंचेंदियो वि बउलो नरोव्व सव्वविसयोवलम्भाओ। तहवि न भण्णइ पंचिंदिओ त्ति बज्झिन्दियाभावा॥ ततो न भावेन्द्रियाणि लौकिक व्यवहारपथावतीर्णैकेन्द्रियादिव्यपदेशनिबन्धनं किन्तु द्रव्येन्द्रियाणि।

कहलाता उसी प्रकार साधारण संज्ञासे कोई संज्ञी नहीं कहलाता किन्तु उसके लिये विशेष संज्ञा होना चाहिये (१)।"

इन उद्धरणों से इतना तो सिद्ध होता है कि आज से करीब डेढ़ हजार वर्ष पहिले वृक्षादिकों के पाँचों इन्द्रियाँ और मन माना जाने लगा था। किन्तु जीवोंके एकेन्द्रिय आदि भेद उससे भी पुराने हैं। उस पुरानी परम्परा का समन्वय करने के लिये यह मध्यम मार्ग निकाला गया कि एकेन्द्रियादि भेद द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा मानना चाहिये, भावेन्द्रियाँ तो सभी के सब होती हैं। मेरे खयाल से इसकी अपेक्षा यह समन्वय कहीं अच्छा है कि सभी जीवोंके सभी द्रव्येन्द्रियाँ और द्रव्यमन माना जाय और विशेषावश्यक के शब्दों में उन्हें इसलिये एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि ठहराया जाय कि उनके शेष इन्द्रियाँ बहुत अल्प परिणाम में हैं। द्रव्येन्द्रिय का बिलकुल अभाव मानने से भावेन्द्रिय भी काम न कर सकेगी।

जो लोग समन्वय न करना चाहते हों, उन्हें यह समझना चाहिये कि प्राचीन समय में जितने साधन थे उसके अनुसार खोज करके जीवों के एकेन्द्रियादि भेद निश्चित किये गये, पीछे नये नये अनुभव होने से उन सबको पंचेन्द्रिय माना जाने लगा। इस प्रकार एक दिशासे जैन वाङ्मय में धीरे धीरे विकास भी होता रहा। परन्तु इस विचारधारा की अपेक्षा समन्वय की तरफ़ झुकने का एक

(१) थोवा न सोहणा विय जं सा तो नाहिकीरए इहइं। करिसावणेण धणवं ण रूववं मुत्तिमेत्तेण। ५०६। जह बहुदव्वो धणवं पसत्थरूवा अ रूववं होइ। महईइ सोहणाए य तह सण्णी नाणसण्णाए। ५०७।

प्रबल कारण है। एकेन्द्रिय जीवों के, जैनसाहित्य के प्राचीनसे प्राचीनकाल में मति और श्रुत दो ज्ञान मिलते हैं। जब कि श्रुत-ज्ञान मनसे ही माना गया है तब यह निश्चित है कि उनमें मन भी माना जाता होगा। अन्यथा उनके श्रुतज्ञान मानने की कोई जरूरत नहीं थी।

खैर, इस विवेचन से इतना तो सिद्ध है कि एकेन्द्रिय आदि सभी जीवों के मन होता है इसलिये वे थोड़ा बहुत विचार कर सकते हैं, एक दूसरे के भावों को भी किसी न किसी रूप में समझ सकते हैं। भावों को व्यक्त करने का या समझने का जो माध्यम है वही भाषा है, और उससे पैदा होने वाला ज्ञान श्रुत-ज्ञान है। इस प्रकार श्रुतज्ञान सभी संसारी जीवों के सिद्ध होने में कोई बाधा नहीं है।

प्रश्न—श्रुतज्ञान की जो परिभाषा आपने की है वह ठीक है, परन्तु इससे श्रुतज्ञान का विषय मतिज्ञान से कम हो जायगा और श्रुतज्ञान की विशेषता न रहेगी। श्रुतज्ञान का अलग स्थान मानने की जरूरत भी क्या रहेगी?

उत्तर--मतिज्ञान का विषय अगर श्रुतज्ञान से अधिक सिद्ध हो जाय तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है। वास्तव में मतिज्ञान का विषय सब से अधिक ही है। और किसी अपेक्षा से श्रुतज्ञान मति-ज्ञान का भेद ही है, यह बात पहिले कही जा चुकी है। श्रुतज्ञान का जो अलग स्थान रक्खा गया है उसका कारण यह है कि मनुष्य जाति का सारा विकास इसके ऊपर अवलम्बित है। यदि पूर्वजों

से आये हुए ज्ञान का लाभ हमें समाजके द्वारा न मिला होता तो हम सबसे अधिक बुद्धिमान होने पर भी मूर्ख से मूर्ख से भी पीछे रहे होते। किसी भी दिशा में जाओ उस दिशा में हमें इसके उदाहरण मिलेंगे। आज हम जिस सुन्दर रेलगाड़ीमें यात्रा करते हैं, उसको बनानेवाला ऐसी गाड़ी कभी न बना सकता, यदि उसे इससे पहिले की साधारण रेलगाड़ी का ज्ञान अपने पूर्वजों से न मिला होता। मतलब यह है कि अगर हम श्रुतज्ञान को अपने जीवन में से निकाल दें तो हममें से प्रत्येक को अपनी उन्नति का प्रारम्भ बिलकुल पशुजीवन से शुरू करना पड़े, हमारे ज्ञान का लाभ आगे की पीढ़ी न उठा सके, इसलिये उसे भी वहीं से उन्नति का प्रारम्भ करना पड़े जहां से हमने किया है। इस प्रकार प्राणी-समाज किसी भी तरह की उन्नति कभी न कर सके। श्रुतज्ञान ने ही हमारे जीवन को इतना उन्नत बनाया है। पूर्वजों का और अपने साथियों के अनुभवों का लाभ अगर हमें न मिले तो हमारी अवस्था पशुओंसे भी निम्नश्रेणी की हो जाय। इसीलिये श्रुतज्ञान का क्षेत्र भी विशाल है, उसका स्थान भी उच्च और स्वतन्त्र है। यद्यपि श्रुतज्ञान, मतिज्ञान बिना खड़ा नहीं हो सकता किन्तु श्रुतज्ञान के बिना मतिज्ञान, पशु से अधिक उच्च नहीं बना सकता। इस प्रकार मतिश्रुत एक दूसरे में ओतप्रोत होने पर भी स्वार्थ और परार्थ की दृष्टि से दोनों में भेद है।

मतिज्ञान के भेद

मतिज्ञानके भेद जो वर्तमान में प्रचलित हैं उनका विकास कब कैसे हुआ इसका पता लगाना यद्यपि कठिन है, तो भी इतना अवश्य

कहा जासकता है कि म. महावीरने मतिज्ञानके प्रचलित भेद नहीं कहे थे। ये भेद प्राचीन होने पर भी म. महावीरके पीछेके हैं। यह बात आगेकी आलोचनासे मालूम होजायगी। यहाँ मैं पहिले वर्तमान की मान्यताओं का उल्लेख करता हूँ, पीछे आलोचना की जायगी।

१ मतिज्ञान के दो भेद हैं श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित (१)

श्रुतज्ञान से जिसकी बुद्धि संस्कृत हुई है, उसको श्रुतकी आलोचना की अपेक्षा के बिना जो मतिज्ञान पैदा होता है वह श्रुतनिश्रित मतिज्ञान कहलाता है। और जो शास्त्रसंस्कार के बिना स्वाभाविक ज्ञान होता है वह अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान (२) है।

२–श्रुतनिश्रित के चार भेद हैं–अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

३–इन्द्रिय और मन के निमित्त से दर्शन के बाद जो प्रथम ज्ञान होता है वह अवग्रह (३) है। जैसे, यह मनुष्य है।

४–अवग्रह के बाद विशेष इच्छारूप जो ज्ञान है वह ईहा

---

(१) आभिणिबोहिय नाणं दुविहं पन्नत्तं। तं जहा सुयनिस्सियं असुयनिस्सियं च—नंदी सूत्र। २६।

(२) पुव्वं सुयपरिकम्मिय मइस्स जं संपयं सुयाईयं। तं निस्सिय मियरं पुण अणिस्सियं मइचउक्कं तं। विशेषावश्यक, १६९।

(३) विषयविषयिसन्निपातानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः। त० राजवार्तिक १–१५–१। विषयविषयिसंनिपातानान्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनाज्जातमाद्यमवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः। २-७ प्रमाणनयतत्वालोक।

(१) है। जैसे, यह पुरुष मालूम होता है। अवग्रह के बाद संशय होता है जैसे यह स्त्री है या पुरुष ? इस संशय को दूर करके ईहा होता है जिसमें संशय की तरह अनिश्चित दशा नहीं होती, ज्ञान एक तरफ को झुकता है। संशय और ईहा में यह अन्तर माना जाता है।

५–विशेष चिन्होंसे उसका ठीक ठीक निर्णय करना अवाय (२) है।

६–जाने हुए अर्थ का विस्मरण न होना धारणा (३) है।

७–अवग्रह के दो भेद हैं, व्यञ्जनाग्रह (४) और अर्थावग्रह। दर्शन के बाद जो अव्यक्तग्रहण होता है वह व्यञ्जनावग्रह है उसके बाद जो व्यक्तग्रहण होता है वह अर्थावग्रह है।

८–चक्षु और मन से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता, क्योंकि ये

---

(१) अवगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकांक्षणमीहा। यथा पुरुष इत्यवगृहीते तस्य भाषावयोरूपादिविशेषराकांक्षणमीहा। त० रा० १-१५-२। अवगृहीतार्थ विशेषाकांक्षणमीहा। प्र० न० त०। अवग्रहेण विषयीकृतो योऽर्थः अवान्तर-मनुष्यत्वादि जाति विशेषलक्षणः तस्य विशेषः कर्णाटलाटादिभेदस्तस्याकांक्षणम्भवितव्यता प्रत्ययरूपतयाग्रहणाभिमुख्यमीहा इत्यभिधीयते। रत्नाकरावतारिका २-८।

(२) विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः। भाषादिविशेषनिर्ज्ञानात्तस्य याथात्म्येन अवगमनमवायः। दाक्षिणात्योऽयं युवा गौरः इति वा। त० राजवार्तिक १-१५-३ ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः। प्र० न० त० २-९।

(३) निर्ज्ञातार्थाविस्मृतिर्धारणा। १-१५-४ त० रा०।

(४) व्यक्तग्रहणं अर्थावग्रहः अव्यक्तग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः। त० रा० १-१८-२। सुप्तमत्तादिसूक्ष्मावबोधसहितपुरुषवत्। सिद्धसेनगणिकृत तत्वार्थटीका १-१८।

दोनों इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी हैं अर्थात् पदार्थ का स्पर्श किये बिना पदार्थ को जानती हैं।

९—व्यञ्जनावग्रह चार इन्द्रियों से होता है, इसलिये उसके चार भेद हैं। अर्थावग्रह पाँच इन्द्रिय और मनसे होता है इसलिये उसके छः भेद हैं। इसी प्रकार ईहा, अवाय और धारणा के भी छः छः भेद हैं। इस प्रकार मतिज्ञान के कुल (४+६+६+६=२८) अट्ठाईस भेद हैं।

१०—विषय के भेद से इन सब भेदों के बारह बारह भेद हैं इसलिये मतिज्ञान के कुल ३३६ (२८×१२=३३६) भेद होते हैं। बारह भेद निम्नलिखित हैं—बहु, एक, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिसृत, निसृत, अनुक्त, उक्त, ध्रुव, अध्रुव।

बहु=बहुत पदार्थों का ज्ञान। एक=एक पदार्थ का ज्ञान। बहुविध=बहुत तरह के पदार्थों का ज्ञान। एकविध=एक तरह के पदार्थों का ज्ञान। क्षिप्र=शीघ्र ज्ञान। अक्षिप्र=देरीसे होनेवाला ज्ञान। अनिसृत [१]=एक अंशको निकला हुआ देखकर पूर्ण अंशका ज्ञान या समान पदार्थ को देखकर दूसरे पदार्थ का ज्ञान। जैसे—पानी के

---

(१) वत्थुस्स पदेसादो वत्थुग्गहणं दु वत्थुदेसं वा। सयलं वा अवलंबिय अणिस्सिदं अण्णवत्थुगई ।३१२। पुक्खरगहणे काले हत्थिस्सय वदण गवय गहणे वा। वत्थंतर चंदस्स य धेणुस्स य बोहणं च हवे। ३१३। गोम्मटसार जीवकांड। एवं अनुमानस्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्काख्यानि चत्वारि मतिज्ञानानि अनिसृतार्थविषयाणि केवलपरोक्षाणि एक देशतोऽपि वैशद्याभावात्, शेषाणि...बह्वाद्यर्थविषयाणि मतिज्ञानानि सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाणि। गो० जी० टीका।

ऊपर सूंड देखकर पानी के भीतर प्रविष्ट हाथी का ज्ञान अथवा मुखको देखकर चंद्रका ज्ञान। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान इसीके भीतर हैं। निसृत-पूरा निकल जाने पर उस पदार्थ का ज्ञान। अनुक्त(१) बिना कहे अर्थात् थोड़ा कहे जाने पर पूरी बातका ज्ञान। उक्त--पूरी बात कही जानेपर पदार्थ का ज्ञान। ध्रुव-एक सरीखा ग्रहण होते रहना। अध्रुव--न्यूनाधिक ग्रहण होना।

११-बारह भेदों में बहु बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त ध्रुव, ये छः भेद उच्च श्रेणीके हैं और बाकी छः निम्नश्रेणीके हैं।

१२-मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध ये सब मतिज्ञान हैं।

१३- अश्रुतनिश्रित मतिज्ञानके भेद बुद्धि की अपेक्षा चार हैं। औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा, पारिणामिकी। (ये चार भेद दिगम्बरसम्प्रदाय में प्रचलित नहीं हैं, लेकिन बुद्धियोंको मतिज्ञान माननेका उल्लेख दिगम्बर शास्त्रों में भी मिलता है। तत्त्वार्थ राजवार्तिक में(२) प्रतिभा, बुद्धि, उपलब्धि आदिको मतिज्ञान कहा है)

उपदेश आदि के बिना किसी विषय में नई सूझ कराने वाली बुद्धि औत्पत्तिकी [३] बुद्धि है। नन्दी सूत्र में औत्पत्तिकी

---

(१) अनुक्तमाभिप्रायेण प्रतिपत्तेः-त० रा० १-१६-१०।

(२) मतिःस्मृतिः संज्ञा चिंताभिनिबोधादयः इत्यर्थः। के पुनस्ते ? प्रतिभाबुद्ध्युपलब्ध्यादयः। त० रा० १-१३-१।

(३) उत्पत्तिरेव न शास्त्राभ्यासकर्मपरिशीलनादिकम् प्रयोजनं कारणं यस्याः सा औत्पत्तिकी। ननु सर्वस्याः बुद्धेः कारणं क्षयोपशमः तत्कथमुच्यते उत्पत्तिरेव प्रयोजनमस्याः इति उच्यते, क्षयोपशमः सर्वबुद्धिसाधारणः ततो

बुद्धि के २६ उदाहरण दिये हैं, जो बहुत मनोरंजक हैं। यहाँ एक छोटासा उदाहरण दिया जाता है। एक पुरुष की दो विधवा स्त्रियों में पुत्र के विषय में झगड़ा हुआ। दोनों ही कहती थीं कि यह मेरा पुत्र है। न्यायाधीश ने आज्ञा दी कि पुत्र के दो टुकड़े किये जाँय और दोनों को एक एक टुकड़ा दिया जाय। जो नकली माता थी वह तो इस न्याय से संतुष्ट हो गई, परन्तु जो असली माता थी उसका प्रेम उमड़ पड़ा। वह बोली—यह मेरा पुत्र नहीं है, पूरा पुत्र दूसरी को दिया जाय। इस प्रकार असली माताका पता लगगया न्यायाधीशकी यहाँ औत्पत्तिकी बुद्धि है। श्रेणिक चरित्र आदि में अभयकुमारकी बुद्धि की जो उदाहरणमाला दी गई है, वह सब औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

विनय [१] अर्थात् शास्त्र या शिक्षण। शास्त्रीय ज्ञानसे जो बुद्धि का असाधारण विकास होता है और उस पर जो विशेष विचार होता है, वह वैनयिकी बुद्धि है।

दो विद्यार्थियों को एकसा शिक्षण देने पर भी एक विद्या के रहस्य को अधिक समझता है, और दूसरा उतना नहीं समझता। यह वैनयिकी बुद्धि का अन्तर है।

नासौ मंदेन प्रतिपत्तिर्निबन्धनं भवति। अथ च बुद्धयन्तराद्भेदेन प्रतिपत्यर्थं व्यपदेशान्तरं कर्तुमारब्धं तत्र व्यपदेशान्तरनिमित्तं अत्र न किमपि विनयादिकं विद्यते कवलमेवमेव तथोत्पत्तिरिति सैव साक्षान्निर्दिष्टा। नन्दीसूत्र टीका। पुव्वं अदिट्ठमस्सुअमवेइयतक्खणविसुद्धगहियत्था। अव्वाहयफलजोगा बुद्धी उत्पात्तिया नाम। नन्दी २६।

(१) भरनित्थरणसमत्था तिवग्गा सुत्तत्थगहियपेआला। उभओ लोग फलवई विणयसमुत्था हवइ बुद्धी।

शिल्पादि के अभ्यास से जो बुद्धि का विकास होता है है वह कार्मिकी अथवा कर्मजा [१] बुद्धि है।

उमर के बढ़ने से अर्थात् अनुभव के बढ़ने से जो बुद्धि का विकास होता है, वह पारिणामिकी [२] बुद्धि है।

मतभेद और आलोचना

मैं कहचुका हूँ कि मतिज्ञान का यह वर्णन शताब्दियों के विकास का फल है। म. महावीर के समय में यह इतना या ऐसा नहीं था। इस विषय में अनेक जैनाचार्यों के अनेक मत हैं तथा बहुत सी मान्यताएँ अनुचित भी मालूम होती हैं।

मतिज्ञान के श्रुतनिश्चित और अश्रुतनिश्चित भेदों का स्वरूप निश्चित नहीं है। अवग्रह आदि श्रुतनिश्रित के भेद औत्पत्तिकी आदि बुद्धि में भी पाये जाते हैं। बुद्धियों के द्वारा जब ज्ञान होता हैं तब वह अवग्रहादिरूप ही होता है। ऐसी हालत में अवग्रहादि को बुद्धियों से अलग भेद क्यों मानना चाहिये। नन्दी के टीकाकार ने इस प्रश्न को उठाया है। वे कहते हैं [३]-

---

(१) उवओगादिट्ठसारा कम्मपसंग परिघोलण विसाला। साहुक्कार फलवई कम्मसमुत्था हवइ बुद्धी। नन्दी० २६।

(२) अणुमाणहेउ दिट्ठंतसाहिआ वयविवागपरिणामा। हिआनिस्सेअस-फलवइ बुद्धी परिणामिआ नाम। नन्दी० २

(३) औत्पत्तिक्यादिकमप्यवग्रहादिरूपमेव तत्कोनयोर्विशेषः? उच्यते, अवग्रहादि रूपमेव परं शास्त्रानुसारमन्तरेणोत्पद्यते इति भेदेनोपन्यस्तं। नन्दी टीका २६।

"औत्पत्तिकी आदि बुद्धि भी अवग्रहादि रूप है। फिर दोनों में विशेषता क्या है ? इसका उत्तर यह है कि औत्पत्तिकी आदि बुद्धियों में शास्त्रों का अनुकरण नहीं होता। यही इन दोनों में भेद है।"

परन्तु यहाँ प्रश्न तो यह है कि अवग्रहादि भेद जब श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित में पाये जाते हैं तब वे सिर्फ श्रुतनिश्रित के ही भेद क्यों माने जायँ ? वास्तव में अवग्रहादिक को श्रुतनिश्रित या अश्रुतनिश्रित के मूलभेद नहीं मानना चाहिये।

इधर औत्पत्तिकी आदि को अश्रुतनिश्रित कहा है परन्तु वैनयिकी में स्पष्ट ही श्रुतनिश्रितता है। नन्दी के टीकाकार [१] इस विषय में कहते हैं—

"यद्यपि श्रुताभ्यासके बिना वैनयिकी बुद्धि नहीं हो सकती परन्तु इसमें श्रुतका अवलम्बन थोड़ा है इसलिये इसे अश्रुतनिश्रित में शामिल किया है।"

इसके अतिरिक्त यह भी एक विचार की बात है कि अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा को श्रुतनिश्रित कहने का कारण क्या है ? इनके साथ श्रुतका ऐसा कौनसा सम्बन्ध है जो अश्रुतनिश्रित के साथ नहीं है। कीड़ी आदि को भी अवग्रह आदि ज्ञान होता है। उनमें श्रुतसंस्कार क्या है ? और नन्दी सूत्र आदि में जो अश्रुत-

---

(१) नन्वश्रुतनिश्रिता बुद्धयो वक्तुमभिप्रेताः ततो यद्यस्याः त्रिवर्गसूत्रार्थगृहीतसारत्वं ततोऽश्रुतनिश्रितत्वं नोपपद्यते, नहि श्रुताभ्यासमन्तरेण त्रिवर्गसूत्रार्थगृहीतसारत्वं सम्भवति। अत्रोच्यते—इह प्रायोवृत्तिमाश्रित्याश्रुतनिश्रितत्वमुक्तं, ततः स्वल्पश्रुतभावेऽपि न कश्चिद्दोषः। नंदी टीका २६।

निश्रित के उदाहरण दिये गये हैं उनमें एक भी ऐसा नहीं है जिसमें पूर्व श्रुतसंस्कार न हो।

अगर यह कहा जाय कि ईहामें विशेषनिर्णय करने के लिये विशेष शब्दव्यवहार की आवश्यकता होती है वह शब्दव्यवहार श्रुतसंस्कार के बिना नहीं हो सकता इसलिये इसे श्रुतनिश्रित कहा है। परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं माल्म होता क्योंकि इससे भी ज्याद: शब्दव्यवहार तो अश्रुतनिश्रित में करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अवग्रह तो बिना शब्दव्यवहार के भी होता है तब अवग्रह को श्रुतनिश्रित क्यों कहना चाहिये ?

श्रुतनिश्रित अश्रुतनिश्रित के वर्तमान भेदों में कुछ न कुछ गड़बड़ी जरूर रहगई है या आगई है। माल्म होता है कि इसी से आचार्य उमास्वातिने अपने तत्त्वार्थाधिगम में इन भेदों का बिलकुल उल्लेख नहीं किया न तत्त्वार्थ के टीकाकारों ने किया है।

फिर भी यहां मतिज्ञान के श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित भेदों का निषेध नहीं किया जाता सिर्फ़ उनके लक्षण आदि विचारणीय कहे जाते हैं। अवग्रह, ईहा आदि को श्रुतनिश्रित के भेद मानना ठीक नहीं है। दोनों की परिभाषाएँ निम्नलिखित करना चाहिये। श्रुतज्ञान से किसी बात को जानकर उस पर विशेष विचार करना श्रुतनिश्रित और बाकी इन्द्रिय अनिन्द्रिय से पैदा होनेवाला स्वार्थज्ञान अश्रुत-निश्रित है। वैनयिकी बुद्धि को श्रुतनिश्रित में ही शामिल करना चाहिये।

अवग्रहादिके विषय में भी जैन शास्त्रोंमें बहुत से मतभेद पाये जाते हैं। विशेषावश्यक भाष्यकारने अन्य जैनाचार्योंके द्वारा

बताये हुए अवग्रहादिके लक्षणोंका खण्डन किया है। पहिले जो मैंने अवग्रह का लक्षण लिखा है वह दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार है और श्वेताम्बर सम्प्रदायके नैयायिकोंने भी उपर्युक्त लक्षणको माना है। परन्तु विशेषावश्यककार का उसके विरोध में निम्नलिखित वक्तव्य है।

१–अवग्रह में विशेषका ग्रहण नहीं होता किन्तु सामान्य मात्रका ग्रहण होता है। इसलिये 'यह मनुष्य है' इस प्रकारके ज्ञानको अवग्रह नहीं कहसकते। वास्तव में यह अपाय है। इसके पहिले जो अर्थ सामान्यका ज्ञान है वह अवग्रह है।

२–यदि अवग्रहमें विशेषग्रहण होता तो उसके पहिले हमें ईहाज्ञान मानना पड़ेगा (१)। सामान्यज्ञानसे विशेषज्ञान होने में ईहा होना आवश्यक है। परन्तु अवग्रहके पहिले ईहा असंभव है। उसके पहिले तो व्यञ्जनावग्रह रहता है।

३–शास्त्रमें अवग्रह एक समयका कहा (२) है और वह अवक्तव्य, सामान्यमात्रग्राही और नामजात्यादिकी कल्पना [३] रहित है। तब उसमें मनुष्य आदिकी कल्पना कैसे होसकती है? अवग्रह

---

१ किं सद्दो किमसद्दो त्तऽणीहए सद्द एव किह जुत्तो। अह पुव्वमीहिऊणं सद्दोत्ति मयं तई पुव्वं। २५७। किं तं पुव्वं गहिअं जमीहओ सद्द एव विण्णाणं अह पुव्वं सामण्णं जमीहमाणस्य सद्दोत्ति। २५८। अत्थोग्गहओ पुव्वं होयव्वं तस्स गहणकालेणं। पुव्वं च तस्स वंजणकालो सो अत्थ परिहुण्णो। २५९। जइ सद्दोत्ति न गहिअं न उ जाणइ जं क एस सद्दोपि। तमजुत्तं सामण्णे गहिए मग्गिज्जइ विसेसो। २६०।

२ उग्गहे इक्कसमइए, अन्तो मुहुत्तिआ ईहा अन्तोमुहुत्तिए अवाए, धारणा सखेज्जं वा कालं असंखेज्जं वा कालं। नन्दीसूत्र ३४

३ अव्वत्तमणिद्देसं सामण्णं कप्पणारहियं। २६२। वि० भा०

तो एक ही समयका है जब कि मनुष्य शब्द बोलने में असंख्य समय लगजाते हैं ।

४--अवग्रह को विशेषग्राही मानने से अवग्रह अनियत विशेष-ग्राही हो जायगा । किसी मनुष्य को ऐसा अवग्रह होगा कि 'यह कोई लम्बा पदार्थ है,' किसी को ऐसा अवग्रह होगा कि 'यह मनुष्य है' किसी को होगा कि 'यह स्त्री है' आदि ।

विशेषावश्यक भाष्य की २७०-२७१-२७२ वीं गाथाओं में दस दोष दिये गये हैं, जिनमें से मुख्य मुख्य मैंने ऊपर दिये हैं ।

भाष्यकार के इस वक्तव्य में कुछ युक्ति होने पर भी दूसरे जैनाचार्यों की तरफ से भी आपत्ति उठाई जा सकती है ।

१ यदि अवग्रह बिलकुल निर्विकल्प है तो उसमें और दर्शनोपयोग में क्या अन्तर रह जाता है ?

२ बिलकुल निर्विकल्प अवग्रह के बहु, बहुविध आदि बारह भेद कैसे हो सकते हैं ? और जब अवग्रह का काल सिर्फ एक समय का है, तब उसमें क्षिप्र, अक्षिप्र भेद कैसे आ सकते हैं ?

यहाँ भाष्यकार ने अर्थावग्रह के दो भेद किये हैं एक नैश्चयिक दूसरा व्यावहारिक । उनका कहना है कि 'जो एक समयवर्ती नैश्चयिक अवग्रह है उसमें बहु आदि बारह भेद नहीं हो सकते हैं'। परन्तु भाष्यकारकी यह युक्ति बहुत कमज़ोर है व्यावहारिक अवग्रह तो वास्तव में अपाय नामका तीसरा ज्ञान है, इसलिये वास्तव में व्यावहारिक अवग्रह के बारह भेद अपाय के बारह भेद हुए । वास्तव में अवग्रह तो भेदरहित ही रहा । इतना

ही नहीं किन्तु जब उसमें इतना भी विशेष भान नहीं होता कि यह रूप या रस है, तब इन्द्रियों के भेद से उसके छः भेद भी नहीं बन सकते हैं। इसलिये वर्तमान में दर्शनोपयोग जिस स्थान पर हैं उस स्थान पर अर्थावग्रह आ जायगा तब इसके पहिले दर्शनोपयोग की मान्यता न रह सकेगी।

इसके अतिरिक्त व्यञ्जनावग्रह का भी एक प्रश्न है कि व्यञ्जनावग्रह का स्थान क्या होगा?

अवग्रह के दो भाग हैं व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह। अर्थावग्रह के पहिले व्यञ्जनावग्रह माना जाता है। इसमें पदार्थ का अव्यक्तग्रहण होता है। परन्तु जैनाचार्यों में इस विषय में भी बहुत मतभेद है। यह बात सर्वमान्य है कि व्यञ्जनावग्रह अर्थावग्रह के पहिले होता है और सिर्फ चार ही इन्द्रियों से होता है। सर्वार्थसिद्धि-कार ने एक उदाहरण से इस बात को इस तरह स्पष्ट किया है--

जैसे किसी मिट्टी के नये वर्तनपर पानी की एक बूँद डालो तो वह तुरंत सूखजाती है, परन्तु एकके बाद दूसरी बूँद डालनेपर धीरेधीरे वर्तन गीला होने लगता है। इसी प्रकार शब्दादिक भी इंद्रियों से प्रारम्भ में व्यक्त नहीं होते परन्तु धीरे धीरे व्यक्त होते हैं। व्यक्त होना अर्थावग्रह है और अव्यक्त रहना व्यञ्जनावग्रह [१] है।

---

१ यथा जलकण द्वित्रिसिक्तः शरावोऽभिनवो नार्द्रीभवति स एव पुनः पुनः सिच्यमानः शनैस्तिम्यते, एवं श्रोत्रादिष्विन्द्रियेषु शब्दादिपरिणताः पुद्गला द्वित्र्यादिषु समयेषु गृह्यमाणा न व्यक्तीभवन्ति पुनः पुनरवग्रहे सति व्यक्तीभवन्ति। सर्वार्थसिद्धि १-१८। राजवार्तिक में भी ऐसा ही कथन है।

विशेषावश्यक में इस वक्तव्य के खण्डन में कहा गया है कि 'सब विषयी और सब विषय व्यक्ताव्यक्त होते हैं, इसलिये किसी को व्यक्त कहना या किसी को अव्यक्त कहना ठीक नहीं। साथ ही नन्दीसूत्र के अनुसार चक्षु और मन से भी अव्यक्तग्रहण हो सकता है[१] इसलिये व्यञ्जनावग्रह छः इन्द्रियों से मानना पड़ेगा; परन्तु यह आगम के विरुद्ध है।

विशेषावश्यक टीका का यह वक्तव्य अनुभव और युक्ति के विरुद्ध मालूम होता है। सर्वार्थसिद्धि के वक्तव्य का समर्थन नन्दी-सूत्र के वक्तव्य से भी होता है। वहाँ पर 'सोते हुए मनुष्य को बारबार जगाने' में व्यजनावग्रह बतलाया है और सर्वार्थसिद्धि की तरह मिट्टी के वर्तन का भी उदाहरण (२) दिया है। नन्दीसूत्र का

---

१ नन्दीसूत्र में व्यंजनावाग्रह के चार भेद ही माने हैं। शब्दके व्यंजनाव-ग्रह का निरूपण करते समय अव्यक्त शब्द ग्रहण को व्यंजनावग्रह कहा है। परन्तु आश्चर्य है कि उनने रूप का भी अव्यक्तग्रहण बतलाया है, जब कि नेत्रोंसे व्यंजनावग्रह नहीं माना जाता। 'से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं रूपं पासिज्जा तेणं रूवत्ति उग्गहिए··· आदि।

२ पडिबोहगदिट्ठंतेणं से जहानाम केई पुरिसे कंचि पुरिसं सुत्तं पडिबो-हिज्जा अमुगाअमुगत्ति, तत्थ चोअगे पन्नवगं ऐवं वयासी—किं एगसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति दुसमयपविट्ठा पुदगला गहणमागच्छंति जावदससमयप-विट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति संखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति असंखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छन्ति। एवं वदतं चोअगं पण्णवए एवं वयासी नोएक्कसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छन्ति··· असंखिज्जसमय-पविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छन्ति। मल्लगदिट्ठंतेणं से जहानामए केइ पुरिसे आवाग-सीसाओ मल्लगं गहाय तत्थेकं उदगबिंदु पक्खेवेज्जा से नट्ठे अण्णेवि पक्खित्ते सेवि

वक्तव्य इतना स्पष्ट है कि भाष्यकारने जो नन्दीसूत्र के अर्थ बदलने की चेष्टा की है वह व्यर्थ ही गई है। नन्दीसूत्र में (१) यह बात स्पष्ट है कि व्यञ्जनावग्रह में अव्यक्त रस का ग्रहण होता है जब कि अर्थावग्रह में रस का ग्रहण होता है।

वर्तमान मान्यताओं के अनुसार व्यञ्जनावग्रह का लक्षण ऊपर दिया है। विशेषावश्यक में उसका समन्वय नहीं होता इस लिये व्यञ्जनावग्रह का स्वरूप भी दूसरा ही है। वे कहते (२) हैं—

"जिस प्रकार दीपक से घड़ा प्रगट होता है उसी प्रकार जिसके द्वारा अर्थ प्रगट हो उसे व्यंजन कहते हैं। उपकरण इंद्रिय और शब्दादि परिणत पुद्गलों का सम्बन्ध व्यंजन है। इंद्रिय, अर्थ और इन्द्रियार्थसंयोग तीनोंही व्यंजन कहलाते हैं। इनका ग्रहण करना व्यंजनावग्रह है। यद्यपि व्यंजनावग्रह में ज्ञान का अनुभव नहीं होता तो भी वह ज्ञान का कारण होने से ज्ञान कहलाता

नट्ठे, एवं पक्खिप्पमाणेसु पक्खिप्पमाणेसु होहा से उदगबिंदू जेणं तं मल्लगं रावेहि इत्ति, होही ··· जे ··· ठाहिति, ··· भारिहिति ··· पवाहेहिति एवामेव पक्खिप्पमाणेहि पक्खिप्पमाणेहिं अणंतेहिं जाहे तं वंजणं पूरिअं होई ताहे 'हुं' ति करेई। नन्दीसूत्र। ३५

१ से जहानामगे केइ पुरिसे अव्वत्तं रसं आसाइज्जा तेणं रसोत्ति उग्गहिए। ३५। नन्दीसूत्र के टीकाकार मलयगिरि ने विशेषावश्यक का अनुकरण करके नन्दीसूत्र के अर्थ बदलने की चेष्टा की है, परन्तु यह अनुचित है।

२ वंजिज्जइ जेणत्थो घडोव्व दीवेण वंजणं तं च। उवगरणिंदियसद्दाइ परिणयदव्वसम्बन्धो। १९४। अण्णाणं सो बहिराइणं व तक्कालमनुवलम्भाओ। न तदंते तत्तोच्चिय उवलंभाओ तओ नाणं। १९५। तक्कालम्मिवि नाणं तत्थत्थि तणुं ति तो तमव्वत्तं। बहिराईणं पुण सो अन्नाणं तदुभयाभावा।

है। उस समय ज्ञान बहुत थोड़ा है इसलिये वह अव्यक्त है, बहिरों की तरह अज्ञान नहीं है।"

व्यंजनावग्रह का इसी प्रकार का विवेचन ज़रा स्पष्टता के साथ सिद्धसेन गणीने तत्त्वार्थभाष्य की टीका में किया है। वे कहते हैं

"जिस समय स्पर्शन आदि उपकरण इन्द्रियों का स्पर्शादि आकारपरिणत पुद्गलोंके साथ संबंध होता है और 'यह कुछ है' ऐसा ज्ञान नहीं होता किन्तु सोते हुए या उन्मत्त पुरुष की तरह सूक्ष्म ज्ञानवाला होता है, उस समय स्पर्शन आदि इन्द्रिय शक्तियों से मिले हुए पुद्गलों से जितनी विज्ञानशक्ति प्रगट होती है वह व्यञ्जन [पुद्गलराशि] का ग्राहक व्यञ्जनावग्रह [१] कहलाता है।

व्यञ्जनावग्रह का यह विवेचन सत्य के समीप पहुँच जाने पर भी अस्पष्ट है। इन्द्रिय, अर्थ और संयोग ये तीनों ही व्यञ्जन [२] कहे गये हैं परन्तु व्यञ्जनावग्रह में इन्द्रियग्रहण कैसे हो सकता है? अर्थावग्रह में भी विशेष अर्थका ग्रहण नहीं होता तब व्यञ्जनावग्रह में अर्थग्रहण कैसे आ जायगा? और संयोग का ज्ञान तो संयोगियों के ज्ञान के बिना हो नहीं सकता, इसलिये यहाँ संयोग का ग्रहण कैसे होगा? यदि कहा जाय कि व्यञ्जन का अर्थ अव्यक्त है तब

---

(१) यदोपकरणेन्द्रियस्य स्पर्शनादेः पुद्गलैः स्पर्शाद्याकारपरिणतैः सम्बन्ध उपजातो भवति न च किमप्येतदिति गृह्णाति किन्त्वव्यक्तविज्ञानोऽसौ सुप्तमत्तादि सूक्ष्मावबोधसहितपुरुषवत् इति तदा तैः पुद्गलैः स्पर्शनाद्युपकरणेन्द्रियसंश्लिष्ट-स्पर्शाद्याकारपरिणतपुद्गलराशेर्व्यंजनाख्यस्य ग्राहिकाऽवग्रह इति भण्यते। १-१८

(२) व्यंजनशब्देनोपकरणेन्द्रियं शब्दादिपरिणतं वा द्रव्यं तयोःसम्बन्धो वा गृह्यते। नन्दी टीका (मलयगिरि) ३५।

प्रश्न यह होता है कि व्यञ्जन का अर्थ अव्यक्त क्यों हुआ ? व्यञ्जन का अर्थ तो 'प्रकट होना' या 'प्रगट होने का साधन' है। सर्वार्थ-सिद्धि (१) आदि में भी व्यञ्जन का अर्थ अव्यक्त किया है इसलिये वह भी शंकास्पद है। इसके अतिरिक्त यह भी एक प्रश्न है कि वह अव्यक्तता किसकी और कैसी ? विशेषावश्यक के मतानुसार तो अर्थावग्रह में इतना विषय भी नहीं होता कि यह रूप है या शब्द, तब अर्थावग्रह भी अव्यक्त कहलाया। ऐसी हालत में व्यञ्जनावग्रह की अव्यक्तता का क्या रूप होगा ? अथवा क्या केवल सामान्य, किसी प्रत्यक्ष का विषय हो सकता है (२) हम को इतना भी न मालूम हो कि यह कानका विषय है या नाकका, फिर भी ज्ञान हो यह कैसे सम्भव है ? इस प्रकार अर्थावग्रह को सामान्यमात्र-ग्राही मानने से व्यञ्जनावग्रह का स्वरूप कुछ समझ में नहीं आता और अर्थावग्रह भी ज्ञानरूप नहीं रहता और न इन दोनों के अनेक भेद बन सकते हैं।

मतलब यह है कि नन्दीसूत्र और सर्वार्थसिद्धि आदि में जो मिट्टी के घड़े का दृष्टान्त देकर व्यञ्जनावग्रह का स्वरूप कहा है, वह ठीक है परन्तु उसके कारण का उल्लेख ठीक नहीं हुआ। विशेषावश्यक में कारण का उल्लेख कुछ ठीक करके भी स्वरूप बिगड़ गया है। इसके अतिरिक्त कारण के विवेचन में भी शंकाएँ हैं। वास्तव में व्यजना-वग्रह की गुत्थी ज्यों ज्यों सुलझाई जाती है, त्यों त्यों उलझती जाती है। इस विषय में एक प्रश्नमाला खड़ी की जाय इसकी अपेक्षा पहिले

---

(१) व्यंजनं अव्यक्तं। सर्वार्थसिद्धि १-१८। त० राजवार्तिक १-१८

(२) निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत्।

कुछ बातों का निर्णय कर लेना अच्छा है। पहिले उपकरणेन्द्रियका स्वरूप कहा जाता है।

"इन्द्रियों के दो भेद हैं, भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय। भावेन्द्रिय तो कर्मका क्षयोपशम और आत्मा का परिणाम है। द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं-निर्वृत्ति और उपकरण। इन्द्रियाकार आत्मप्रदेशों की रचना आभ्यन्तर निर्वृत्ति है और इन्द्रियाकार पुद्गल--परमाणुओं की रचना बाह्य-निर्वृत्ति है। निर्वृत्ति का जो उपकार करे वह उपकरण है। जैसे आँखमें दालके बराबर जो छोटा गटा है वह निर्वृत्ति है उसके चारों तरफ़ जो काला गटा और सफेद गटा है वह अभ्यन्तर उपकरण है और पलक वगैरह बाह्य उपकरण हैं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों में भी समझना चाहिये"। यह सर्वार्थसिद्धि का (१) कथन है जो कि दिगम्बर सम्प्रदाय में सर्वमान्य है।

"अंगोपांग नामकर्म से बनाये हुए इन्द्रियद्वार, कर्म-विशेष से संस्कृत शरीर प्रदेश, निर्वृत्ति है और उसका अनुपघात या अनुग्रह करनेवाले उपकारी [२] हैं।'

---

१ उत्सेधांगुलासंख्येयभागप्रमितानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानां वृत्तिरभ्यन्तर निर्वृत्तिः। तेष्वात्मप्रदेशेष्विन्द्रियव्यपदेशभाक्षु यः प्रतिनियतसंस्थानो नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः सा बाह्या निर्वृतिः। येन निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणम्। पूर्ववत्तदपि द्विविधम्। तत्राभ्यंतरं कृष्णशुक्लमण्डलम्। बाह्यमक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादि। सर्वार्थसिद्धि २--१७।

२ निर्वृत्तिरङ्गोपांगनामनिर्वर्तितानीन्द्रियद्वाराणि, कर्मविशेषसंस्कृता शरीरप्रदेशाः निर्माणनामाङ्गोपांगप्रत्यया मूलगुणनिर्वर्तनेत्यर्थः। उपकरणं बाह्यमाभ्यंतरं च निर्वर्तितस्यानुपघातानुग्रहाभ्यामुपकारीति। उ० तत्त्वार्थभाष्य-२-१७

उमास्वातिकृत तत्त्वार्थ भाष्यका यह वक्तव्य सर्वार्थसिद्धि के अनुकूल है परन्तु भाष्य के टीकाकार सिद्धसेनगणीने जो इनका अर्थ किया है वह सर्वार्थसिद्धि के विरुद्ध है। सर्वार्थसिद्धिकार जिसे बाह्यनिर्वृत्ति कहते हैं उसे ये आभ्यंतर निर्वृत्ति (१) कहते हैं और सर्वार्थसिद्धिकार जिसे बाह्योपकरण कहते हैं उसे भाष्य टीकाकार बाह्य-निर्वृत्ति कहते हैं और स्पर्शन इन्द्रिय में बाह्य आभ्यन्तरका प्रायः निषेध करते हैं। उपकरण के विषय में उनका कहना है कि "निर्वृत्ति में जो ग्रहण करने की शक्ति है वह उपकरण है, निर्वृत्ति और उपकरण का क्षेत्र एक ही है। आगम में उपकरण के बाह्य आभ्यन्तर भेद नहीं किये गये हैं यह किसी आचार्य का ही सम्प्रदाय मालूम (२) होता है। निर्वृत्ति को इसलिये पहिले कहा कि पहिले निर्वृत्ति होती है, पीछे

---

१ शष्कुल्यादिरूपा बहिरुपलभ्यमानाकारा निर्वृत्तिरेका, अपरा तु अभ्यन्तरनिर्वृत्तिः नानाकारं कायेन्द्रियमसंख्येयभेदत्वादस्य चान्तर्बहिर्भेदो निर्वृत्तेर्न काश्चित्प्रायः। ... बाह्या पुनर्निर्वृत्तिश्चित्राकारत्वान्नोपानिबद्धुं शक्या यथा मनुष्यस्य श्रोत्रं भ्रूसमं नेत्रयोरुभयपार्श्वतः।, अश्वस्य मस्तके नेत्रयोरुपरिष्टात्तीक्ष्णाग्रम् इत्यादि भेदाद्बहुविधाकारः।

२ तच्च स्वविषयग्रहणशक्तियुक्तं खङ्गस्येवधारा छेदनसमर्था तच्छक्तिरूपमिन्द्रियान्तरं निर्वृतौ सत्यपि शक्त्युपघातैर्विषयं न गृह्णाति तस्मान्निर्वृत्तेः श्रवणादिसंज्ञके द्रव्येन्द्रिये तद्भावादात्मनोऽनुपघातानुग्रहाभ्यां यदुपकारि तदुपकरणेन्द्रियं भवति, तच्च बाहिर्वर्ति अन्तर्वर्ति च निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रियापेक्षयाऽस्यापि द्वैविध्यमावेद्यते। यत्र निर्वृत्तिद्रव्येन्द्रियं तत्रोपकरणेन्द्रियमपि न भिन्नदेशवर्ति तस्येति कथयति तस्याः स्वविषयग्रहणशक्तेर्निर्वृत्तिमध्यवर्तित्वात् ... आगमे तु नास्ति कश्चिदन्तर्बहिर्भेद उपकरणेत्याचार्यस्यैव कुतोऽपि सम्प्रदायः। एवमेतदुभयं द्रव्येन्द्रियमभिधीयते तद्भावेऽप्यग्रहणात्—उपकरणत्वान्निमित्तत्वाच्च। निर्वृत्तेरादौ अभिधा जन्मक्रम प्रतिपादनार्थं तद्भावेह्युपकरणसद्भावात् खड्ग-शक्तिवत्।

उपकरण होता है जैसे पहिले शस्त्र होता है पीछे शक्ति आती है"।

इन दोनों मतों में सर्वार्थसिद्धि का मत ही ठीक मालूम होता है। क्योंकि निर्वृत्ति और उपकरण दोनों ही द्रव्येन्द्रिय हैं इसलिये इनको शक्तिरूप कहना उचित नहीं। अगर उपकरण को शक्तिरूप कहा जाता है तो लब्धिरूप भावेन्द्रिय को क्या कहा जायगा? दूसरी बात यह है कि उपकरण शब्दका जैसा अर्थ है उसके अनुसार किसी वस्तु की शक्ति को उपकरण कहना उचित नहीं मालूम होता। तीसरी बात यह है कि पहिले उपकरण और अर्थ के संयोग को व्यञ्जन कहा गया है। अगर उपकरण कोई शक्ति है तो उसके साथ किसी अर्थ का संयोग नहीं हो सकता। संयोग किसी द्रव्यके साथ कहा जा सकता है, न कि शक्तिके साथ। अगर कहा भी जाय तो जिसकी वह शक्ति है उसके साथ ही संयोग कहा जायगा, न कि शक्ति के साथ। ऐसी हालत में व्यञ्जन का लक्षण करते समय उपकरण और अर्थ का संयोग कहने की अपेक्षा निर्वृत्ति और अर्थ का संयोग कहना उचित होगा। इसलिये सर्वार्थसिद्धि में कही गई उपकरण की परिभाषा ठीक मानना पड़ती है।

यहाँ तकके विवेचन से इतना सिद्ध होता है कि अन्य विषयों के समान इस विषय में भी जैनाचार्यों में खूब मतभेद है, और आचार्योंने अपनी इच्छा के अनुसार जोड़तोड़ किया है; साथ ही इस समस्या को पूर्णरूप से सुलझाने में भी वे असफल रहे हैं। किस ग्रंथ के विवेचन में क्या त्रुटि है, यहाँ संक्षेप में इसका वर्णन किया जाता है।

विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार अगर अवग्रह का विवेचन माना जाय तो (१) अर्थावग्रह सिर्फ सामान्य को विषय करने वाला सिद्ध होता है। परन्तु किसी भी ज्ञान का विषय सिर्फ सामान्य नहीं माना जाता। [२] अर्थावग्रह के बहु आदि भेद न बन सकेंगे। (३) व्यंजनावग्रह का विषय क्या है यह मालूम नहीं होता या तो वह अर्थावग्रह से अधिक विषयी (विशेष विषयी) बन जाता है या ज्ञानात्मक ही नहीं रहता। (४) उपकरण को शक्ति रूप मानने से उसका अर्थ के साथ संयोग सिद्ध नहीं होता।

नंदीसूत्र टीका– में विशेषावश्यकका ही अनुकरण है, इस लिये उसमें भी उपर्युक्त दोष हैं।

तत्त्वार्थ भाष्य टीका में भी विशेषावश्यक का अनुकरण है, परन्तु अवग्रह के विषयमें रूप रस आदि सामान्य रूप से विषय माने हैं। अर्थात् अवग्रह में रूप तो मालूम होता है, परन्तु कौन रूप है यह नहीं मालूम होता [१] इससे उपर्युक्त दोषों में से सिर्फ १ और ३ नम्बर के दोष रह जाते हैं।

तत्त्वार्थ भाष्य की व्याख्या अगर विशेषावश्यक का अनुकरण करके न की जाय तो उपकरणेन्द्रिय की व्याख्या सर्वार्थसिद्धि

---

१ यदा हि सामान्येन स्पर्शनेन्द्रियेण स्पर्शसामान्यमागृहीतमनिर्देश्यादिरूप तत उत्तरं स्पर्शभेदविचारणा ईहाभिधीयते। १–१५। परन्तु 'अर्थस्य' इस सूत्रकी व्याख्यामें इनने अवग्रह के विषय को नामादिकल्पनारहित कहा है और ईहामें स्पर्शके भेद पर विचार नहीं करते। किन्तु यह स्पर्श है या अस्पर्श ऐसा विचार करते हैं। ये परस्पर विरुद्ध उदाहरण इनकी अनिश्चित मति के सूचक मालूम होते हैं।

सरीखी हो जाती है। उससे चौथा दोष भी निकल जाता है।

नंदीसूत्र की व्याख्या भी अगर विशेषावश्यक के अनुकरण में न की जाय तो तत्त्वार्थभाष्यके समान उसमें भी तीन दोष नहीं रहते। परन्तु उसमें एक नयी शंका है। नंदीसूत्र में अव्यक्त को व्यंजनावग्रह सिद्ध करके भी रूप का भी व्यंजनावग्रह बतलाया है। परन्तु यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि चक्षुसे व्यंजनावग्रह नहीं होता।

सर्वार्थसिद्धि–के अनुसार अवग्रह की व्याख्या में उपर्युक्त चारों दोष नहीं रहते; परन्तु वे व्यंजन का अर्थ उपकरण इन्द्रिय न कर के "अव्यक्त" अर्थ करते हैं। यह अर्थ अनेक दृष्टियों से अनुचित है।

पहिली बात तो यह है कि व्यंजन का अर्थ 'प्रगट होना या प्रगट होने का कारण' ही होता है न कि अव्यक्त। दूसरी बात यह है कि 'व्यंजनस्यावग्रहः' यह सूत्र 'अर्थस्य' इस सूत्र का अपवाद है। यदि 'अर्थस्य' इस सूत्र में 'अर्थ' शब्दका अर्थ 'व्यक्त' किया होता तो 'व्यंजन' शब्दका अर्थ 'अव्यक्त' कहना उचित कहलाता; परन्तु सर्वार्थसिद्धिकार 'अर्थ' शब्दका अर्थ 'गुणी' करते हैं और 'इन्द्रियों से गुणका सन्निकर्ष होता है' इस मत का खण्डन करते हैं। तब क्या व्यंजन में गुणी नहीं होता? क्या वह सिर्फ गुणका होता है? यदि नहीं तो, इस सूत्र में अपवाद विधि क्या आई? इन कारणों से व्यंजन का अर्थ ठीक नहीं है।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी ग्रंथकारों ने कुछ न कुछ त्रुटि रक्खी है और एक त्रुटि तो ऐसी है जो सभी में एक सरीखी है।

सभीने चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं माना, परन्तु इसका ठीक ठीक कारण कोई नहीं बता पाता है। यद्यपि सभी ग्रंथकार एक स्वर से बतलाते हैं कि चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं अर्थात् अर्थ-सम्पर्क के बिना ही अर्थ को जानते हैं, परन्तु यह कारण ठीक नहीं मालूम होता। अर्थ के सम्पर्क का व्यंजन के साथ क्या संबंध है? जिस प्रकार प्राप्यकारी में अर्थ और व्यंजन अवग्रह होते हैं, उस प्रकार अप्राप्यकारी में क्यों नहीं? व्यंजन [उपकरण] तो दोनों जगह है। यदि कहा जाय कि 'उसका संयोग नहीं है' तो वह व्यक्त क्यों हो जाता है? जहाँ अव्यक्त को भी जगह नहीं है वहाँ व्यक्त को जगह कैसे मिल सकती है? जिस प्रकार सुप्तावस्था में दस बार बुलाने पर प्रारंभ में नव बार तक व्यंजनावग्रह है, उसी प्रकार किसी को दस बार कोई वस्तु दिखाने पर प्रथम नव बार तक व्यंजनावग्रह क्यों न माना जाना चाहिये? सोते में आँखों के खुल जाने पर या स्त्यानगृद्धि निद्रामें आँखें खुलजाने पर रूपका व्यंजनावग्रह क्यों न माना जाय? यदि कहा जाय कि 'कान में धीरे धीरे शब्द भरते रहते हैं और जब वे पूरे भर जाते हैं तब सुनाई देता है, तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि शब्द गन्ध आदि कान नाक में भरके नहीं रह जाते किन्तु तुरन्त नष्ट हो जाते हैं। दूसरी बात यह है कि सुप्तावस्था में कान में या नाक में कम शब्द या कम गन्ध जाते हों ऐसा नियम नहीं है। अधिक शब्द जाने पर भी सुप्तावस्था में व्यंजनावग्रह होता है और जागृत अवस्था में उसी मनुष्य को थोड़े और मन्द शब्दासे भी अर्थावग्रह होता है। इससे प्राप्यकारिता अप्राप्यकारिता अवग्रह के व्यंजन और अर्थ भेद नहीं बना सकती।

दूसरी बात यह है कि चक्षु को अप्राप्यकारी मानना भी भूल है। प्रायः सभी जैन नैयायिकों ने चक्षुको अप्राप्यकारी माना है. और किरणों का निषेध किया है। उनकी युक्तियाँ निम्न लिखित हैं।

[१] चक्षुके ऊपर विषयका प्रभाव नहीं पड़ता, जैसे तलवार को देखने से आँख नहीं कटती, अग्नि को देखने से आँख नहीं जलती आदि।

(२) यदि चक्षु प्राप्यकारी हो तो वह आँखके अंजन को या अंजन-शलाकाको क्यों नहीं देखती ?

(३) प्राप्यकारी हो तो निकट-दूरके पदार्थ एक साथ न दिखाई दें। एकही साथ में शाखा और चन्द्रमा का ज्ञान भी न हो न बडे बड़े पर्वत आदि का ज्ञान हो।

[४] आंखों से किरणों का निकलना मानना अनुचित है। आंखों में किरण सिद्ध ही नहीं हो सकतीं।

[५] निकट का पदार्थ दिखाई देता है, दूर का नहीं दिखाई देता इत्यादि बातों में कर्म का क्षयोपशम कारण है।

आज वैज्ञानिक युग की कृपा से इस बात को साधारण विद्यार्थी भी समझता है कि आँख से कोई पदार्थ क्यों दिखाई देता है, उपर्युक्त मत भ्रमयुक्त है, साथ ही जो नेत्रों से किरणें निकलना मानते हैं उनका कहना भी भ्रमयुक्त है। वास्तव में पदार्थ से किरणें निकलतीं हैं, और वे आँख पर पड़तीं हैं। इससे हमें पदार्थ का ज्ञान होता है। ऊपर की युक्तियां निःसार हैं। उनका उत्तर निम्न प्रकार है।

[१] तलवार को देखते समय आंखों पर तलवार की किरणें पड़तीं हैं, न कि तलवार। काटने का काम तलवार का है, जलाने का काम अग्नि का है, न कि उनकी किरणों का। हां! किरणों का भी कुछ न कुछ असर पड़ता है। हरे रंग का आंखों पर अच्छा खराब प्रभाव पड़ता है, ज्याद: चमकदार और लाल रंग का खराब प्रभाव पड़ता है। चंचल किरणों का भी बुरा प्रभाव पड़ता है; ज्याद: सिनेमा देखने से, ट्राम बस आदि में बैठ कर पढ़ने से आंखें जल्दी खराब होतीं हैं। यह किरणों का प्रभाव है।

[२] फ़ोकस ठीक न मिलने से अंजन-शलाका आदि दिखाई नहीं पड़ती। फोकस के लिये परिमित दूरी जरूरी है।

(३) निकट या दूरके दो पदार्थों की किरणें जब आँख पर पडती हैं तब उसमें दोनों पदार्थ दिखाई देते हैं।

(४) आंखों से किरणें न निकलने की बात ठीक है।

(५) क्षयोपशम तो एक शक्ति देता है, उसे हम लब्धि कहते हैं। देखने की लब्धि तो सदा रहती है। कोई पदार्थ सामने लाने पर दिखाई देता है, प्रकाश से प्रगट होता है, इनका कारण क्या है? इसका उत्तर जैनाचार्यों के पास नहीं है। दर्पण में प्रति-बिम्ब बताते हैं और उसे छाया कहते हैं; परन्तु किरणों के निमित्त के बिना छाया कैसे होगी? इत्यादि प्रश्नों के विषय में भी वे मौन हैं। जैनाचार्यों ने प्राचीन मतका खण्डन तो जरूर ठीक किया है परन्तु वे अपनी बात कुछ नहीं कह सके हैं। पदार्थ की किरणों के आंखपर पड़ने की बात माननेसे सब बातें ठीक हो जाती हैं।

प्रश्न–वर्तमान सिद्धान्त के अनुसार अंधेरे में दूर का चमकदार पदार्थ क्यों दिखाई देता है और दूसरे क्यों नहीं दिखाई देते ?

उत्तर–चमकदार पदार्थ में स्वयं किरणें होतीं हैं इसलिये उसकी किरणें आँखपर पड़तीं हैं। इससे उसका ज्ञान होता है। दूसरे पदार्थों में किरणें नहीं होतीं हैं, इसलिये वे दिखाई नहीं देते। जब सूर्य का उदय होता है तब उसकी किरणें उस पदार्थ पर पड़तीं हैं, फिर लौटकर आँख पर पड़तीं हैं इससे हमें वह पदार्थ दिखाई देता है। पारदर्शक पदार्थ पर पड़ी हुई किरणें लौटकर आँखपर नहीं पड़तीं या पूरी नहीं लौटतीं, इसलिये वह ठीक नहीं दिखाई देता। ये बातें बहुप्रचलित होने से यहाँ पर नहीं लिखी जातीं। सार यह है कि जैनियों ने आँख को जिस प्रकार अप्राप्यकारी माना है, वह वैसी नहीं है।

इस प्रकार किसी भी जैनाचार्य के मतानुसार अवग्रह के भेदों का ठीक विवेचन नहीं हो सकता है। अगर इस समस्याको हल करना चाहें तो हमें थोड़ी थोड़ी अनेक जैनाचार्यों की बातें ग्रहण कर उन पर स्वतन्त्र विचार करना पड़ेगा। यहाँ निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं।

[१] दर्शन की वर्तमान परिभाषा ठीक नहीं है। पहिले जो मैंने 'आत्मग्रहण दर्शन है' ऐसी परिभाषा लिखी है, वह स्वीकार करना चाहिये।

[२] अर्थावग्रह में रूप रस गन्ध स्पर्श या शब्द का सामान्य ज्ञान मानना चाहिये। विशेषावश्यक की तरह, रूप अरूप से परे न मानना चाहिये।

[३] विशेषावश्यक आदि में जो व्यंजनावग्रह का स्वरूप लिखा है वह ठीक है, परन्तु उपकरण का लक्षण सर्वार्थसिद्धि आदि के अनुसार मानना उचित है।

[४] चक्षु और मन को जैनाचार्यों ने जिस प्रकार अप्राप्यकारी माना है उस प्रकार अप्राप्यकारी वे नहीं हैं, किन्तु अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा उन में कुछ विषमता अवश्य है।

जब हम किसी पदार्थ को छूकर उसके स्पर्श का ज्ञान करते हैं तब उसमें अनेक क्रियाएँ होतीं हैं। पहिले उसके स्पर्श का प्रभाव हमारी उपकरणेन्द्रिय पर पड़ता है, बाद में निर्वृत्ति इंद्रिय पर पड़ता है, अभी तक ज्ञान नहीं हुआ है, पीछे भावेन्द्रियके द्वारा निर्वृत्ति इन्द्रिय का संवेदन होता है, यह दर्शन है। पीछे उपकरण का संवेदन होता है, यह व्यंजनावग्रह है। पीछे पदार्थ के स्पर्श सामान्य का ज्ञान होता है, यह अर्थावग्रह है। बाद में ईहादिक होते हैं।

इंद्रियोंके चारों तरफ़ पतला आवरण रहता है। कोई भी बाहिरी पदार्थ पहिले उसीपर प्रभाव डालता है। जब ज्ञानोपयोग इतना कमज़ोर या क्षणिक होता है कि वह उपकरण के ऊपर पड़े हुए प्रभावके सिवाय अर्थ की कल्पना नहीं करता तब वह व्यंजन (उपकरण) को ग्रहण करनेवाला होने से व्यंजनावग्रह कहलाने लगता है।

चक्षु इंद्रिय के उपकरण की रचना दूसरे ढंग की है। चक्षु का उपकरण, चक्षु के ऊपर नहीं किन्तु उसके दायें बायें होता

है। जो बाह्योपकरण (पलक वगैरह) हैं वे देखते समय हट जाते हैं, इसलिये पदार्थ की किरणें उपकरण पर न पड़ कर निवृत्ति पर सीधी पड़ती हैं इसलिये वहाँ उपकरण (व्यंजन) के जानने की आवश्यकता नहीं है। इसीसे उसके द्वारा व्यंजनावग्रह नहीं होता। यही बात मन के विषय में है। इस विषय में और भी विचार करने की आवश्यकता है। सम्भव है व्यंजनावग्रह के ठीक स्वरूप को सिद्ध करने का कोई अन्य मार्ग निकले अथवा व्यंजनावग्रह का मानना ही अनावश्यक सिद्ध हो। यहाँ तो मैंने त्रुटियों को दूर करके यथाशक्ति समन्वय की चेष्टा की है।

ईहा के विषय में भी जैनाचार्यों में मतभेद रहा है। पुराने लोग ईहा और संशय में कुछ अन्तर नहीं मानते थे परन्तु पीछे के आचार्यों ने सोचा कि 'संशय तो मिथ्याज्ञान है इसलिये उसको सम्यग्ज्ञान के भेदों में न डालना चाहिये' (१) इससे ईहा और संशय में भेद माना जाने लगा। ईहा का स्थान संशय और अवाय के बीच में होगया। ईहा संशयनाशक माना जाने लगा।

सर्वार्थसिद्धि में जो ईहा का उदाहरण दिया है वह बिलकुल संशय के समान है। वे कहते हैं कि 'यह सफेद वस्तु बकपंक्ति है या पताका है, इस प्रकार का ज्ञान ईहा है (२)।' इसके बाद वे संशय और ईहा का अन्तर भी नहीं बताते। परन्तु पीछे के आचार्य

---

१ ईहा संसयमेत्तं केई न तयं तओ जमन्नाणं। मइनाणंसो चेहा कहमन्नाणं तई जुत्तं। १८२ विशेषा०

२ अवग्रहगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकांक्षणमीहा यथा शुक्लं रूपं किं बलाका पताकेति १-१५।

इस बात का ठीक निर्णय कर सके हैं। उनने ईहा और संशय में स्पष्ट भेद बतलाया है (१) और इसीलिये आज कल सर्वार्थसिद्धि के वक्तव्यका अर्थ खींचतानकर वर्तमान मान्यता के अनुरूप किया जाता है। पूज्यपाद ने संशय के समान जो उदाहरण दिया है उसके विषय में कहा जाने लगा है कि वे दो उदाहरण हैं। परन्तु [१] जब अवग्रह अवाय और धारणा में एकएक ही उदाहरण उनने दिया है तब ईहा में ही दो उदाहरण क्यों दिये ? [२] दो उदाहरणों के लिये दो वाक्य बनाना चाहिये परन्तु यहाँ एक ही वाक्य क्यों रहा ? [३] उनने संशय और ईहा का भेद क्यों न बताया ? [४] बलाकया भवितव्यम्' इस प्रकार का स्पष्ट निर्देश क्यों न किया ? [५] प्रश्नार्थक 'किं' अव्ययका प्रयोग क्यों किया जो कि यहाँ संशय-सूचक ही है। इन पाँच कारणों से मानना पड़ता है कि सर्वार्थसिद्धिकार उन्हीं आचार्यों की परम्परा में थे, जो ईहा और संशय को एक मानते थे। परन्तु यह मान्यता ठीक न थी। अन्य आचार्योंने इसका ठीक सुधार किया है।

अवाय के विषय में भी जैनाचार्यों में बहुत मतभेद है। पहिला मतभेद तो नाम पर ही है। कोई इसे अवाय कहता है, कोई अपाय कहता है। 'अपाय' का प्राकृतरूप 'अवाय' होता है। सम्भव है प्राकृत के 'अवाय' रूप को संस्कृत का समझ लिया गया हो क्योंकि संस्कृत में 'अव' और 'अप' दोनों ही उपसर्ग हैं।

---

१ ननु ईहाया निर्णयविरोधित्वात्संशयप्रसङ्गः इति तन्न, किं कारणं ? अर्थादानात् अवगृह्यार्थं तद्विशेषलब्ध्यर्थमर्थादानमीहा। संशयः पुनर्नार्थविशेषालम्बनः १–१४–११ संशयपूर्वकत्वाच्च। १–१४–१२। राजवार्तिक।

अथवा यह भी संभव है कि संस्कृत में ही यह 'अवाय' हो परन्तु कुछ लोगोंने इसे प्राकृत का रूप समझकर संस्कृत में अपाय बना लिया हो। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में 'अपाय' पाठ बहुत प्रचलित है और दिगम्बरों में 'अवाय'। दिगम्बराचार्य अकलंकदेव दोनों का समन्वय बड़ी खूबी से (१) करते हैं। उनका कहना है कि "दोनों पाठ ठीक हैं। संशय में दो कोटियाँ थीं, अवाय में एक कोटि बिलकुल दूर हो जाती है जब कि दूसरी कोटि पूरी तरह गृहीत हो जाती है। पहिली के अनुसार अपाय नाम ठीक है दूसरी के अनुसार अवाय नाम ठीक है। अपाय अर्थात दूर होना, नष्ट होना आदि, अवाय अर्थात् गृहण होना।" खैर, यह तो नाममात्र का मतभेद हुआ। इसके स्वरूप में भी मतभेद है।

विशेषावश्यककारने (२) अपाय के विषय का मतभेद इस प्रकार बतलाया है—"कोई कोई आचार्य दो कोटियों में से असत्य कोटि को दूर करने को अपाय कहते हैं और सत्यकोटि के ग्रहण करने को धारणा कहते हैं। [अकलंकदेवने जो अपाय और अवाय में अर्थभेद बतलाया है उसको ये अपाय और धारणा कहते हैं।]

---

१ किमयमपाय उतावाय इति उभयथा न दोषोऽन्यतरवचनेऽन्यतरस्यार्थगृहीतत्वात्। यदा न दाक्षिणात्योऽयमिति अपायं त्यागं करोति तदौच्य इत्यवायोऽधिगमोऽर्थगृहीतः। यदा वादाच्य इत्यवायं करोति तदा न दाक्षिणात्योऽयमित्यपायोऽर्थगृहीतः। १-१५-१३। राजवार्तिक।

[२] केइ तयण्णविसेसावणयणमत्तं अवायमिच्छंति सब्भूयत्थविसेसावधारणं धारणं बेंति। १८५। कासइ तय न बइरेगमत्तओऽवगमणं भवे भूए। सब्भूयसमण्णपओ तदुभयओकासइ न दोसो। १८६। सव्वो वि य सोऽवायो भेये वा होंति पंचवत्थूणि। आहवं चिय चउहा मई तिहा अन्नहा होई। १८७।

परन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि किसी को अन्वय (विधि) मुखसे निश्चय हो, किसी को निषेधमुख से निश्चय हो, किसी को उभय-मुख से निश्चय हो इसमें कुछ अन्तर नहीं है। अगर इनको स्वतन्त्र जुदा जुदा ज्ञान माना जायगा तो धारणा के स्थान पर एक नया ज्ञान मानना पड़ेगा। इस प्रकार पाँच ज्ञान हो जायँगे। अथवा अगर धारणा को न मानोगे तो तीन ही ज्ञान रह जायँगे।"

इससे मालूम होता है कि एक प्राचीन मत ऐसा भी था जो धारणा को अलग भेद नहीं मानना चाहता था। परन्तु धारणा का नाम प्रचलित ज़रूर था इसलिये वह उसे अपाय के अन्तर्गत करना चाहता था। आजकल जिस अर्थ में धारणा का प्रयोग होता है उसका वह निषेधक था। यह प्राचीन मत तथ्यशून्य नहीं है। धारणा को मानना ठीक नहीं मालूम होता, यह बात आगे के वक्तव्य से मालूम हो जायगी।

धारणा के स्वरूप में भी बहुत विवाद है। पिछला मत यह है (१) कि अवाय की दृढ़तम अवस्था-जो संस्कार पैदा कर सके—

---

(१) स एव दृढ़तमावस्थापन्नो धारणा। प्रमाणनयतत्वालोक २-१०। दृढ़तमावस्थापन्नो हि अवायः स्वोपदर्शितार्थशक्तिविशेषरूपसंस्कारद्वारेण कालान्तरे स्मरणं कर्तुं पर्याप्नोति। रत्नाकरावतारिका। विद्यानन्दी ने भी प्रमाण-परीक्षा में धारणा ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना है। 'तदेतच्चतुष्टयमपि अक्षव्यापारापेक्षं मनोऽपेक्षं च ··· तत एव इन्द्रियप्रत्यक्षं देशतोविशदं अविसंवादकं प्रतिपत्तव्यं।' मतलब यह है कि जैन नैयायिकोंका मत है कि अवाय के अनन्तर होनेवाली ज्ञानकी एक उपयोगात्मक अवस्था ही धारणा है। संस्कार धारणा नहीं धारणा का फल है। प्रभाचन्द्र तो स्पष्ट ही धारणा को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं—'संस्कारः सांव्यवहारिकप्रत्यक्षभेदो धारणा'—प्रमेयकमलमार्तण्ड-तृतीय परिच्छेद।

धारणा है । यह मत भी ठीक नहीं है परन्तु अन्य सब मतों की अपेक्षा कुछ ठीक है ।

इस मत से जो प्राचीन मत है वह स्मृति को या स्मृति के कारण को (१) धारणा कहता है । इस मत के अनुसार संस्कार भी धारणा कहलाता है, और तीसरा प्राचीनमत तीनों को धारणा कहता है । इस मत के अनुसार अवाय की दृढ़तम अवस्था भी धारणा है संस्कार भी धारणा है और स्मृति भी धारणा है । (२)

स्मृति को धारणा मानने से, धारणा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के भीतर शामिल नहीं हो सकती, क्योंकि स्मृति, परोक्ष रूप होने से सांव्यवहारिक प्रत्यक्षरूप नहीं है । इससे विद्यानन्दी के वक्तव्य से विरोध होता है ।

कोई किसी एक को या दो को या तीनों को धारणा माने परन्तु ये तीनों मत ठीक नहीं हैं । इनमें सब से अधिक आपत्ति-जनक मत, संस्कार को धारणा मानना है । वास्तव में संस्कार को ज्ञान से भिन्न एक स्वतन्त्रगुण मानना चाहिये, जैसा कि वैशेषिक [३] दर्शन में माना जाता है ।

---

(३) कालान्तरे अविस्मरणकारणं धारणा । सर्वार्थसिद्धि १-१५ । निर्ज्ञातार्थाऽविस्मृतिर्धारणा । स एवायमित्यविस्मरणं यतो भवति सा धारणा । त० राजवार्तिक । १-१५-४ ।

(४) तयणंतरं तयत्थाविच्चवणं जो य वासणाजोगो । कालंतरे य जं पुणर-णुसरणं धारणा सा उ । विशेषावश्यक । २९५ ।

(५) भावनाख्यस्तु संस्कारो जीववृत्तिरतीन्द्रियः । कारिकावली १६० ।

प्रत्येक ज्ञान लब्धि और उपयोग, इस प्रकार दो प्रकार का होता है। किसी भी ज्ञान का भेद उपयोग के भेद से माना जाता है। उपयोग के भेद से लब्धि के भेद की कल्पना की जाती है। अगर हम संस्कार को ज्ञान मानेंगे तो उसका लब्धिरूप क्या और उपयोग क्या ? इसका निर्णय न होगा।

प्रश्न–संस्कार की जो न्यूनाधिक शक्ति या उस शक्ति को पैदा करनेवाला क्षयोपशम है, वह लब्धि है, और उससे उत्पन्न संस्कार उपयोग है।

उत्तर–अगर संस्कार को उपयोग माना जायगा तो एक ज्ञान का संस्कार जबतक रहेगा तबतक दूसरा ज्ञान पैदा न हो सकेगा क्योंकि पूर्व उपयोग के विनाश के बिना नया उपयोग पैदा नहीं हो सकता, क्योंकि एक साथ में दो उपयोग नहीं होते। इसलिये दो ज्ञानों के संस्कार भी एक साथ न रहेंगे। तब तो किसी प्राणी को कभी भी दो वस्तुओं का स्मरण न होगा।

प्रश्न–अगर संस्कार को लब्धिरूप ज्ञान मानें और स्मरण को उपयोगरूप ज्ञान मानें तो क्या हानि है ?

उत्तर–यह बात नहीं बन सकती, क्योंकि संस्कार किसी न किसी उपयोग का फल है। परन्तु लब्धि किसी उपयोग से पैदा नहीं होती। वह उपयोग का कारण है न कि कार्य। संस्कार अगर लब्धिरूप होता तो उसके लिये किसी उपयोग की आवश्यकता न होती। संस्कार में उपयोग की अपेक्षा कुछ विशेषता नहीं आसकती, इससे हम उसे नया ज्ञान भी नहीं मान सकते।

प्रश्न–संस्कार पूर्व उपयोग का भले ही फल हो परन्तु वह स्मृति का कारण है, इसलिये हम उसे स्मृति के लिये लब्धिरूप मानें तो क्या हानि है ?

उत्तर–मैं कह चुका हूँ कि लब्धि किसी ज्ञानोपयोग से पैदा नहीं होती, इसलिये संस्कार को लब्धि नहीं कहा जा सकता। यदि ज्ञान का कारण होने से कोई लब्धि कहलाता है तो अवग्रह ईहा के लिये लब्धि होगा, ईहा अवाय और धारणा के लिये, धारणा स्मृति के लिये, स्मृति प्रत्यभिज्ञान के लिये लब्धिरूप होंगे। इसलिये ज्ञान का कारण होने से किसी को लब्धिरूप कहना ठीक नहीं।

दूसरी बात यह है कि लब्धि सामान्य शक्ति है। उसमें किसी विशेष पदार्थ का आकार नहीं होता। जैसे—आँखों से देखने की शक्ति में घटपट आदि विशेष पदार्थ का आकार नहीं रहता किन्तु उसके उपयोग में रहता है। संस्कार में घटपट आदि विशेष पदार्थ का आकार रहता है, इसलिये उसे लब्धि नहीं कहा जा सकता।

तीसरी बात यह है कि जब किसी आत्मा में संस्कार थोड़ा पड़ता है और किसी में ज्यादः पड़ता है तब इसका कारण क्या कहा जायगा ? जिस प्रकार अन्य ज्ञानों की न्यूनाधिकता उनकी लब्धि की न्यूनाधिकता से पैदा होती है, उसी प्रकार संस्कार की न्यूनाधिकता भी किसी लब्धि की न्यूनाधिकता को बतलाती है। अगर संस्कार स्वयं लब्धिरूप होता तो उसे किसी दूसरी लब्धिकी आवश्यकता क्यों होती ? अगर लब्धि के लिये लब्धि की कल्पना की जायगी तो अनवस्थादोष होगा।

इन तीन कारणों से संस्कार को लब्धि मानना अनुचित है। जब संस्कार, उपयोग रूप भी नहीं है और लब्धिरूप भी नहीं है तब उसे ज्ञानसे भिन्न गुण मानना उचित है। एक बात और भी विचारणीय है।

धारणा मतिज्ञान है और वह अवाय के बाद होता है। परन्तु अगर किसी मनुष्य को किसी विषय में संदेह पैदा हुआ, पीछे उसका ईहा और अवाय न हो पाया तो क्या उसको संदेह का संस्कार न होगा? क्या हमें सन्देह का स्मरण नहीं होता? यदि सन्देह का भी संस्कार होता है, ईहा का भी संस्कार होता है अवाय का भी संस्कार होता है, श्रुतज्ञान का भी संस्कार होता है (क्योंकि श्रुतज्ञान से जाने हुए पदार्थ का हमें स्मरण होता है) अवधि आदि का भी संस्कार होता है, तब संस्कार अवाय के अनन्तर होनेवाला मतिज्ञान कैसे माना जा सकता है? इतना ही नहीं, उसे ज्ञान ही कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि वह किसी भी ज्ञानरूप नहीं ठहरता। अवग्रह की धारणा ईहा की धारणा आदि प्रयोगों से वह ज्ञान का सम्बन्धी कोई भिन्नगुण ही सिद्ध होता है।

प्रश्न—संस्कार को अगर पृथक्गुण माना जायगा तो न्यूनाधिक संस्कार का कारण ज्ञानावरण कर्म न हो सकेगा। तब उस का कारण क्या होगा?

उत्तर—जब हम कोई पत्थर फेंकते हैं तब किसी के हाथ का पत्थर दस गज जाता है, और किसी का ५० गज जाता है, और किसी का सौ गज़ जाता है। इसका कारण पत्थर में पैदा

होनेवाला वेग है जो हाथ की शक्ति से उत्पन्न हुआ है। वेग और हाथ की शक्ति में कार्यकारणभाव है और जुदीजुदी वस्तुएँ हैं। इसी प्रकार जो उपयोग जितना तीव्र है उसका संस्कार भी उतना ही अधिक स्थायी है। उपयोग और संस्कार में कार्यकारणभाव है, परन्तु दोनों एक नहीं हैं।

प्रश्न--किसी का उपयोग तीव्र होकरके भी शीघ्र नष्ट हो जाता है; किसी का मन्द होकर के भी बहुत स्थायी रहता है। बालक किसी पर खूब प्रसन्न होता है और उसे देखकर नाचने लगता है, परन्तु जल्दी भूल जाता है। साधारण मनुष्य भी ऐसे देखे जाते हैं, जब कि अन्य मनुष्य बहुत दिन तक स्मरण रखते हैं।

उत्तर--जैसे वेग संस्कार अनन्तकाल तक स्थायी रहता है उसी प्रकार भावना भी। परन्तु दूसरे ज्ञानोपयोग उसमें विक्षेप करते हैं। जैसे एक गति दूसरी गति के संस्कार को नष्ट तक कर सकती है उसी प्रकार एक ज्ञान दूसरे ज्ञान के संस्कार को नष्ट तक कर सकता है। पत्थर का टुकड़ा थोड़ी शक्ति से जितनी दूर जा सकता है, रुई का ढेर उससे कम वजन होकर भी और उससे कईगुणी शक्ति का उपयोग करने पर भी उतनी दूर नहीं जाता। इसका कारण यह है कि रुई का ढेर वायु को इतना नहीं काट सकता जितना पत्थर का टुकड़ा। वायुके घर्षण से जिस प्रकार पत्थर आदि का वेग क्षीण होता जाता है, उसी प्रकार संस्कार भी अन्य उपयोगोंसे क्षीण होता रहता है। बालक के वर्तमान संस्कार जितने प्रबल होते हैं उसको क्षीण करनेवाले दूसरे संस्कार भी प्रबल होते

है जो पहिले संस्कार को नष्ट करते हैं। मतलब यह है कि उपयोग की तीव्रता, संस्कारों का संघर्षण आदि पर किसी संस्कार की स्थायिता निर्भर है। वह ज्ञानावरण के क्षयोपशम से स्थायी अस्थायी नहीं होता। ज्ञानावरण का उसके साथ परम्परा सम्बन्ध है–साक्षात् नहीं।

तीसरी बात यह है कि संस्कार अगर ज्ञानरूप होता तो चारित्र का संस्कार न होना चाहिये। जिस प्रकार ज्ञान की वासना बनी रहती है, उसी प्रकार क्रोधादि कषायों की (चारित्र के विकारों की) भी वासना बनी रहती है।

प्रश्न–कषायका संस्कार भी ज्ञान का ही संस्कार है। किसी अनिष्ट घटना से हमें किसी पर क्रोध होता है। जबतक उस घटना का स्मरण बना रहता है तबतक क्रोध बना रहता है। क्रोध की वासना ज्ञान की वासना से जुदी नहीं है।

उत्तर–किसी बाल-रोगी को डॉक्टर नश्तर लगाता है। रोगी डॉक्टर पर क्रोध करता है, उसे मारने की चेष्टा करता है, गालियाँ भी देता है। परन्तु जब उसे आराम हो जाता है, तो उसका क्रोध चला जाता, है बल्कि उसे प्रेम या भक्ति पैदा हो जाती है। यहाँ उसे नश्तर लगाने की घटना के ज्ञानका संस्कार तो है, परन्तु कषाय का संस्कार नहीं है। यदि दोनों ही संस्कार एक होते तो एकके होने पर दूसरा भी होना चाहिये था। मतलब यह है कि संस्कार ज्ञान का भी होता है, चारित्र का भी होता है, गतिका भी होता है और बन्धका भी होता है। इस प्रकार संस्कार

एक गुण है, जोकि जड़ और चेतन सभी पदार्थों में पाया जाता है। ज्ञानके संस्कार को हम भावना, कषाय के संस्कार को वासना गतिके संस्कार को वेग, और बन्ध के संस्कार को स्थिति-स्थापक कहते हैं। एक बेंत को हम हाथसे झुकाते हैं। जबतक वह हाथ से पकड़ा हुआ रहता है तबतक झुका रहता है। छोड़ने पर फिर ज्योंका त्यों हो जाता है। यह बन्धका संस्कार स्थिति-स्थापक कहलाता है।

प्रश्न—संस्कार अगर स्वतन्त्र गुण है तो उस को न्यूनाधिक करने वाला कर्म कौन है ?

उत्तर—संस्कार का घातक कोई कर्म नहीं है। जो संस्कार जिस गुणका होता है, उस गुणके घातक कर्म का उसपर प्रभाव पड़ता है।

प्रश्न—ज्ञान, स्वयं एक गुण है। उसमें संस्कार नाम का दूसरा गुण कैसे रह सकता है ? गुण में गुण नहीं रह सकता।

उत्तर—संस्कार ज्ञान का होता है, ज्ञान में नहीं होता। होता तो वह आत्मा में ही है। अगुरुलघुत्व गुण गुणोंको बिखरने नहीं देता, परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वह गुणों में रहता है। वह द्रव्य में ही रह कर दूसरे गुणों पर प्रभाव डालता है। इसी प्रकार संस्कार भी आत्मा में रहकर ज्ञानादि गुणों पर प्रभाव डालता है। अथवा जिस प्रकार वैभाविक गुण एक स्वतन्त्र गुण है, जिसके निमित्त से सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र आदि में विभाव परिणति होती है, परन्तु उसका आधार ज्ञानादि गुण नहीं है, किन्तु द्रव्य है; इसी प्रकार संस्कार है।

मालूम होता है कि पीछे के जैन नैयायिकोंने भी संस्कार को एक स्वतन्त्र गुण मानलिया है। रत्नाकरावतारिका (१) में संस्कार का अर्थ आत्मशक्ति-विशेष किया गया है। यदि उन्हें संस्कार को ज्ञानरूप मानना मंजूर होता तो वह संस्कार को ज्ञान-विशेष कहते, आत्मशक्ति विशेष न कहते। इन सब कारणों से संस्कार को धारणा मानना अनुचित है।

स्मृति को धारणा मानना भी अनुचित है। क्योंकि, धारणा तो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना गया है, यह मैं पहिले कह चुका हूँ। दूसरी बात यह है कि स्मृति को परोक्ष मान करके भी अगर उसे यहाँ शामिल किया जाय तो प्रत्यभिज्ञान तर्क आदि को भी यहाँ शामिल करना पड़ेगा। अगर कहा जाय कि तर्क तो ईहा मतिज्ञान (२) है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि तर्क के पहिले स्मृति की आवश्यकता होती है, इसलिये स्मृति का स्थान ईहा के पहिले होगा, जब कि धारणा ईहा के बाद होती है।

इस विवेचन से जैन नैयायिकों के मत का भी खण्डन हो जाता है। वे अवायके बाद ज्ञान की दृढ़तम अवस्था को धारणा कहते हैं, जिससे कि संस्कार पैदा होता है, परन्तु जब यह सिद्ध हो चुका है कि संस्कार तो अवग्रह ईहा आदि मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान आदि सभी ज्ञानों का पड़ता है, तब अवायके बाद दृढ़-तम अवस्थावाले धारणा ज्ञान को पृथक् मानने की क्या ज़रूरत

---

(१) संस्कारस्यात्मशक्तिविशेषस्य। रत्नाकरावतारिका। ३-२।

(२) ईहा ऊहा तर्कः परीक्षा विचारणा जिज्ञासेत्यनर्थान्तरम्। तत्त्वार्थ भाष्य। १-१५।

है ? मतलब यह है कि तीन प्रकार में से किसी भी प्रकार को धारणा मानो, परन्तु वह ज्ञानका कोई स्वतन्त्र भेद सिद्ध नहीं होता है। इसलिये अवग्रह, ईहा और अवाय ये तीन भेद मानना ही उचित है।

च—बहु बहुविध आदि के विषय में जैनाचार्यों में बहुत मतभेद हैं और ३३६ भेद करने का ढंग भी अनुचित है। पहिले मैं इनके नाम और लक्षणों के भेदों को लेता हूँ। अनिःसृत, निसृत उक्त, अनुक्त के विषय में बहुत मतभेद है। कोई इनकी परिभाषा को बदलता है तो कोई इनके बदले में दूसरे भेद बतलाता है। सब मतभेदों का पता निम्न लिखित तालिकासे मालूम होगा।

प्रथममत	द्वितीयमत	तृतीयमत	चतुर्थमत
१ अनिःसृत	निःसृत	अनिश्रित	अनिश्रित
२ निःसृत	अनिःसृत	निश्रित	निश्रित
३ उक्त	उक्त	असंदिग्ध	उक्त
४ अनुक्त	अनुक्त	संदिग्ध	अनुक्त

प्रथम मत के अनुसार इन चारों का अर्थ पहिले लिखा गया है।

दूसरे मतमें अनिःसृत की जगह निःसृत किया गया है परन्तु यह सिर्फ़ क्रम का परिवर्तन नहीं है किन्तु अर्थ का परिवर्तन (१)

---

(१) अपरेषां क्षिप्रनिःसृत इति पाठः त एवं वर्णयन्ति श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दमवगृह्यमाणं मयूरस्य वा कुररस्य वा इति कश्चित्प्रतिपद्यते अपरः स्वरूपमेवानिःसृत इति। सर्वार्थसिद्धि १–१६।

भी है। दूसरे मत के अनुसार निःसृत उसे कहते हैं जिसमें विशेष भेद का भी ज्ञान हो। शब्द सुनकर यह भी जानना कि यह मयूर का है या कुरकुर का, यह निःसृत कहलाता है। परन्तु इस प्रकार का विशेष निर्णय तो अवाय कहलाता है, और निःसृत का तो अवग्रह ईहा भी होता है, तब यह परिभाषा कैसे ठीक हो सकती है?

तीसरे मतमें लिंग से-चिह्न से किसी वस्तु का ज्ञान निश्रित है और लिंग बिना किसी वस्तुका ज्ञान अनिश्रित है। असंदिग्ध का अर्थ है, संशयादि रहित और संदिग्ध का अर्थ है, विशेष में संदेह सहित। यदि संदेहसहित को संदिग्ध माना जाय तो उसका अवग्रह कैसे होगा? अथवा अवग्रह ईहा अपाय तो निश्रितज्ञान के भेद हैं, इन्हें अनिश्रित (१) रूप कैसे कहा जा सकता है।

चतुर्थमत के विषय में सिद्धसेनगणी (२) कहते हैं कि उक्त और अनुक्त ये विषय सिर्फ़ कान के विषय हैं। अनुक्तका अर्थ अनक्षरात्मक शब्द है। सिर्फ कान का विषय होने से अन्य आचार्यों ने इसको लिया ही नहीं है और इसके बदले में निश्रित, अनिश्रित भेद माने हैं।

(१) तत्त्वार्थ में असंदिग्ध और संदिग्ध पाठ है, और विशेषावश्यक में निश्रित और अनिश्रित पाठ है। यहाँ शब्दभेद ही है, अर्थ भेद नहीं, इसलिये इसे पाँचवाँ मत नहीं कह सकते।

(२) उक्तमवगृह्णाति इत्ययं विकल्पः श्रोत्रावग्रहविषय एव न सर्वव्यापीति। ... अनुक्तस्तूक्तादन्यः? ... ... शब्द एव अनक्षरात्मकोऽभिधीयते ... ... अव्याप्तिदोषभीत्या चापरैरिमं विकल्पं प्रोज्झय अयं विकल्प उपन्यस्तः निश्रितमवगृह्णाति। त० भा० टीका १–१६।

अकलंकदेवने उक्त और अनुक्त को भी आँख आदि सभी इन्द्रियों का विषय सिद्ध करने की कोशिश की है, परन्तु वह असफल रही है।

ध्रुव और अध्रुव की परिभाषा भी मतभेद से खाली नहीं है।

सर्वार्थसिद्धिकार कहते हैं–'निरन्तर यथार्थ ग्रहण ध्रुव है (१)।' यहाँ पर यथार्थ ग्रहण व्यर्थ है। यथार्थग्रहण तो सभी भेदों में है। राजवार्तिक में अकलंकदेव यथार्थ ग्रहण को (२) ध्रुव कहते हैं। इसमें भी इसी प्रकार की व्यर्थता का दोष है। परन्तु वे पंद्रहवें वार्तिक की व्याख्या [३] में निरन्तर ग्रहणको ध्रुव कहते हैं और बारबार न्यूनाधिक ग्रहणको अध्रुव कहते हैं। इस प्रकार धीरे धीरे ग्रहण करने का नाम अध्रुव ग्रहण हुआ परन्तु यह अक्षिप्र से कुछ विशेषता नहीं रखता। सिद्धसेन गणी (४) कहते हैं कि इन्द्रिय अर्थ और उपयोग के रहने पर भी कभी ग्रहण होना कभी न होना अध्रुव है और सदा होना ध्रुव है। यदि यह कहा

---

(१) ध्रुव निरन्तरं यथार्थग्रहणम्। १– ।

(२) ध्रुवं यथार्थग्रहणात्। १–१६– ।

(३) यथा प्राथमिकं शब्दग्रहणं तथावस्थितमेव शब्दमवगृह्णाति। नोनं नाभ्यधिकं। पौनःपुन्येन संक्लेशविशुद्धिपरिणामकारणापेक्षस्यात्मनः यथानुरूपपरिणामोपात्तश्रोत्रेन्द्रियसान्निध्येऽपि तदावरणस्येषदाविर्भावात् पौनःपुनिकं प्रकृष्टावकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरणादिक्षयोपशमपरिणामत्वाच्चाध्रुवमवगृह्णाति। १–१६– ।

(४) सतीन्द्रिये सति चोपयोगे सति च विषयसम्बन्धे कदाचिद्यं विषयं तथा परिच्छिनत्ति कदाचिन्न इत्येतदध्रुवमवगृह्णाति। १–१६।

जाय तो भी ठीक नहीं। क्योंकि जिस समय ग्रहण न होगा उस समय उसे अवग्रह ही कैसे कहा जायगा ? खैर, ध्रुव-अध्रुवकी परिभाषा कुछ भी हो परन्तु वह निश्चित नहीं है।

यहां एक बात यह भी विचारणीय है कि सर्वार्थसिद्धि के अनुसार बहु बहुविध आदि सभी विशेषण [१] 'अर्थ' के बतलाये गये हैं इसलिये वे ध्रुव का अवग्रह, अध्रुव का अवग्रह, कहते हैं। परन्तु यहां जो व्याख्याएँ की जातीं हैं वे क्रियाविशेषण [२] बना देतीं हैं। क्षिप्र और अक्षिप्र को तो सभी क्रियाविशेषण कहते हैं। यह कहां तक उचित है, यह भी विचारणीय है।

इस प्रकार अनेक तरह की गड़बड़ी इस विषय में है, जिस से मालूम होता है कि मूल में बह्वादिका विवेचन था ही नहीं। सूत्र साहित्य में यह कदाचित् मिले भी तो समझना चाहिये कि पीछे से मिलाया गया है। नन्दीसूत्र में मुझे ये विशेषण नहीं मिले।

मतिज्ञानके ३३६ भेद करना भी उचित नहीं है। किसी भी वस्तुके भेद ऐसे करना चाहिये जो एक दूसरे से न मिलते हों। एक भेद अगर दूसरे भेद में मिले तो वह वर्गीकरण उचित नहीं

---

(१) यद्यवग्रहादयो बह्वादीनां कर्मणामाक्षेप्तारः बह्वादीनि पुनर्विशेषणानि कस्येत्याह अर्थस्य। १-१६।

(२) भाष्यटीकाकार ध्रुव का अर्थ स्थिर करते हैं और अध्रुवका चंचल करते हैं। पहिले अर्थ में उनने ज्ञान विशेषण कहा है परन्तु इस अर्थ में ध्रुव अध्रुव अर्थ के विशेषण बनते हैं परन्तु यह मत दूसरे आचार्यों से नहीं मिलता। ध्रुवमवस्थितं इदं च ज्ञान विशेषणम् अध्रुवमनवस्थितं यथाग्निभाजनजलं। अथवा ध्रुवः स्थिरः पर्वतादिः अध्रुवः अस्थिरो विद्युदादिः। १-६।

कहला सकता। प्राणियों के मनुष्य, पशु, पक्षी, स्त्री, पुरुष, नपुंसक, बालक, युवा, वृद्ध, इस प्रकार नव भेद करना अनुचित है, क्योंकि इसमें स्त्री पुरुषादि भेद मनुष्यादि भेदों में चले जाते हैं। बहु आदि भेदों में भी यही गड़बड़ी है। बहु, बहुविध, एक, एकविध ये चार भेद क्षिप्र भी हो सकते हैं और अक्षिप्र भी हो सकते हैं, इसलिये इनको चार न कह कर आठ कहना चाहिये। इसी प्रकार ये आठ निःसृत भी हो सकते हैं, अनिःसृत भी हो सकते हैं। इसलिये सोलह भेद होंगे। इसी प्रकार इनको उक्त, अनुक्त और ध्रुव अध्रुव से भी गुणा करना चाहिये। मतलब यह है कि पहिले तो भेदों की परिभाषा और मान्यता ही ठीक नहीं है। अगर हो भी तो उनका गुणा करके प्रभेद निकालने का ढंग अच्छा नहीं है। सम्भवतः इस गड़बड़ी का इतिहास इस प्रकार है—

१ मूल में बहु बहुविध आदि भेद थे ही नहीं।

२ किसी आचार्य ने मतिज्ञान की विविधता समझाने के लिये बहु बहुविध आदि को उदाहरण के रूप में लिखा, वर्गीकरण के लिये नहीं।

३ इसके बाद किसी आचार्यने मतिज्ञानके २८ भेदों को बारह से गुणा करके ३३६ भेद कर दिये। उनने यह न सोचा कि सब के साथ इनका गुणा करने से भेदों की संगति होगी या न होगी।

४ पीछे जब उक्त अनुक्त आदि का सब इंद्रियों से सम्बन्ध न बैठा, ध्रुव और धारणा में गड़बड़ी होने लगी तब आचार्यों ने

इनकी परिभाषा बदलना शुरू किया। लेकिन मूल ही ठीक नहीं था, इसलिये सुधार न हो सका।

५ म. महावीर के समय में मतिज्ञान के इन्द्रिय अनिन्द्रिय के निमित्त से दो भेद या छः भेद प्रचलित थे। बाकी भेद पीछे की रचना है।

६ मतिज्ञानके मतभेदों का यहीं अन्त नहीं हो जाता किन्तु ज़रा ज़रासी बातों में इतना मतभेद है कि उनका कुछ निर्णय ही नहीं होता। तत्त्वार्थ में मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता अभिनिबोध को अनर्थान्तर कहा गया है। राजवार्तिककार [१] कहते हैं कि ये पांच शब्द इन्द्र, शक्र, पुरन्दरकी तरह पर्यायवाची हैं। सर्वार्थसिद्धिकार अभेद कहकर भी समभिरूढ़नयकी अपेक्षा भेद मानते हैं। राजवार्तिककार प्रश्नोत्तर करते हैं कि 'मति क्या है? जो स्मृति है। स्मृति [२] क्या है? जो मति है।' सर्वार्थसिद्धिकार अभेद की मात्रा इतनी अधिक नहीं बढ़ाते। परन्तु ये दोनों ही आचार्य पांचों का जुदा जुदा स्वरूप नहीं बता पाते। सिर्फ व्याकरण की व्युत्पत्ति बताकर एक तरह से बात को टाल कर चले जाते हैं ३।

श्लोकवार्तिककार अवग्रहादिको मति, [४] प्रत्यभिज्ञान को

---

(१) यथा इन्द्रशक्रपुरन्दरादिशब्दभेदेऽपि नार्थभेदः तथा मत्यादि शब्दभेदेऽपि अर्थाभेदः। १-१३-४।

(२) का मतिः? या स्मृतिरिति। का स्मृतिः? या मतिरिति। १-१३-१०

(३) मननं मतिः, स्मरणं स्मृतिः, संज्ञानं संज्ञा, चिंतनं चिन्ता, अभिनिबोधनं अभिनिबोधः १-१३।

[४] मतिः अवग्रहादिरूपा। १-१३-२। संज्ञायाः सादृश्यप्रत्यभिज्ञानरूपायाः। १-१३-। सम्बन्धो वस्तु सन्नर्थक्रियाकारित्वयोगतः। चेष्टार्थ-

संज्ञा, तर्क को चिन्ता, और स्वार्थानुमान को अभिनिबोध कहते हैं। इसलिये इनकी दृष्टि में मति सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलायी और स्मृत्यादि परोक्ष। लघीयस्त्रय के टीकाकार [१] अभयचन्द्र भी यही बात कहते हैं। वे मति को प्रत्यक्ष और स्मृति संज्ञा चिन्ता अभिनिबोध और श्रुत को परोक्ष कहते हैं।

इन दोनों मतोंका गोम्मटसार के टीकाकार से कुछ विरोध आता है। वे अवग्रहादि के भेदों का जो अनिःसृत भेद है उस में चिन्ता अनुमान आदि को शामिल करते हैं, यह बात मैं कह चुका हूँ। इस दृष्टि से मति के भीतर ही अनुमानादि आ जाते हैं।

तत्त्वार्थ भाष्य के टीकाकार सिद्धसेनगणी (२) दो मत बताते हैं। मति अर्थात् इन्द्रिय और मनके निमित्तसे उत्पन्न वर्तमानमात्रग्राही ज्ञान। संज्ञा=एकत्वप्रत्यभिज्ञान। चिन्ता=आगामी अमुक वस्तु इस प्रकार बनेगी

तत्त्ववत्तत्र चिन्ता स्याद् भासिनि ॥ १-१३ ८५। ततस्ध्याभिमुखो बोधनियतः साधने तु यः। कृतोऽनिंद्रियुक्तनाभिनिबोधः स लक्षितः १-१३-।

(१) मतिः मतिप्रज्ञ ज्ञान सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमाद्यं कारणमित्यर्थः। प्रत्यभिज्ञानं संज्ञा। तर्कः चिन्ता, आभतो देशकालान्तरव्याप्त्या निबोधो=निर्णयः लिंगादुत्पन्ना लिंगधारनुमानामित्यर्थः

[२] येयं मतिःसैव मतिज्ञानं। मतिज्ञानं नाम यदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं वर्तमानकालविषयपरिच्छेदि तैव इन्द्रियैरनुभूतमर्थं पुनर्विलोक्य स एवायं यमहमद्राक्षं पर्वाह्णे इति संज्ञाज्ञानं। चिन्ताज्ञानमागामिनो वस्तुन एवं निष्पत्तिर्भवति अन्यथा नेति। आभिनिबोधिकम् अभिमुखो नियतो यः विषयपरिच्छेदः। ···लोके स्मृतिज्ञानं अतीतार्थविषयपरिच्छेदि सिद्धम्। संज्ञाज्ञानं वर्तमानार्थग्राहि, चिन्ताज्ञानमागामिकालविषयम्।··· ···आभिनिबोधिकज्ञानत्वेव त्रिकालविषयस्यैते पर्यायाः। १—1३।

या मिलेगी इस प्रकार का ज्ञान। आभिनिबोधक-अभिमुख निश्चित ज्ञान।

दूसरा मत यह है कि ये सब पर्याय-शब्द हैं। स्मृति भूतकाल को विषय करनेवाली, संज्ञा=वर्तमान विषयवाली। चिंता= भविष्य विषयवाली। ये तीनों मिलकर त्रिकाल--विषयी आभिनि-बोधक ज्ञान है।

यहां इन मतभेदों की आलोचना करने की ज़रूरत नहीं है। मतिज्ञान के इस विस्तृत विवेचन से (मतभेद और उत्तरोत्तर विकासमय विवेचन से) पाठक निम्न--लिखित बातें अच्छी तरह समझ गये होंगे।

दूसरे दर्शनों का जिस प्रकार क्रमक्रम से विकास हुआ है उसी प्रकार जैनदर्शन का भी हुआ है। वह किसी सर्वज्ञ का कहा हुआ नहीं है।

दूसरे दर्शनों के समान जैनदर्शन में भी परस्पर विरोध है। पौर्वापर्य्याविरुद्धता बतलाना अन्धश्रद्धा के सिवाय कुछ नहीं है।

आचार्य कुछ लोकोत्तर ज्ञानी न थे। वे आजकल के विद्वानों के समान ही विद्वान थे। यह भ्रम है कि उनसे बड़ा विद्वान अब हो नहीं सकता, या होता नहीं है।

आज श्रद्धा के भरोसे जैनदर्शन और जैनधर्म प्राप्त नहीं हो सकता, निःपक्ष आलोचना करके तर्क के बल पर ही हमें जैन-धर्म प्राप्त करना चाहिये।

परम्पराएँ पुरानी होकर के भी म. महावीर के पीछे की हैं। कौन परम्परा उस समय की है और कौन नहीं है; यह कहना कठिन

है इसलिये निःसंकोच भाव से युक्ति-विरुद्ध और अविश्वसनीय परम्परा को अलग कर देना चाहिये।

पुरानेपन के गीत गाकर हम भक्ति बतला सकते हैं परन्तु जैनत्व या सत्य प्राप्त नहीं कर सकते।

मीमांसा के आगामी विवेचनों से भी इन बातों का समर्थन होगा।

श्रुतज्ञान के भेद

श्रुतज्ञान के भेद अनेक तरह से किये जाते हैं। निम्नलिखित चौदह भेद श्रुतज्ञान के चौदह भेद नहीं हैं किन्तु सात तरह से दो दो भेद (१) हैं, जो कि विषय को स्पष्ट करने के लिये किये गये हैं। १ अक्षरश्रुत, २ अनक्षरश्रुत। ३ संज्ञिश्रुत, ४ असंज्ञिश्रुत। ५ सम्यक् श्रुत ६ मिथ्याश्रुत। ७ सादिश्रुत, ८ अनादिश्रुत। ९ सपर्यवसित, १० अपर्यवसित। ११ गमिक, १२ अगमिक १३ अंगप्रविष्ट। १४ अनंग प्रविष्ट [२]

अक्षरश्रुत—अक्षर से उत्पन्न ज्ञान अक्षरश्रुत है। उपचार से अक्षर को भी श्रुत कहते हैं, इसलिये अक्षर के तीन भेद माने

---

(१) ननु अक्षरश्रुतानक्षरश्रुतरूप एव भेदद्वये शेषभेदा अन्तर्भवन्ति तत्किमर्थं तेषां भेदोपन्यासः? उच्यते इह अव्युत्पन्नमतीनां विशेषावगमसम्पादनाय महात्मनां शास्त्रारम्भप्रयासो न चाक्षरश्रुतानक्षरश्रुतरूपभेदद्वयोपन्यासमात्रादव्युत्पन्नमतयः शेषभेदानवगन्तुमीशते, ततोऽव्युत्पन्नमतिविनेयजनानुग्रहाय शेषभेदोपन्यास इति। नन्दी टीका ३७।

[२] नन्दीसूत्र ३७। अक्खर सन्नी सम्मं साइयं खलु सपज्जवसिअं च गमिअं अंगपविट्ठं सत्तंवि एए सपडिवक्खा॥ कम्म विवाग। प्रथम ६।

जाते हैं। संज्ञाक्षर नागरी आदि लिपियों में अक्षर का आकार। व्यंजनाक्षर अक्षर का उच्चारण। लब्ध्यक्षर ज्ञानरूप अक्षर भावश्रुत (१)।

अनक्षरश्रुत–स्वर व्यंजनादि अक्षर रहित ध्वनिमात्र (२) [खांसना छींकना आदि] से पैदा होनेवाला ज्ञान अनक्षरश्रुत है। टीकाकार का मत है कि हाथ वगैरह के इशारे से श्रुतज्ञान न मानना चाहिये [३] परन्तु हाथ वगैरह के इशारे से जब भावप्रदर्शन होता है तब उसे श्रुतज्ञान तो मानना ही पड़ता है। श्रुतज्ञान को अक्षर या अनक्षरश्रुत में शामिल करना ज़रूरी है, इसलिये उसे अनक्षर में शामिल करना चाहिये। न्यायग्रन्थों में हाथ आदि के इशारे से पैदा होनेवाले ज्ञान को भी आगम कहा है। और उसमें अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत को शामिल [४] किया है।

संज्ञिश्रुत–संज्ञा के तीन भेद हैं। दीर्घकालिकी-जिस में भूत भविष्य का लम्बा विचार किया जाता है वह दीर्घकालिकी संज्ञा है। इसीसे जीव संज्ञी कहलाता है। जो देहपालन आदि के लिये आहारादिक में बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति होती है वह हेतुवादोपदेशिकी

---

(१) नंदी ३८।

(२) ऊससियं नीससियं निच्छूढं खासिअं च छीयं च। निस्सिंघियमणुसारं अणक्खरं छेलियाईयं। आवश्यकसूत्र १९।

(३) यच्छ्रुयते तच्छ्रुतमित्युच्यते न च करादिचेष्टा श्रूयत ततो न तत्र द्रव्य श्रुतत्वप्रसङ्गः॥ नंदी टीका ३८॥

(४) आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः। आदिशब्देन हस्तसंज्ञादि-परिग्रहः। अनेनाक्षरश्रुतमनक्षरश्रुतं च संगृहीतं भवति॥ प्रमेयकमलमार्तण्ड ४ परि०॥

का है। आत्मकल्याणकारी उपदेश से जो संज्ञा होती है वह दृष्टि-वादोपदेशिकी है। वास्तव में यही संज्ञिश्रुत है।

असंज्ञिश्रुत-असंज्ञी जीवों का जो श्रुत होता है वह असंज्ञिश्रुत कहलाता है।

सम्यक्श्रुत—सच्चे उपदेश से उत्पन्न ज्ञान सम्यक् श्रुत है।

मिथ्याश्रुत--मिथ्या उपदेश से उत्पन्न ज्ञान मिथ्याश्रुत है।

जैन ग्रन्थों में, जैनग्रन्थों को सम्यक् श्रुत कहा है और जैनेतर ग्रन्थों को मिथ्याश्रुत कहा है। परन्तु सम्यक् का अर्थ किसी सम्प्रदायरूप करना ठीक नहीं है। सत्य कहीं भी हो वह सम्यक् श्रुत है, चाहे जैन-ग्रन्थ हो या जैनेतर।

सादि अनादि सान्त [सपर्यवसित] **अनन्त**—ये भेद सामान्य—विशेष की अपेक्षा से हैं। सामान्य अपेक्षा से अनादि अनन्त है और विशेष अपेक्षा से सादि सान्त है।

गमिकश्रुत—एक वाक्य जब कुछ विशेषता के साथ बार-बार आता है तब गमिकश्रुत कहलाता है और इससे भिन्न अगमिक कहलाता है। अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट का विस्तृत विवेचन आगे किया जाता है।

इन सात प्रकार के भेदों में अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य भेद ही अधिक प्रसिद्ध और विशेष उपयोगी हैं। मैं पहिले कह चुका हूँ कि दूसरों के अभिप्राय का ज्ञान श्रुत है। इसलिये केवल धर्म-शास्त्र ही श्रुत नहीं कहलाता किन्तु प्रत्येक शास्त्र श्रुत है। गणित इतिहास आदि सभी शास्त्र श्रुत हैं। परन्तु यहां जो अंगप्रविष्ट और

अंगबाह्य भेद किये गये हैं, वे सब जैन-धर्मशास्त्र की अपेक्षा से हैं।

अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य

तीर्थंकर के वचनों के आधार पर उनके मुख्य शिष्यों [गणधरों] द्वारा जो ग्रन्थरचना की जाती है, वह अंगप्रविष्ट [१] श्रुत कहलाता है उसके बाद अंगप्रविष्ट के आधार पर जो अन्य आचार्यों के द्वारा ग्रन्थ रचना की जाती है वह अंगबाह्यश्रुत है। मतलब यह है कि अंगप्रविष्ट मौलिक शास्त्र है और अंगबाह्य उसके आधार पर बना हुआ है। अंगप्रविष्ट प्रत्यक्षदर्शी के वचनों का संग्रह कहा जाता है, वह अनुभव-मूलक है, जब कि अंगबाह्य परोक्ष-दर्शियों की रचना है।

जैनग्रंथों के जिस प्रकार अंगप्रविष्ट, अंगबाह्य भेद किये गये हैं उसी प्रकार प्रत्येक शास्त्र के किये जा सकते हैं। महात्मा बुद्ध के उपदेशों के संग्रह को हम अंगप्रविष्ट और उस सम्प्रदाय के अन्य धर्मग्रंथों को अंगबाह्य कह सकते हैं। इसी प्रकार वैदिक धर्म में वेद अंगप्रविष्ट, बाक़ी अंगबाह्य। ईसाइयों में बाइबिल अंग-

---

[१] यत् भगवद्भिः सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः परमर्षिभिरर्हद्भिस्तत्स्वाभाव्यात् परमशुभस्य च प्रवचनप्रतिष्ठापनफलस्य तीर्थङ्करनामकर्मणोऽनुभावादुक्तं भगवच्छिष्यैरतिशयवद्भिः उत्तमातिशयवाग्बुद्धिसम्पन्नैर्गणधरैः दृब्धं तदङ्गप्रविष्टम् गणधरानन्तर्यादिभिस्त्वत्यन्तविशुद्धागमैः परमप्रकृष्टवाङ्मतिबुद्धिशक्तिभिराचार्यैः कालसंहननायुर्दोषादल्पशक्तीनां शिष्याणामनुग्रहाय यत् प्रोक्तं तदंगबाह्यम् ॥ तत्वार्थभाष्य (उमास्वाति) १-२० ॥ अंगप्रविष्टमाचारादिद्वादशभेदं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तगणधरानुस्मृतग्रन्थरचनं ॥ १-२०-१२ ॥ आरातीयाचार्यकृतांगार्थप्रत्यासन्नरूपमंगबाह्यं ॥ १-२०-१३ त० राजवार्तिक ॥

प्रविष्ट, बाक़ी अंगबाह्य । मुसलमानों में कुरान अंगप्रविष्ट, बाक़ी अंगबाह्य। इसी प्रकार अन्य सम्प्रदायों के शास्त्रों को भी समझना चाहिये ।

लौकिक शास्त्रों में भी ये भेद लगाये जा सकते हैं । जिसने स्वयं किसी वस्तुका आविष्कार किया है उसके वचन अंगप्रविष्ट हैं और उसके ग्रंथों के आधार पर लिखने वालों के वचन अंगबाह्य हैं । मतलब यह है कि किसी भी विषय के मूल ग्रंथों को अंगप्रविष्ट और उत्तरग्रन्थों को अंगबाह्य कह सकते हैं । सामान्य श्रुत के समान अंगप्रविष्ट अंगबाह्य के भी सम्यक् और मिथ्या दो भेद हैं ।

जैनियों का अंगप्रविष्ट साहित्य आज उपलब्ध नहीं है, और ऊपर जो मैंने अंगप्रविष्ट की व्याख्या की है उसके अनुसार तो वह म. महावीर के शब्दोंके साथ ही विलीन हो गया है । उस समय के धर्मप्रवर्तक पुस्तक नहीं लिखते थे और लेखन के साधन इतने कम थे कि उस समय किसी के उपदेशों का लिखना कठिन था । मालूम होता है कि उस समय तालपत्रका उपयोग करना भी लोग न जानते थे, या बहुत कम जानते थे । ब्राह्मी आदि लिपियाँ तो उस समय अवश्य प्रचलित थीं, परन्तु वे शायद ईंटों, शिलालेखों, ताम्रपत्रों, सिक्कों आदि पर ही काम में आती थीं । अगर लिखना इतना दुर्लभ न होता तो कोई कारण नहीं था कि जैन साहित्य म. महावीर के समय में ही न लिखा जाता । श्रेणिक और कुणिक सरीखे महाराजा जैनश्रुत को लिपिबद्ध न कराते, यह आश्चर्य ही कहलाता । शास्त्रों को जो श्रुति-स्मृति कहा जाता है उससे भी

माल्म होता है कि उस समय में शास्त्र, सुने जाते थे और स्मरण में रक्खे जाते थे। लिखने पढ़ने का व्यवहार नहीं होता था। जैनियों ने भी शास्त्र का नाम 'श्रुत' ही रक्खा है, 'लिखित' नहीं रक्खा।

खैर, यह तो एक ऐतिहासिक समस्या है; परन्तु इतनी बात तो निश्चित है कि म. महावीर के उपदेशों का कोई लिखित रूप उपलब्ध नहीं है और न उनका लिखितरूप कभी हो सका। उनके शिष्योंने जो उनके व्याख्यानों का संग्रह किया वह भी उनके शब्दों का ज्योंका त्यों संग्रह नहीं था। उस में भाव म. महावीर के थे और भाषा उनके शिष्यों की थी। इतना ही नहीं, उनके शिष्योंने विषय को खूब बढ़ाया है। मैं द्वितीय अध्याय में कह चुका हूं कि जैन शास्त्रोंके अनुसार म. महावीरने तो त्रिपदी [उत्पादव्ययध्रौव्य] का उपदेश दिया था; उस परसे गणधरोंने द्वादशांगकी रचना की। इससे स्पष्ट माल्म होता है कि म. महावीर का उपदेश स्याद्वाद पर मुख्यरूप में होता था जिसके आधार पर उनके शिष्य लम्बा चौड़ा शास्त्र बना डालते थे, अथवा कुछ न कुछ विस्तार अवश्य करते थे।

अंगप्रविष्ट साहित्य म. महावीर के शब्दोंमें होने के बदले उनके शिष्यों के शब्दों में होने से उसमें अनेक अतिशयोक्तियों को स्थान मिला। प्रभावना के लिये अनेक कल्पित घटनाओं और कथाओं और वर्णनों को स्थान दिया गया। कवित्व का परिचय देने के लिये भी उसमें अनेक बातों का समावेश हुआ।

जबतक म. महावीर जीवित थे तबतक तो पूर्ण द्वादशांगकी रचना हो ही नहीं सकती थी, क्योंकि जीवन के अन्त तक म.

महावीर क्या क्या विशेष बातें कहेंगे, यह पहिले से कौन जानता था ? महावीर-निर्वाण के बाद जब संघनायक का पद सुधर्मा स्वामी को मिला तब उनने पूर्ण श्रुत का संग्रह अपनी भाषा में किया। इसको भी अपनी भाषा देनेवाले जम्बू स्वामी हैं। वर्तमान के सूत्र प्रायः सुधर्मा और जम्बूकुमार के वार्तालापके रूप में उपलब्ध हैं। इससे माळूम होता है कि इन शास्त्रों को एक दिन जम्बू स्वामी ने अपने और सुधर्मा स्वामी के प्रश्नोत्तर के रूप में बनाया था। परन्तु यह परिवर्तन यहीं समाप्त नहीं होता है किन्तु जम्बू स्वामी के आगे की पीढ़ी उसे अपने शब्दों में ले लेती है। उस समय सूत्रों में रहा तो सुधर्मा जम्बू का ही प्रश्नोत्तर है परन्तु उसमें सुधर्मा और जम्बू को जो नाम लेकर आर्य विशेषण [१] लगाया गया है, तथा घोर तपस्वी आदि कहकर जो उनकी खूब प्रशंसा की गई है उससे साफ़ माळूम होता है कि ये किसी तीसरे व्यक्ति के वचन हैं। सुधर्मा और जम्बू न तो अपनी प्रशंसा अपने मुंह से कर सकते हैं और न अपने लिये अन्य पुरुष का उपयोग कर सकते हैं। इन दोनों से भिन्न कोई तीसरा व्यक्ति ही इन शब्दोंका उपयोग कर सकता है। अन्तिम श्रुत केवली भद्रबाहु थे। इन्होंने

---

[२] अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स जेट्ठे अंतेवासी अज्जजम्बू नामं अणगारे कासवगोत्तेणं सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वज्जरिसहनारायसंघयणे कणग पुलगनिघसपम्हगोरे उग्गतवे तत्ततवे महातवे उराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबम्भचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविउलतेउलेसे अज्जसुहम्मस्स थेरस्स अदूर-सामन्ते उढ्ढंजाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥ णायधम्मकहा ॥

तीन वाचनाओं में से प्रथम वाचना दी थी इसलिये सूत्रों की भाषा भद्रबाहुकी भाषा थी, यह कहने में ज़रा भी आपत्ति नहीं है।

इस प्रकार जब सूत्र पीढ़ी दर पीढ़ी बदलते रहे तो उनमें नई नई बातें भी मिलती रहीं। यहाँ तक कि उनमें राजाओं के वैभवों का वर्णन, आयुर्वेद, स्त्रीपुरुषों की कलाएँ, गणित-शास्त्र आदि भी शामिल हुए। परन्तु इन विषयों का मुनियों के ऊपर इतना बुरा प्रभाव पड़ा कि पिछले चार पूर्वों का पठनपाठन भद्रबाहु ने बन्द कर दिया और ये उन के साथ विलीन होगये।

सूत्रोंका परिवर्तन भद्रबाहु पर जाकर ही समाप्त नहीं हुआ किंतु आज जो सूत्रों की भाषा उपलब्ध है उस पर से साफ़ कहा जा सकता है कि यह पुरानी भाषा नहीं है। आचारांगकी प्राकृत से अन्य सूत्रों की प्राकृत बहुत कुछ जुदी पड़ जाती है, इससे माळूम होता है कि जैनसूत्रों की परम्परा संज्ञाक्षर या व्यंजनाक्षरों में नहीं आई किन्तु भावाक्षरों में आई है। अर्थात सुधर्मा स्वामीने जम्बूस्वामी को जो उपदेश दिया उसे जम्बूस्वामीने शब्दशः सुरक्षित नहीं रक्खा किन्तु उस बात को समझ लिया, और अपनी भाषा में अपने शिष्यों को समझाया। इस परिवर्तन से अनेक अलंकार, अतिशयोक्तियाँ, उदाहरण आदि नये आगये। इतना ही नहीं, किंतु ज्यों ज्यों विद्या का विकास होता गया, परस्थितियाँ बदलती गई त्यों त्यों उनका असर भी शास्त्रों पर पड़ता गया। वैदिक ब्राह्मणों ने वेद को जिस तरह सुरक्षित रक्खा उस तरह जैन-श्रमणोंने नहीं रक्खा। वेद को सुरक्षित रखने के कठोर नियम और घोर प्रयत्न वास्तव में आश्चर्यजनक हैं, हज़ारों ब्राह्मण बाल्यावस्थासे इसी काम

के ऊपर नियुक्त रक्खे गये और शब्दोंका परिवर्तन तो क्या किन्तु उदात्त अनुदात्त स्वरित उच्चारणों का भी परिवर्तन न होने दिया। जो ऐसा भूलसे भी करते थे उनको बहुत पापी कहा गया है। पाठप्रणाली के अनेक भेदों से जो वेद को सुरक्षित रखने की चेष्टा की गई है वह आश्चर्य-जनक है। साधारण पाठप्रणाली को 'निर्भुज संहिता' कहते हैं जैसे 'अग्निमीले पुरोहितम् यज्ञस्यदेवमृत्विजं' [१] इस पाठको संधिच्छेद करके विरामपूर्वक जब पढ़ते हैं तब वह 'पद संहिता' कहलाती है। जैसे 'अग्निम, इले , पुरः हितम्' इत्यादि। 'क्रमसंहिता' में आगे पीछे के शब्दों को सांकलकी तरह जोड़ा जाता है और दुहराया जाता है। जैसे 'अग्नि ईले ईले पुरोहितं, पुरोहितं यज्ञस्य, यज्ञस्य देवं, देवं ऋत्विजम्' जटापाठ में यह आम्रेडन और बढ़ जाता है। जैसे 'अग्नि इले, ईले अग्नि, अग्नि ईले, ईले पुरोहितम, पुरोहितं, ईले, ईले पुरोहितं पुरोहितं यज्ञस्य, यज्ञस्य पुरोहितम्, पुरोहितम् यज्ञस्य यज्ञस्य देवं, देवं यज्ञस्य, यज्ञस्य देवं, देवं ऋत्विजम्, ऋत्विजम् देवं, देवं ऋत्विजम्।' घनपाठ माला शिखा आदि अनेक पाठ विचित्र हैं। यह सब परिश्रम इसलिये था कि वेद में प्रक्षिप्त अंश न मिलने पावे। फिर भी कालभेद देशभेद व्यक्तिभेद और उच्चारण भेद से वेदके अनेक पाठभेद हुए हैं, और इस क्रम से प्रत्येक संहिता अनेक शाखाओं में विभक्त हुई। सामवेद की तो हजार शाखाएं कही जाती हैं, जब कि अन्य वेदों की भी दर्जनों शाखाएं हैं। इतना प्रयत्न करने पर भी अगर वेद अक्षुण्ण नहीं रह सका तब जैन साहित्य कितना

---

(१) ऋग्वेद अष्टक १, मण्डल १, अध्याय १, अनुवाक १, सूक्त १, पद्य प्रथम।

क्षुण्ण न हुआ होगा, इस की कल्पना अच्छी तरह की जा सकती है।

जैनधर्मशास्त्र को 'सूत्र' कहते हैं। यह शब्द भी जैन साहित्य के मौलिक रूप पर प्रकाश डालता है। किसी विस्तृत विवेचन को सूचना के रूप में संक्षेप में कहना सूत्र कहलाता है। दिगम्बर और श्वेताम्बरों ने जैनधर्मशास्त्र को विस्तृत माना है उसे स्वीकार करते हुए उनको सूत्र कहना उचित नहीं मालूम होता। कहा जा सकता है कि प्राकृतके 'सुत्त' शब्द का संस्कृतरूप 'सूत्र' बनाने की उपेक्षा 'सूक्त' क्यों न बनाया जाय ? जैसे वेदों में 'सूक्त' माने जाते हैं उसी प्रकार इधर अंग पूर्वों में 'सूक्त' कहे जाँय। सम्भव है म. महावीर के समय में 'सूक्त' के स्थान में ही 'सुत्त' शब्द का प्रयोग किया गया हो, परन्तु किसी जैन लेखकने जैन साहित्य को सूक्त नहीं कहा, सभी उसे सूत्र कहते हैं। तब प्रश्न होता है कि इन विशालकाय वर्णनों को जिनमें पुनरुक्ति आदि का छूट से उपयोग हुआ है—सूत्र कैसे कहा जाय ?

इस प्रश्न का एक ही समुचित उत्तर यह है कि जैन वाङ्मय पहिले सूत्र ही था। म. महावीर ने सूत्ररूप में उपदेश दिया था (और सम्भव है कि उसका प्राचीन संग्रह भी सूत्र में ही हुआ हो) और बाद में फिर वह बढ़ाया गया। जिन सूत्रों का वह बढ़ाया हुआ रूप था वह भी सूत्र कहलाया। और बाद में तो अंगबाह्य साहित्य भी सूत्र कहलाने लगा है।

शास्त्रों में यह कथन मिलता है कि द्वादशांगकी रचना अन्तर्मुहूर्त में की गई थी, उसका पाठ भी अन्तर्मुहूर्त में हो सकता है। यह अतिशयोक्ति नहीं है किन्तु वास्तविक बात है। मूल सूत्र इतना

ही था कि वह अन्तर्मुहूर्त (करीब पौन घंटा) में पढ़ा जा सके। पीछे उसका कलेवर बढ़ा और बढ़ा उसी समय, जब कि म. महावीर के शिष्य जीवित थे।

श्वेताम्बरों का जो सूत्र साहित्य उपलब्ध है वह करीब डेढ़ हजार वर्षसे ज्योंका त्यों चला आ रहा है इसलिये यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि पिछले डेढ़ हजार वर्षसे उसके ऊपर समय का प्रभाव नहीं पड़ा, इसलिये उसमें खोजकी सामग्री बहुत है। परन्तु उसके पहिले के हजार वर्षों में उसके ऊपर भी समय का प्रभाव पड़ा है। वह प्राचीन साहित्य को छोड़कर बिलकुल नये ढंगसे नहीं बनाया गया, इसलिये उसमें कुछ मौलिकरूप अवश्य बना हुआ है। परन्तु जब गणधरों के समय में ही वह पर्याप्त विकृत हो गया था तब इसका अधिक विकृत होना अनिवार्य है।

दिगंबरों ने मौलिक साहित्य के खंडहरका भी त्याग कर दिया और उसके पत्थर लेकर उनने दूसरी जगह नई इमारत बनाई, फल यह हुआ कि इमारत कुछ सुंदर बनी परन्तु प्राचीन खोज के लिये बहुत कम काम की रही। और भी एक दुर्भाग्य यह हुआ कि उनकी सारी रचना एक साथ नहीं हुई, किन्तु धीरे धीरे होती रही और समग्र साहित्य की पूर्ति नवमी दसमी शताब्दी तक हो पाई है। फल यह हुआ कि छट्ठी सातमी शताब्दी के बाद कुमारिल शंकर आदि के द्वारा जो धार्मिक क्रान्ति की गई, उसका पूरा असर उसके ऊपर पड़ा, और वह अत्यन्त विकृत होगया। जिनसेन आदि समर्थ आचार्यों को उसी प्रवाह में बहकर जैन साहित्य को विकृत बनाना पड़ा है। दिगम्बर आचार्यों के ऊपर

ही इस क्रान्ति के प्रवाह का असर पड़ा हो, सो बात नहीं है किंतु श्वेताम्बर आचार्यों के ऊपर भी उसका उतना ही प्रभाव पड़ा जितना कि दिगम्बरों पर।

खैर, विकार सब में आया है, पूर्ण प्रामाणिक कोई नहीं है, चाहे दिगम्बर हो या श्वेताम्बर हो। शाखाओं और उपशाखाओं से वृक्ष का अनुमान किया जा सकता है परन्तु उसमें समग्र वृक्ष दिखलाई नहीं दे सकता। एक स्वर से समग्र जैनाचार्य भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि श्रुत विच्छिन्न होगया है। ऐतिहासिक निरीक्षण करने से भी यह बात सिद्ध होती है कि आज म. महावीर के वचन उपलब्ध नहीं होते, और शास्त्रों में सैकड़ों वर्षों तक परिवर्तन (न्यूनाधिकता) होता रहा है। ऐसी अवस्था में एक महान् प्रश्न खड़ा होता है कि श्रुतनिर्णय कैसे किया जाय और वर्तमान शास्त्रोंका क्या उपयोग है ?

इसका उत्तर स्पष्ट है हमें शास्त्रों को मजिस्ट्रेट नहीं, गवाह (साक्षी) बनाना चाहिये, उनकी जाँच करना चाहिये, और जो बात परीक्षा में ठीक उतरे वही मानना चाहिये और बाकी को विकार समझकर छोड़ देना चाहिये। आचार्य समन्तभद्र ने शास्त्र का एक बहुत अच्छा लक्षण बतलाया है। सिद्धसेन दिवाकरके न्यायावतार में भी यह श्लोक पाया जाता है।

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरुद्धकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥

अर्थ—[१] जो आप्त [सत्यवादी] का कहा हुआ हो, [२] जिसका कोई उल्लंघन न कर सकता हो, [३] जो प्रत्यक्ष और

अनुमान से विरुद्ध न हो, [४] तत्त्वका उपदेश करनेवाला हो, [५] सब का हित करनेवाला हो, [६] कुमार्ग का निषेधक हो, वह शास्त्र है ।

परन्तु आज संसार में इतने तरह के सत्य-असत्य शास्त्र हैं, और वे सब अपना सम्बन्ध ईश्वर या किसी ऐसे ही महान व्यक्ति से बताते हैं कि श्रद्धा से काम लेने वाला व्यक्ति कुछ भी निर्णय नहीं कर सकता। किस शास्त्र का बनानेवाला आप्त था इसके निर्णय का कोई साधन आज उपलब्ध नहीं है ।

प्रश्न--उसके वचनों की सचाई से हम उसके सत्यवादीपन को जान सकते हैं ।

उत्तर--इससे दोनों में से एक का भी निर्णय न होगा। क्योंकि वक्ताकी सचाई से हमें उसके वचनों की सचाई का ज्ञान होगा और वचनों की सचाई से वक्ताकी सचाई का ज्ञान होगा। यह तो अन्योन्याश्रय दोष कहलाया ।

प्रश्न--किसी के दस बीस वचनों की सचाई से हम उस की सब बातों की सचाई को मान लेंगे ।

उत्तर--दसबीस बातों की सचाई के लिये हमें उस की परीक्षा तो करना ही पड़ेगी। दूसरी बात यह है कि थोड़ी बहुत बातों की सचाई तो सभी शास्त्रों में मिलती है, तब अमुक शास्त्र को ही आप्तोक्त कैसे कह सकते हैं ! तीसरी बात यह है कि अगर दस बीस बातों की सचाई से उसकी सब बातों की सचाई का निर्णय किया जाय तो उसकी कुछ बातों के मिथ्यापन

से उनकी सब बातों को मिथ्या क्यों न समझा जाय ? उदाहरणार्थ अगर जैन शास्त्र का भूगोल वर्णन वर्तमान भूगोल से खंडित हो जाता है तो इस से जैनशास्त्र और इसी प्रकार मिथ्या भूगोल मानने वाले अन्य शास्त्र मिथ्या क्यों न माने जायँ।

प्रश्न–भूगोल आदि विषय प्रक्षिप्त मानलें तो ?

उत्तर–तो कौनसा भाग प्रक्षिप्त है और कौनसा भाग प्रक्षिप्त नहीं है, इस का निर्णय कौन करेगा ?

प्रश्न--जो भाग प्रमाण-विरुद्ध है, वह प्रक्षिप्त है।

उत्तर–जब प्रमाणों के आधार पर ही प्रक्षिप्त अक्षिप्त का निर्णय करना है, तब श्रद्धाको स्थान कहाँ रहा ? निर्णय तो तर्क के ही हाथ में पहुँचा।

प्रश्न--इस प्रकार कोरे तर्कवाद के प्रबल तूफानों से तो आप शास्त्रों को बर्बाद ही कर देंगे, प्राचीन आचार्यों के प्रयत्नों पर पानी फेर देंगे। फिर शास्त्र की आवश्यकता ही क्या रहेगी ? और श्रुतज्ञानके लिये स्थान ही क्या रहेगा ?

उत्तर-यदि परीक्षा करना कोरा तर्कवाद है तब तो संसार में अन्धश्रद्धालुओं का ही राज्य होना चाहिये। जैनाचार्यों ने जब ईश्वर सरीखे विश्वविख्यात और बहुजनसम्मत जगत्कर्ता आत्मा के अस्तित्व से इनकार किया उस समय उनने कोरे तर्कवाद के प्रबल तूफान ही तो चलाये हैं। कमजोर मनुष्यों की यह आदत होती है कि जब तक वे अपने पक्षको तर्कसिद्ध समझते हैं तबतक वे तर्क के गीत गाते हैं किन्तु जब वे अपने पक्षको तर्क के सामने टिकता

हुआ नहीं पाते तब श्रद्धा के गीत गाते हैं और परीक्षकों को कोरा तर्कवादी कह कर नाक मुँह सिकोड़ते हैं। ये लोग सत्यके भक्त नहीं, अन्धश्रद्धा के भक्त हैं। ये लोग सच्चे जैन नहीं कहला सकते।

परीक्षा करने से शास्त्र की आवश्यकता न रहेगी यह समझना भूल है। किसी नयी बात की खोज करने की अपेक्षा उस की परीक्षा अत्यन्त सरल है। घड़ी बनाना कठिन है, किन्तु उस की जाँच करना, यह ठीक चलती है या नहीं आदि, इतना कठिन नहीं है। शास्त्रों से हमें यह महान लाभ है कि हमें सैकड़ों नयी बातें मिलती हैं, उनकी परीक्षा करके हम उनमें से सत्य और कल्याणकारी बातों को अपना सकते हैं। अगर शास्त्र न हो तो हम किस की परीक्षा करें और नयी नयी बातों की कहाँ तक कल्पना करें? साक्षी की बात प्रमाण नहीं मानली जाती परन्तु वह निरुपयोगी नहीं है। इसी प्रकार शास्त्र की बात भी प्रमाण नहीं मानी जा सकती परन्तु वह निरुपयोगी नहीं है।

प्रश्न–शास्त्रों की परीक्षा तो हम तब करें जब हम शास्त्रकारोंसे अधिक बुद्धिमान हों।

उत्तर–यदि ऐसा विचार किया जायगा तब तो हमें किसी भी धर्म को अपनाने का उचित अधिकार न मिल सकेगा। जो जो मनुष्य अपने को जैन कहते हैं और जैनधर्म को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं क्या वे अन्य धर्मोंके प्रवर्तकों और आचार्योंसे अवश्य अधिक बुद्धिवाले हैं? इसी प्रकार के प्रश्न अन्य धर्मावलम्बियोंसे भी किये जा सकते हैं? ऐसी हालत में प्रायः कोई मनुष्य परीक्षक बनकर

किसी धर्म को ग्रहण न कर सकेगा। ऐसी हालत में जैनधर्म के प्रचार का प्रयत्न भी निरर्थक ही कहना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि आज कल भी आचार्यों से अधिक बुद्धिमान मनुष्य हो सकते हैं जो उनकी परीक्षा कर सकें। आचार्य हमारे पूर्वज होने से सम्मानास्पद हैं, परन्तु इसीलिये हम उनकी अपेक्षा मूर्ख हैं, यह नहीं कहा जा सकता। तीसरी बात यह है कि परीक्षा करने के लिये हमें उनसे बड़ा ज्ञानी होना आवश्यक नहीं है। हम गायन न जानते हुए भी अच्छे बुरे गायन की परीक्षा कर सकते हैं, रसोई बनाना न जानने पर भी उसकी परीक्षा कर सकते हैं, चिकित्सा न कर सकने पर भी चिकित्सा ठीक हुई या नहीं हुई—इसकी जांच कर सकते हैं, व्याख्यान न दे सकने पर भी व्याख्यान की परीक्षा कर सकते हैं, लेख न लिख सकने पर भी लेखकी परीक्षा कर सकते हैं। इस प्रकार सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं।

इस विवेचन से यह बात समझमें आ जाती है कि शास्त्र की परीक्षा सरल है और उसकी परीक्षा के बिना शास्त्र-अशास्त्र का निर्णय सिर्फ आप्तोपज्ञता से नहीं किया जा सकता। इसीलिये आचार्य समन्तभद्रने शास्त्र का निर्णय करने के लिये और बहुत से विशेषण डाले हैं।

दूसरा विशेषण "अनुलंघ्य"—अर्थात् जिसका कोई उल्लं-घन न कर सके, अथवा जिसका उल्लंघन करना उचित न हो—है। जब हम कहते हैं कि अग्नि को कोई छू नहीं सकता तब उसका यह अर्थ नहीं है कि उसका छूना असम्भव है। उसका

छूता है तो सम्भव, परन्तु उसके साथ हाथ जल जायगा यह निश्चित है। इसी प्रकार शास्त्र वही है जिसके उल्लंघन करने से हमारा हाथ जल जाय अर्थात् हम दुःखी होजाँय । धर्म कल्याण का मार्ग है अगर हम धर्म का पालन नहीं करेंगे तो उसका अच्छा फल न होगा। इसलिये कहा जाता है कि धर्म का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। जिस शास्त्र में उस धर्म का प्रतिपादन है वह भी धर्म की तरह अनुल्लंघ्य कहलाया।

तीसरा विशेषण यह है कि वह प्रत्यक्ष अनुमान के विरुद्ध न हो। इसका अर्थ यह है कि वह असत्य न हो। अगर असत्य मालूम हो तो हमें निःसंकोच उसका त्याग कर देना चाहिये। मतलब यह कि परीक्षा करना आवश्यक है।

तत्वोपदेशकृत् अर्थात् सार वस्तु का उपदेश करने वाला। प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, उसीके लिये वह सतत प्रयत्न करता है परन्तु अज्ञान के कारण ठीक प्रयत्न नहीं करता। उसे ठीक प्रयत्न बताने वाला शास्त्र है। तत्व=सार=सुख=कल्याण आदि का एक ही अर्थ है। जो सुखी बनने का उपदेश दे वह शास्त्र।

सार्व अर्थात् सबके लिये हितकारी। सब का अर्थ क्या है और सर्वहित क्या है, यह बात प्रथम अध्याय में विस्तार से बतादी गई है। बहुत से प्रयत्न हमें अपने लिये सुखकर मालूम होते हैं परन्तु वे दूसरों का भारी अनर्थ करते हैं। ऐसे कार्य अन्त में हमें भी दुःखी करते हैं। इसका भी विवेचन प्रथम अध्याय में हुआ है। इसलिये शास्त्र सबके कल्याण का उपदेश देनेवाला होना चाहिये।

कापथघट्टन अर्थात कुमार्ग का निषेध करनेवाला। सत्य और असत्य का जिसमें एकसा महत्व हो वह शास्त्र नहीं कहला सकता। शास्त्र, सत्य का समर्थक और असत्य का विरोधी होगा।

जिसमें ये विशेषण हों, वही आप्त का कहा हुआ है वही शास्त्र है जिसमें इनमें से एक भी विशेषण कम होगा वह आप्त का कहा हुआ नहीं कहा जा सकता, फिर भले ही वह किसी के भी नामसे बना हो। प्रत्येक सम्प्रदायके शास्त्रों को हमें इसी कसौटी पर कसना चाहिये, और जो सत्य हो, कल्याणकारी हो, उसीको शास्त्र मानना चाहिये। किसी संप्रदाय के ग्रन्थों को विवेकहीन होकर शास्त्र मानना या अशास्त्र मानना मूढ़ता है।

अंगप्रविष्ट

अंगप्रविष्ट बारह अंगों में विभक्त है। १, आचार, २, सूत्रकृत ३, स्थान, ४, समवाय, ५, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६, न्यायधर्म कथा ७, उपासक दशा, ८, अन्तकृद्दशा, ९, अनुत्तरौपपादिक दशा, १०, प्रश्नव्याकरण,, ११, विपाकसूत्र, १२, दृष्टिवाद।

१ **आचार**–इसमें आचार का खास कर मुनियों के आचार का विस्तार से वर्णन है। सब अंगोंमें यह मुख्य है इसलिये इसका नाम पहिले दिया गया है। इस अंगको प्रवचन का सार (१) कहा है।

२ **सूत्रकृत**–इस अंगमें लोक अलोक, जीव अजीव, स्वसमय

आयारो अंगाणं पढमं अंगं दुवालसण्हंपि। इत्थ य मोक्खोपाओ एस य सारो पवयणस्स ॥ आचाराङ्ग निर्युक्ति ९।

पर-समय का संक्षेप में वर्णन है। तथा ३६३ मिथ्यामतों की आलोचना (१) है।

प्रश्न–जैनधर्म अगर सब धर्मों का समन्वय करनेवाला धर्म है, तो वह ३६३ मिथ्यामतों का खण्डन कैसे करेगा? और सूत्रकृतांगमें तो अन्य मतों का खण्डन है।

उत्तर–जैनधर्म अगर किसी अन्य मत का खण्डन करता है, तो उसके किसी विचार का नहीं, किन्तु उसकी एकान्तताका खण्डन करता है। जो धर्म समन्वय का ही विरोधी हो, उसका खण्डन करना ही पड़ेगा। अथवा जिस द्रव्यक्षेत्र--कालभाव के लिये जो बात कल्याणकारी न हो, किन्तु कोई उसी द्रव्यक्षेत्रकालभाव के लिये उसका विधान करे तो उसका भी खण्डन करना पड़ता है। मतलब यह है कि कोई सम्प्रदाय सदा सर्वत्र और सब के लिये बुरा है यह बात जैनधर्म नहीं कहता, वह किसी न किसी रूपमें उनका समन्वय करता है, परन्तु एकान्त दुराग्रहोंका तथा अनुचित अपेक्षाओंका खण्डन भी करता है।

दिगम्बर शास्त्रों के अनुसार इस अंगमें व्यवहार-धर्मकी क्रियाओंका वर्णन है। दिगम्बर सम्प्रदायमें सूत्रकृतांग उपलब्ध न

(१ सूयगडेणं लोए सूइज्जइ अलोए सूइज्जइ लोआलोए सूइज्जइ, जीवा सूइज्जंति अजीवा सूइज्जंति जीवाजीवा सूइज्जंति ससमए सुइज्जइ परसमए सूइज्जइ ससमये परसमये सुइज्जइ; सुअगडेणं असीअस्स किरियावाइसयस्स चउरासीए अकिरिवाईणं सत्तट्ठीए अण्णाणीयवाईणं बत्तीसाइ वेणइअवाईणं तिण्हं तेसट्ठाणं पासांडय समयाणं वहं किच्चा ससमए ठाविज्जइ। नंदीसूत्र ४६।

होने से राजवार्तिककी १ परिभाषाके विषयमें कुछ नहीं कहा जा सकता।

३–स्थान– इस अंगमें एकसे लेकर दश (२) भेदों तककी वस्तुओंका वर्णन है। इसमें विशेषतः नदी, पहाड़, द्वीप, समुद्र, गुफा आदिका विस्तृत वर्णन पाया जाता है।

दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार इसमें दश धर्म की मर्यादा नहीं है और स्थानोंका प्रतिपादन भी कुछ दूसरे ढंगसे है (३)। श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुसार इस अंगमें पहिले एक एक संख्यावाली वस्तुओंका वर्णन है, फिर दो दो संख्यावाली, फिर तीन तीन आदि। दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार एक वस्तुका एक रूपमें, फिर उसीका दो रूपमें, फिर तीन रूपमें, इस प्रकार उत्तरोत्तर वर्णन है।

४–समवाय–इस अंगमें एकसे लेकर सौ स्थान (४) तककी वस्तुओंका वर्णन है। दिगम्बर सम्प्रदायके (५) अनुसार इस अंगमें सब पदार्थों का समवाय विचारा जाता है अर्थात् द्रव्यक्षेत्र आदिकी

---

(१) सूत्रकृते ज्ञानविनयप्रज्ञापना कल्प्याकल्प्यच्छेदोपस्थापना व्यवहारधर्मक्रिया प्ररूप्यन्ते। तत्त्वार्थराजवार्तिक १-२०-१२।

(२) एक संख्यायां द्विसंख्यायां यावद्दशसंख्यायां ये ये भावा यथा यथाऽन्तभवन्ति तथा तथा ते ते प्ररूप्यन्ते। नन्दीसूत्र टीका ४७

(३) जीवादिद्रव्यकाद्येकोत्तरस्थानप्रतिपादकं स्थानं। श्रुतभक्ति टीका ७ स्थाने अनेकाश्रयाणामर्थानाम् निर्णयः क्रियते। त० राजवार्तिक १-२०-१२।

(४) एकादिकानामेकोत्तराणां शतस्थानकम् यावद्विवर्धितानाम् भावानाम् प्ररूपणा आख्यायते।

(५) समवाये सर्वपदार्थानाम् समवायश्चिन्त्यते। स चतुर्विधः द्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पः ··· ···इत्यादि। त० राजवार्तिक १-२०-१२

दृष्टिसे जिन जिन वस्तुओंमें समानता है उनका एक साथ वर्णन किया जाता है। जैसे धर्म, अधर्म और जीव (एक जीव) के प्रदेश एक बराबर हैं; केवलज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात-चारित्रका भाव (शक्ति) एक बराबर है, आदि।

५–व्याख्याप्रज्ञप्ति–इस अंगमें म. महावीर और गौतमके बीचमें होनेवाले प्रश्नोत्तरोंका वर्णन है। दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार इस अंगमें साठ(१) हज़ार प्रश्नोंका उत्तर है और श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुसार छत्तीस (२) हज़ार प्रश्नों के उत्तर हैं। इसका प्राकृत नाम 'विवाह-पण्णत्ति' है। अभयदेवने इसके अनेक संस्कृत रूप बतलाये हैं। उसमें व्याख्याप्रज्ञप्ति तो प्रचलित ही है। दूसरा विवाह-प्रज्ञप्ति बतलाया है, जिसका अर्थ किया है—वि=विविध, वाह=प्रवाह=नय-प्रवाह। इसका अर्थ हुआ कि स्याद्वाद शैलीसे जिस में अनेक प्रश्नोंका समाधान किया गया हो वह व्याख्याप्रज्ञप्ति है। तीसरा अर्थ विबाधप्रज्ञप्ति है। अर्थात् बाधारहित विवेचनवाली। वर्तमान में यह बहुत महत्वपूर्ण अंग समझा जाता है इसलिये इसका दूसरा नाम भगवती (३) भी प्रचलित है। दिगम्बर सम्प्रदायमें विवाय पण्णत्ति (४) विक्खापण्णत्ति नाम भी प्रचलित हैं।

---

(१) व्याख्याप्रज्ञप्तौ षष्टिव्याकरणसहस्राणि। किमस्ति जीवः ? नास्ति ? इत्येवमादीनि निरूप्यन्ते। त० रा० १-२०-१२

(२) षट् त्रिंशत्प्रश्नसहस्रप्रमाणं सूत्रपदस्य।

व्याख्याप्रज्ञप्ति अभयदेव वृत्ति।

(३) इयञ्च भगवतीत्यपि पूज्यत्वेनाभिधीयते। —अभयदेव वृत्ति।

(४) किं अत्थिणत्थि जीवो गणहरसट्ठीसहस्सकयपण्हा।

६-न्यायधर्म कथा–इस अंगके नामके विषय में बहुत मतभेद है। दिगम्बर सम्प्रदायमें दो नामप्रचलित हैं। (१)ज्ञातृधर्म कथा, नाथधर्म कथा। परन्तु एक तीसरा नाम भी मालूम होता है। प्राकृत श्रुतभक्तिमें इसका नाम 'णाणाधम्मकहा' लिखा है। तदनुसार इसका नाम 'नानाधर्मकथा 'कहलाया। इससे भिन्न एक नाम उमास्वातिकृत तत्वार्थभाष्यमें 'ज्ञातधर्मकथा' कहा है। इससे कौनसा नाम ठीक है इसका पता लगाना मुश्किल हो जाता है। मूलसूत्र प्राकृतभाषामें थे इसलिये इस अंगके प्राकृत नामों पर ही विचार करना चाहिये।

प्राकृतमें इसके तीन नाम मिलते हैं—णाणाधम्मकहा, णाहधम्मकहा और णायधम्मकहा। पहिला रूप बहुत कम प्रचलित है। मुझे तो सिर्फ़ श्रुतभक्तिमें ही यह नाम मिला। दूसरा नाम गोम्मटसारमें है। इसका अर्थ होगा [२] तीर्थङ्करोंकी कथाएँ। नाथ अर्थात् स्वामी, तीर्थङ्कर। परन्तु वर्तमान में यह अंग जिस रूपमें उपलब्ध है उस परसे यह अनुमान नहीं किया जासकता कि इसमें सिर्फ़ तीर्थंकरोंका जीवनचरित्र या दिनचर्या आदि होगी। पिछला

अड दुग दोय तिसुण्णं पमसंख विवाय पण्णत्ती–इसलिये यहाँ वैवादप्रज्ञप्ति नाम मानना चाहिये । श्रुतस्कंध १४ ।

(१) तत्तो विक्खापण्णत्तीए णाहस्स धम्मकहा ।

—गोम्मटसार जीवकांड ३५६ ।

(२) नाथः त्रिलोकेश्वराणां स्वामी तीर्थङ्कर परमभट्टारकः तस्य धर्मकथा ।

—गोम्मटसार जीवकाण्ड ३५६ ।

नाम 'णायधम्मकहा' सर्वोत्तम मालूम होता है । परन्तु इसके संस्कृतरूप और उनके अर्थ भी अनेक हैं। णायधम्मकहाके संस्कृतरूप ज्ञातृधर्मकथा, ज्ञातधर्मकथा, न्यायधर्मकथा आदि होते हैं। फिर शब्दोंके अर्थमें भी बहुत अन्तर है। एक अर्थ है ज्ञात अर्थात् उदाहरण; उदाहरण (१) प्रधान धर्मकथाएँ जिसमें हों वह अंग। दूसरा अर्थ है—जिसके प्रथम श्रुतस्कंधमें ज्ञात=उदाहरण हों और दूसरे श्रुतस्कंधमें धर्मकथाएँ हों, वह (२) अंग। राजवार्त्तिककार (३) सिर्फ़ इतना ही कहते हैं कि जिसमें बहुतसे आख्यान-उपाख्यान हों। कुछ लोग णायका अर्थ ज्ञात अर्थात् महावीर करते हैं। इन सब कथनोंसे यह स्पष्ट है कि इसके दो अर्थ मुख्य और बहुसम्मत हैं। प्रथम के अनुसार इसमें तीर्थंकरोंका या म. महावीरका वर्णन है या उनसे सम्बन्ध रखनेवाली कथाएँ हैं, दूसरे के अनुसार उदाहरणरूप धर्मकथाएँ इसमें हैं। पहिला अर्थ कुछ ठीक नहीं मालूम होता क्योंकि उपलब्ध अंगमें म. महावीर से संबंध रखनेवाली धर्मकथाएँ ही नहीं हैं, किन्तु अधिकांश कथाएँ दूसरी ही हैं; बल्कि किसी भी कथा के मुख्यपात्र म. महावीर नहीं है। अगर कहाजाय कि ये कथाएँ महावीर के द्वारा कहीं गईं हैं, इसलिये इन्हें महावीरकी कथाएँ कहना चाहिये, तो

---

(१) ज्ञातानि उदाहरणानि तत्प्रधाना धर्मकथा ज्ञाताधर्मकथा। ... पृषोदरादित्वात्पूर्वपदस्य दीर्घान्तता। —नन्दीवृत्ति ५० ।

(२) ज्ञातानि ज्ञाताध्ययनानि प्रथम श्रुतस्कंधे धर्मकथा द्वितीयश्रुतस्कंध। —नन्दीवृत्ति सूत्र ५० ।

(३) ज्ञातृधर्मकथायां आख्यानोपाख्यानानाम् बहुप्रकाराणां कथन। १, २०, १२ ।

यह कथन भी ठीक नहीं । क्योंकि जब द्वादशाङ्ग का सभी विषय म. महावीरका वचन कहाजाता है तब सिर्फ इस अंगमें ही म. महावीर के नाम के उल्लेखकी क्या आवश्यकता है ? अगर कोई ऐसा भी अंग होता जिसमें महावीरसे भिन्न व्यक्तिसे कही गई कथाएँ होतीं तो इसके नाम के साथ ज्ञात (महावीर) विशेषण लगाना उचित समझा जाता । इसलिये ज्ञात शब्द मानना और अर्थ महावीर करना उचित नहीं मालूम होता । इसलिये णायका अर्थ दृष्टांत करनाही ठीक है । वह उपलब्ध अंगमें अनुकूल भी है ।

अब प्रश्न यह है कि 'णाय' का संस्कृतरूप 'ज्ञात' किया जाय या 'न्याय' किया जाय । मैं यहाँ न्याय शब्दका जो अर्थ करता हूं वही अर्थ प्राचीन टीकाकारोंने 'ज्ञात' शब्दका किया है । परन्तु साधारण संस्कृत साहित्यमें 'ज्ञात' शब्दका 'उदाहरण' अर्थ कहीं नहीं मिलता । इसलिये 'णाय' शब्द की 'ज्ञात' संस्कृतछाया मुझे पसन्द नहीं आई । उसके स्थानमें 'न्याय' रखना उचित समझा । न्याय शब्द संस्कृत साहित्यमें 'उदाहरण' अर्थ मे खूब प्रचलित हुआ है । 'काकतालीयन्याय' 'सूचीकटाह न्याय' 'देहली दीपक न्याय' आदि उदाहरण संस्कृत साहित्यमें प्रचलित हैं जो कि न्याय शब्द से कहे जाते हैं । इसलिये इस अंगका संस्कृत नाम 'न्यायधर्मकथा' उचित मालूम होता है ।

'न्यायधर्मकथा' इस नाम में कथा शब्दका कहानी अर्थ नहीं है किन्तु कथन-कहना-उपदेश देना अर्थ है । जिस अंगमें दृष्टांत देदेकर धर्मका उपदेश दिया गया है, वह न्यायधर्मकथा अंग

है। यदि कथा शब्दका कहानी अर्थ भी किया जाय तो भी कुछ विशेष हानि नहीं है। उस समय 'णायधम्मकहा' का अर्थ होगा, ऐसी धर्मकथाएँ जो दृष्टान्तरूप हैं। परन्तु इसमें कुछ पुनरुक्ति मालूम होने लगती है। इसलिये 'कथा' का अर्थ 'कथन' किया जाय, यही कुछ ठीक मालूम होता है।

ये कथाएँ प्रायः कल्पित हैं। कई कथाएँ बिलकुल उपन्यासोंकी तरह हैं, जैसे मल्लि आदि की कथा। कई ऐतिहासिक उपन्यासोंकी तरह हैं, जैसे अपरकंका आदिकी कथा। कई हितोपदेशकी कथाओंकी तरह हैं जैसे दो कच्छपों की। कई को कथा न कहकर सिर्फ छोटासा दृष्टान्त ही कहना चाहिये, जैसे तूमड़ीका दृष्टा अध्ययन आदि।

इससे यह बात अच्छी तरह मालूम हो जाती है कि कथाएँ कोई इतिहास नहीं है किन्तु उपदेश देनेके लिये कल्पित, अर्धकल्पित और कोई कोई अकल्पित उदाहरणमात्र हैं। इनकी सचाई घटनाकी दृष्टिसे नहीं किन्तु आशयकी दृष्टिसे है।

७-उपासकदशा- जिनको आज श्रावक कहते हैं उनको महावीर युगमें उपासक कहते थे। गृहस्थोंके लिये यह शब्द उस समय आमतौर पर प्रचलित था। इसके स्थानपर 'श्रावक' शब्दका प्रयोग तो बहुत पीछे हुआ है। इसीलिये इस अंगका नाम 'उपासकदशा' है न कि 'श्रावकदशा'। इस अंगमें मुख्य मुख्य व्रती गृहस्थोंके जीवनका वर्णन है। उस वर्णन से गृहस्थों के व्रतोंका भी पता लगजाता है अर्थात् उसमें बारह व्रतोंका वर्णन भी आजाता है।

कोई भी आचार सदाके लिये और सब जगहके लिये एकसा नहीं बनाया जासकता, इसलिये आचार शास्त्र अस्थिर है। परन्तु मुनियों के आचारकी अपेक्षा गृहस्थोंके आचारकी अस्थिरता कई गुणी है इसलिये गृहस्थाचारका कोई जुदा अंग न बनाकर गृहस्थोंकी दशाका वर्णन करके ही उस आचारका वर्णन किया गया है।

दिगम्बर सम्प्रदायमें इस अंगका नाम उपासकाध्ययन (१) है। परन्तु इस नामभेदसे कुछ विशेष अन्तर नहीं आता। नन्दीसूत्र (२) के टीकाकार श्री मलयगिरिने दशा का अर्थ अध्ययनही किया है। इसलिये दोनों नामोंमें कुछ अन्तर नहीं रहता। फिर भी उपासकदशा यह नाम ही उचित माळूम होता है, क्योंकि इसमें आचाराङ्गकी तरह मुनियोंके आचारका सीधा वर्णन नहीं है किन्तु श्रावकोंकी दशाके वर्णनमें उसका वर्णन आया है। कुछ लोग दशा शब्दका दस अर्थ करते हैं क्योंकि इसमें दस अध्ययन हैं परन्तु नामके भीतर अध्ययनोंकी गिनती आवश्यक नहीं माळूम होती। दूसरी बात यह है कि प्राकृतमें इस अंगका नाम 'उवासगदसाओ' लिखा जाता है। प्राकृत व्याकरणके नियमानुसार 'दसाओ' पद 'दसा' शब्दके प्रथमा के बहुवचनका रूप है जो गिनतीके 'दस' शब्दसे नहीं बनता किन्तु 'दसा' शब्दसे बनता है। प्राकृतके नियम बहुल (अनियत) माने जाते हैं इसलिये भले ही कोई गिनतीके 'दस का भी 'दसाओ'

---

(१) उपासकाध्ययने श्रावकधर्मलक्षणम्। त० राजवार्तिक १-२०-१२।

(२) उपासकाः श्रावकाः तद्गताणुव्रतगुणव्रतादिक्रियाकलापप्रतिबद्धा दशा–अध्ययनानि उपासक दशाः।

रूप मानले परन्तु जब नियमानुसार ठीक अर्थ निकलता है तब इतनी खींचतानकी या अपवादोंकी आवश्यकता नहीं मालूम होती।

वर्तमान में जो यह अंग उपलब्ध है उसके दस अध्ययन हैं जिनमें दस श्रावकों की दशाओं का वर्णन है। परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि वर्तमान में श्राविकाओं के अध्ययन नहीं पाये जाते। म. महावीरने श्रावकसंघ की तरह श्राविकासंघ की भी स्थापना की थी इसलिये यह सम्भव नहीं कि इस अंग में श्राविकाओं का वर्णन न आया हो। बल्कि श्राविकाओं की संख्या श्रावकोंसे कई गुणी थी इसलिये उनका वर्णन और भी आवश्यक मालूम होता है। अगर यह कहा जाय कि उस समय में श्राविकासंघ में कोई मुख्य श्राविकाएँ नहीं थीं तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि श्रावक-संघ के मुखिया जिस प्रकार शंख और शतक थे, उसी प्रकार श्राविका संघ की मुख्याएँ भी रेवती और सुलसा थीं। कम से कम इन का वर्णन तो अवश्य ही आना चाहिये।

यह बात नहीं है कि अंग साहित्य में स्त्री-चरित्रों का वर्णन न हो। आठवें अंगमें बीस अध्ययन ऐसे हैं जिन में पद्मावती, गौरी, गांधारी (पांचवां वर्ग) कालीसुकाली (आठवां वर्ग) आदि महिलाओं का वर्णन है। एक एक महिला के नामपर एक एक अध्ययन बना हुआ है, तब ऐसा कैसे हो सकता है कि 'उपासक-दशा' में उपासिकाओं की दशाएं न बताई गई हों?

हां, कहा जा सकता है कि 'पिछले युग में श्राविकाओं का स्थान बहुत नीचा होगया था। वे आर्यिका बनकर तो समाज की

पूज्या हो सकतीं थीं परन्तु श्राविका रहकर आदरणीया नहीं हो सकतीं थीं। इसलिये आठवें अंगमें स्त्रियों के चरित्र आये क्योंकि वे मुक्तिगामिनी आर्यिकाओं के चरित्र थे, परन्तु श्राविकाओंके चरित्र न आये।' परन्तु यह समाधान सन्तोषप्रद नहीं है। जैन साहित्य से इसका मेल नहीं बैठता। क्योंकि श्राविकाओं का भी जैन-साहित्य में सादर वर्णन किया गया है। और जब वे स्त्रीसंघ की नायिका के पद पर बैठ सकतीं हैं तो उनके वर्णन में आपत्ति के लिये ज़रा भी गुंजाइश नहीं है। हां, निम्नलिखित कारण कुछ ठीक मालूम होता है।

जैनधर्म में स्त्रीपुरुष के हक़ बराबर रहे हैं। राजनैतिक दृष्टि से स्त्रियों के अधिकार भले ही समाजमें नीचे रहे हों, परन्तु जैनधर्म उस विषमताका समर्थक नहीं था। यह बात दूसरी है कि उसके कथासाहित्य में स्वाभाविक चित्रणके कारण विषमता का चित्रण हुआ हो, परन्तु धार्मिक दृष्टि से वह समताका ही समर्थक रहेगा। इसलिये जो महाव्रत मुनियों के लिये थे, वे ही आर्यिकाओं के लिये भी थे। इसी प्रकार जो अणुव्रत श्रावकों के लिये थे वे ही श्राविकाओं के लिये भी थे। मुनि और आर्यिकाओं की बराबरी तो निर्विवाद मानी जा सकती है। उसका सामाजिक नियमों से संघर्ष नहीं होता। परन्तु श्राविकाओं के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। श्रावक तो सैकड़ों स्त्रियों को रख कर भी ब्रह्मचर्याणुव्रती कहलाना चाहता है और वेश्यासेवन करके सिर्फ़ अणुव्रत में अतिचार मानना चाहता है, न कि अनाचार; जब कि श्राविकाके लिये बहुत ही कठोर शर्तें हैं। जैनधर्म इस विषमता का समर्थन

नहीं कर सकता। उसकी दृष्टि में दोनों एक समान हैं, इसलिये दोनोंके अणुव्रत भी एक सरीखे हैं। उपासकदशा में उपासिकाओं के वर्णन में, सम्भव है ऐसे चित्रण आये हों जो म. महावीर के जैनधर्म के अनुकूल किन्तु प्रचलित लोक व्यवहार के प्रतिकूल हों इसलिये उपासिकाओं के चरित्र न रहने दिये गये हों।

यहां एक प्रश्न यह होता है कि जैन शास्त्रों में अन्यत्र स्त्री पुरुषोंके चरित्र एक सरीखे मिलते हैं। उदाहरणार्थ 'णायधम्मकहा' के अपरकंका अध्ययन में द्रौपदीने पांच पतियों का वरण किया, यह बात बहुत स्पष्टरूप में और बिलकुल निःसंकोच भावसे कही गई है। ऐसी हालत में 'उपासकदशा' में भी यदि ऐसा वर्णन कदाचित् था तो उसके हटाने की क्या जरूरत थी?

यह प्रश्न बिलकुल निर्जीव नहीं है, परन्तु इसका समाधान भी हो सकता है। मैं कह चुका हूं कि 'णायधम्मकहा' में किसी एक बात को लक्ष्य में लेकर एक कथा दृष्टान्तरूप में उपस्थित की जाती है। उस कथा के अन्य भागों से विशेष मतलब नहीं रक्खा जाता है, परन्तु वह कथा जिस बात का उदाहरण है उसी पर ध्यान दिया जाता है। अपरकंका अध्ययन का लक्ष्य निदान की निन्दा करना [१] है अथवा बुरी वस्तुका बुरे ढंग से दान देने का कुफल बतलाया है। इसलिये पांच पतिवाली बात प्रकरणबाह्य या

---

(१) सुबहुंपि तवकिलेसो नियाणदोसेण दूसियो संतो। न सिवाय दोवतीए जह किल सुकुमालिया जन्म॥ अमणुन्नमभत्तीए पत्ते दाणं भवे अणत्थाय। जह कडुय तुंबदाणं नागसिरि भवम्मि दोवइए॥ —णायधम्मकहा १६ अध्ययन अभयदेव टीका।

लक्ष्यबाह्य कहकर टाली जा सकती है, या लोकाचार की दुहाई देकर उड़ाई जा सकती है। परन्तु अगर यही कथा 'उपासक दशा' में हो तो वहां वह मुख्य बात बन जायगी, क्योंकि यह अंग उपासकों के आचार का परिचय देने के लिये है।

कुछ भी हो, परन्तु यह बात निश्चित है कि 'उपासक दशा' में उपासिकाओं के अध्ययनों की आवश्यकता है और सम्भवत: पहिले इस अंग में उपासिकाओं के अध्ययन भी होंगे। पीछे किसी कारण से ये अध्ययन नष्ट कर गये दिये या नष्ट हो गये।

८ **अंतकृद्दशा**—इस अंगमें मुक्तिगामियों की दशा का वर्णन है। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार इसमें सिर्फ़ उन मुनियों का ही वर्णन है जिनने दारुण उपसर्गों को सहकर मोक्ष प्राप्त (१) किया है। इस प्रकार के दस मुनि श्रीवर्धमानके तीर्थ में हुए थे। इसी प्रकार के दस दस मुनि अन्य तीर्थंकरों के तीर्थ में भी हुए थे, उनका इसमें वर्णन है। परन्तु हरएक तीर्थंकर के तीर्थ में दस दस मुनियों के होने का नियम बनाना वर्णन को अस्वाभाविक और अविश्वसनीय बना देना है। हां, अगर यह कहा जाय कि हरएक तीर्थ में उपसर्ग सहिष्णु मुनियों की संख्या तो बहुत अधिक है, परन्तु उन में से दस दस मुनि चुन लिये गये हैं तो किसी तरह यह बात कुछ

---

(१) संसारस्य अंत: कृतो यैस्तेऽन्तकृतः नमि मतंग सोमिल ... ... दश वर्धमान तीर्थकरतीर्थे। एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेषु अन्येऽन्येव दशदशानगारा दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य कृत्स्नकर्मक्षयादन्तकृतः दश अस्यां वर्ण्यंते इति अंतकृद्दश। त० रा० १-२०-१२

ठीक माळूम हो सकती है। फिर भी यह शंका तो रह ही जाती है कि चुनाव की बात दिगम्बर लेखकों ने स्पष्ट शब्दों में लिखी क्यों नहीं ?

दशा का दश अर्थ करना यहां भी उचित नहीं माळूम होता। इसका कारण 'उपासकदशा' की व्याख्यामें बतलाया गया है। एक दूसरी बात यह है कि राजवार्त्तिककार इस अंग के विषय में अनेकबार 'अस्यां,' 'तस्याम्' आदि सर्वनामों के स्त्रीलिंग रूपोंका प्रयोग [१] करते हैं। इससे माळूम होता है कि इस अंग का नाम स्त्रीलिंग में होना चाहिये। ऐसी हालत में 'अंतकृद्दश' इस नामके बदले 'अंतकृद्दशा' यह नाम ही उचित है।

दस दस मुनियों के वर्णन के नियम में राजवार्त्तिककार को भी संदेह माळूम होता है। इसीलिये 'अंतकृद्दशा' की उपर्युक्त व्याख्या के बाद वे दूसरी व्याख्या देते हैं कि जिसमें अर्हत आचार्य की विधि और मोक्ष जानेवालों का वर्णन (२) हो। यह व्याख्या ठीक माळूम होती है और श्वेताम्बर व्याख्या से भी मिल जाती है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार इसमें मोक्षगामी जीवों के चरित्र है। उनके जन्मसे लेकर मरण (संलेखना) तक की दशाओं का वर्णन हैं। गजसुकुमाल आदि कुछ मोक्षगामी ऐसे हैं जिनने उपसर्ग सहकर तुरंत मोक्ष प्राप्त किया और बाकी ऐसे हैं जिनको विशेष उपसर्ग सहन नहीं करना पड़ा। उपलब्ध अंगमें तीर्थंकर आदि का वर्णन नहीं है परन्तु नंदीसूत्र टीकाकार के

---

(१) अस्यां वर्ण्यंते इति अनतकृद्दशा। तस्यामर्हदाचार्यविधि ....।

(२) अथवा अन्तकृतां दशा अन्तकृद्दश तस्यामर्हदाचार्यविधिः सिद्ध्यतांच।

कथनानुसार तीर्थंकरों [१] का भी वर्णन इस अंगमें होना चाहिये। इस समय में तो इस अंगमें बहुत थोड़े मोक्षगामियों के चरित्र हैं। वास्तव में इसका कलेवर और विशाल होना चाहिये। अथवा इस की कोई दूसरी कसौटी होना चाहिये जिसके अनुसार इन चरित्रों का चुनाव किया गया हो।

एक विशेष बात यह भी है। इसमें निम्न-लिखित स्त्रियों के चरित्र भी पाये जाते हैं जिनने उसी जन्म में [स्त्रीपर्याय से] मोक्ष पाया है।

१ पद्मावती, २ गौरी, ३ गांधारी, ४ लक्ष्मणा, ५ सुसीमा, ६ जांबवती, ७ सत्यभामा, ८ रुक्मिणी, ९ मूलश्री, १० मूलदत्ता, ११ नंदा, १२ नंदवती, १३ नंदोत्तरा, १४ नंदिसेनिका, १५ मरुता, १६ सुमरुता, १७ महामरुता, १८ मरुदेवा, १९ भद्रा, २० सुभद्रा, २१ सुजाता, २२ सुमना, २३ भूतदत्ता। २४ काली २५ सुकाली, २६ महाकाली, २७ कृष्णा, २८ सुकृष्णा, २९ महाकृष्णा, ३० वीर कृष्णा, ३१ रामकृष्णा, ३२ पितृसेन कृष्णा, ३३ महासेन कृष्णा।

परन्तु इसके अतिरिक्त भी अनेक महिलाओं के नाम रह गये हैं जिनने मोक्ष पाया है।

९ अनुत्तरौपपादिक दशा—आठवें अंग में मोक्षगामियों के चरित्र हैं और इस अंगमें अनुत्तर विमान में पैदा होने वाले मुनियों

---

(१) अन्तो विनाशः कर्मणः तत्फलभूतस्य वा संसारस्य ये कृतवन्तस्तेऽन्तकृतः। तीर्थंकरादयस्तद्वक्तव्यता प्रतिबद्धाः दशा—अध्ययनानि अन्तकृद्दशाः।
नन्दीसूत्र मलयगिरिवृत्ति सूत्र ५२।

के चरित्र हैं। राजवार्त्तिक में इस अंगकी भी दो व्याख्याएं की गई हैं। पहिली के अनुसार दस दस का नियम है, जब कि दूसरी के अनुसार नहीं है। दूसरी बात यह है कि इस अंगके चरित्रों के बहुत से नाम दोनों सम्प्रदायों में एक से मिल जाते हैं जैसे ऋषि-दास, धन्य, सुनक्षत्र, अभयकुमार, वारिषेण आदि। बाकी शंका-समाधान आठवें अंगके समान ही समझ लेना चाहिये।

१०—**प्रश्नव्याकरण**— इसकी सीधी व्याख्या यह है कि जिसमें प्रश्नोंका उत्तर हो वह प्रश्नव्याकरण है। परन्तु किस विषय के प्रश्नोंका उत्तर है, यह कहना कठिन है। नंदीसूत्र में (१) लिखा है— " प्रश्न—व्याकरणमें एकसौ आठ प्रश्न (पूछनेसे जो विद्या या मंत्र उत्तर दें) एकसौ आठ अप्रश्न (जो बिना पूछे उत्तर दें और एक सौ आठ प्रश्नाप्रश्नका वर्णन है अर्थात् उसमें अंगुष्ठ प्रश्न, बाहु प्रश्न, आदर्शप्रश्न (२) तथा और भी विचित्र विद्या अतिशय देवोंके साथ वार्तालाप आदिका वर्णन है।

परन्तु वर्तमानमें जो प्रश्नव्याकरण सूत्र उपलब्ध है उसमें इन

---

(१) पण्हावागरणेषुणं अट्ठुत्तरं पसिणसयं अट्ठुत्तरं अपसिणसयं अट्ठुत्तरं पसिणापसिणसयं। तं जहा अंगुट्ठपसिणाइं बाहु पसिणाइं अद्दागपसिणाइं। अन्ने वि विज्जाइसया नागसुवण्णेहिं सद्धिं दिव्वा संवाया आघविज्जंति।

—नंदीसूत्र ५४

(२) मूलरूप 'अद्दागपसिणं' है। अद्दाग देशी शब्द है जिसका अर्थ आदर्श अर्थात् दर्पण होता है। पुराने समय में रोगी को दर्पण में प्रतिबिंबित करके उसकी मानसिक चिकित्सा की जाती थी। इसे आदर्श विद्या कहते थे।

बातोंका वर्णन नहीं है इसलिये इसके संस्कृत टीकाकार अभयदेवका [१] कहना है कि आजकल इसमें सिर्फ आश्रवपञ्चक और संवर पञ्चक का वर्णन है, पूर्वाचार्यों ने आजकल के पुरुषों की कमजोरी देखकर अतिशयों को दूरकर दिया है।

राजवार्तिककार अकलंकदेव [२] कहते हैं कि आक्षेप विक्षेपसे हेतुनयाश्रित प्रश्नोंका उत्तर (खुलासा) प्रश्नव्याकरण है। इसमें लौकिक और वैदिक अर्थों का निर्णय किया जाता है।

उमास्वातिभाष्यके टीकाकार श्रीसिद्धसेन [५] गणी कहते हैं कि पूछे हुए जीवादिका भगवानने जो उत्तर दिया वह प्रश्न व्याकरण है।

धवलकार इसमें चार प्रकारकी कथाओं (चर्चा) का उल्लेख बताते हैं, और गन्धहस्ति तत्त्वार्थभाष्य [४] का एक श्लोक उद्धृत करते हुए चर्चाओंके नाम आक्षेपणी विक्षेपणी संवेगिनी निर्वेगिनी कहते हैं।

---

(१) इदंतु व्युत्पत्यर्थोऽस्य पूर्वकालेऽभूत् इदानीन्तु आश्रवपंचक संवर पंचक व्याकृतिरेवेहोपलभ्यते, अतिशयानाम्पूर्वाचार्यैरैदंयुगीनानामपुष्टालम्बन प्रतिषेविपुरुषापेक्षयोत्तारितत्वादिति।

(२) आक्षेपविक्षेपैर्हेतुनयाश्रितानाम् प्रश्नानाम् व्याकरणं प्रश्नव्याकरणं तस्मिन्लौकिकवैदिकानामर्थानां निर्णयः रा० वा० १-२०-१२

(३) प्रश्नितस्य जीवादेर्यत्र प्रतिवचनम् भगवता दत्तं तत्प्रश्नव्याकरणं १-२० मह

(४) उक्तंच भाष्ये—आक्षेपणीं तत्वविचारभूताम्। विक्षेपणीं तत्त्वादिगंत-शुद्धिं। संवेगिणीं धर्म्मफलप्रपञ्चां निर्वेगिनीं चाह कथाविरागां।

गोम्मटसारके टीकाकार इसकी व्याख्या दो तरह (१) से करते हैं। प्रथमके अनुसार इसमें फलित ज्योतिष या सामुद्रिकका वर्णन है। इसमें तीनकालके धनधान्य लाभअलाभ सुखदुःख जीवनमरण जयपराजयका खुलासा किया जाता है। दूसरी व्याख्याके अनुसार शिष्यके प्रश्नके अनुसार आक्षेपणी विक्षेपणी संवेजनी निर्वेजनी चर्चा है। जिनमें परमतकी आशंकारहित चारों अनुयोगोंका वर्णन हो वह आक्षेपणी, जिसमें प्रमाणनयात्मक युक्तियोंके बलसे सर्वथैकान्तवादोंका निराकरण हो वह विक्षेपणी, तीर्थंकरादिका ऐश्वर्य बतलाते हुए धर्मका फल बताया जाय वह संवेजनी, पापों का फल बताकर वैराग्यरूप कथन जिसमें हो वह निर्वेजनी।

इसप्रकार दोनों सम्प्रदायोंमें दो दो तरहकी व्याख्या पाईजाती है। इससे यह बात मालूम होती है कि मूलमें इस अंगका विषय कितना किस ढंगसे क्या था, यह ठीक ठीक किसी आचार्यको नहीं

---

(१) प्रश्नस्य—दूतवाक्यनष्टमुष्टिचिंतादिरूपस्य अर्थः त्रिकालगोचरो-धनधान्यादि लाभालाभसुखदुःख जीवितमरण जयपराजयादिरूपो व्याक्रियते व्याख्यायते यस्मिंस्तत्प्रश्नव्याकरणं। अथवा शिष्यप्रश्नानुरूपतया अवक्षेपणी विक्षेपणी संवेजनी निर्वेजनी चेतिकथा चतुर्विधा। तत्र प्रथमानुयोगकरणानुयोग चरणानुयोगद्रव्यानुयोग रूपपरमागमपदार्थानां तीर्थकरादिवृत्तान्त लोकसंस्थान देशसकलयति धर्मपञ्चास्तिकायादीनां परमताशंकारहितम् कथनमाक्षेपणी कथा। प्रमाणनयात्मक युक्तियुक्त हेतुत्वादिबलेन सर्वथैकान्तादि परसमयार्थनिराकरणरूपा विक्षेपणी कथा। रत्नत्रयात्मकधर्मानुष्ठान फलभूत तीर्थकराद्यैश्वर्यप्रभाव तेजोवीर्य ज्ञानसुखादि वर्णनारूपा संवेजनी कथा। संसारशरीर भोगरागजनित दुष्कर्मफल-नारकादिदुःख दुष्कुल विरूपांग दारिद्रयापमानदुःखादिवर्णनाद्वारेण वैराग्यकथन-रूपा निर्वेजनी कथा एवंविधाः कथाः व्याक्रियन्ते व्याख्यायन्ते यस्मिंस्तत्प्रश्न व्याकरणं नाम दशममंगम्। गोम्मटसार जीवकाण्ड टीका ३५७

माळूम। फिर भी इस अंगके ठीक ठीक रूपको जानने की सामग्री अवश्य है। उपर्युक्त विवेचनमें निम्नलिखित प्रश्न विचारणीय हैं—

१—जैन धर्म का अंग-साहित्य वास्तव में धर्मशास्त्र है इसलिये उसमें सामुद्रिक या फलित ज्योतिष की मुख्यता लेकर विषय का विवेचन कैसे हो सकता है? गौणरूपमें भले ही ये विषय आवें परन्तु मुख्यरूपमें ये विषय कदापि नहीं आ सकते, इसलिये इसका मुख्य विषय बतलाना चाहिये।

२—व्याख्याप्रज्ञप्ति में भी इसी विषय के प्रश्नोत्तर हैं, तब व्याख्याप्रज्ञप्ति से इस अंग में क्या विशेषता रह जाती है?

इन सब बातोंपर विचार करनेसे यह बात माळूम होती है कि उपर्युक्त आचार्योंके मत इस अंगके एक एक रूपको बतलाते हैं, उसके मुख्यरूपको प्रकट नहीं करते हैं इसलिये यह गड़बड़ी है। गड़बड़ी का एक कारण यह भी है कि जैनधर्मके अंगसाहित्यकी रचना इस ढंगसे हुई है कि उसका मौलिकरूप प्रारम्भमें ही नष्ट होगया है। जैनसाहित्यमें ऐसे वर्णन नहीं मिलते या नाममात्रको मिलते हैं कि कौनसी बात किसके द्वारा किस अवसरपर किस बात को लक्ष्यमें लेकर कही गई है। जैनसाहित्यमें नियमों और सिद्धान्तोंका संग्रह तो है परन्तु उनका इतिहास नहीं है, जैसाकि बौद्ध साहित्यमें पाया जाता है। कुछ तो मूलमें ही यह इतिहास नहीं रक्खा गया और कुछ शीघ्र नष्ट हो गया।

मेरा कहना यह है कि प्रश्नव्याकरण में महात्मा महावीर के और उनके शिष्योंके उन शास्त्रार्थोंका, वादविवादोंका तथा वीतराग

चर्चाओंका वर्णन है जो उस समय परस्परमें या दूसरे मतवालोंके साथ हुई हैं। इन चर्चाओं का विषय एक नहीं था, परन्तु जब जैसा अवसर आता था उसी विषय पर चर्चा होती थी। व्याख्याप्रज्ञप्तिमें तो इन्द्रभूतिने या महात्मा महावीरके शिष्योंने जो प्रश्न उन से पूछे उनके उत्तर हैं, परन्तु प्रश्न व्याकरणमें तो महावीरशिष्योंकी पारस्परिक चर्चाएँ और अन्य तीर्थिकों के साथकी चर्चाएँ हैं। प्रश्नव्याकरणांग शास्त्रार्थों की रिपोर्टोंका संग्रह है इसलिये अकलंकदेव कहते हैं कि इसमें लौकिक और वैदिक शब्दोंका अर्थ किया जाता है। शास्त्रार्थका अर्थ है, जिसमें शास्त्रका अर्थ किया जाता हो। अकलंकदेवकी यह परिभाषा प्रश्नव्याकरणके स्वरूपको बहुत कुछ स्पष्ट करती है।

ऊपर जो भिन्न भिन्न आचार्योंने प्रश्नव्याकरण के जुदे जुदे विषय बतलाये हैं, वे सब वादविवादमें सम्भव हैं इसलिये उन सबका विवरण प्रश्नव्याकरणांगमें आना उचित है।

शास्त्रार्थका लक्ष्य यद्यपि तत्त्वनिर्णय ही है परन्तु अज्ञातकालसे इसमें जयविजयकी भावनाका भी विष मिला हुआ है। इसका एक कारण यह है कि जनसमाजकी निर्णय करनेकी कसौटीमें ही विकार आगया है। उदाहरणार्थ--सीता अग्निमें कूद पड़ी और नहीं जली, इसलिये लोगोंने उन्हें सती मानलिया। परन्तु यह न सोचा कि सतीत्वका और अग्निमें न जलनेका क्या सम्बन्ध है? दोदो चार चार वर्षकी बालिकाएँ जिनमें कि असतीत्वकी सम्भावना भी नहीं हो सकती, अगर अग्निमें डालनेसे न जलती होतीं तो समझा

जाता कि ब्रह्मचर्यमें अग्निको पानी करदेने की शक्ति है। वास्तवमें अग्निमें जलने न जलनेका असतीत्व सतीत्वके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। किसी यंत्र तंत्रके प्रभावसे एक असती भी यह सफ़ाई बता सकती है और सती भी फ़ेल हो सकती है। इसलिये निर्णय की यह कसौटी ठीक नहीं है। फिर भी लोग इसे पसंद करते थे। इसीप्रकार एक साधु किसी राजकुमारको -जिसे सर्पने काटा है- जीवित करदेता है तो लोग उसे सच्चा मानकर उसके धर्मको स्वीकार करलेते हैं। परन्तु वैद्यक के इस चमत्कारसे धर्मकी सत्यता असत्यताका क्या सम्बन्ध है, यह नहीं सोचते। दुर्भाग्यसे पुराने समय में धर्मप्रचारके लिये इस प्रकारके चमत्कारोंसे बहुत कुछ काम लिया जाता था। आजकल भी इस ढंगके चमत्कार दिखाये जाते हैं परन्तु अब लोग इन्हें तमाशा समझते हैं और ये अर्थोपार्जनके साधन समझे जाते हैं। पहिले समय में चमत्कार मुख्यतः धर्मप्रचार के साधन बने हुए थे। भगवान महावीर इन चमत्कारोंका उपयोग करते थे कि नहीं, यह तो नहीं कहा जासकता परन्तु उनके शिष्य अवश्य करते थे। सम्भव यही है कि वे भी इस चमत्कारका उपयोग करते हों। उस युगकी परिस्थिति पर विचार करते हुए यह कोई निन्दाकी बात नहीं थी। ये चमत्कार धर्मप्रचारका अंग होनेसे धर्मशास्त्रोंमें इनका समावेश हुआ था।

यह बात केवल जैन संप्रदाय के विषय में ही नहीं कही जा सकती, किंतु अन्य सब सम्प्रदाय इनका उपयोग करते थे। महावीर और गोशालके अनुयायिओं में जो प्रतिद्वन्दिता चल रही थी

और गोशाल ने जो महावीर के ऊपर तेजोलेश्या का प्रयोग किया था उसका पूरा रहस्य यद्यपि अज्ञात है परन्तु इससे जैन और आजीवक सम्प्रदाय में चमत्कारों की प्रतिद्वन्दिता का पता लगता है। बौद्ध-साहित्य से भी इस बात का पता लगता है। म. बुद्ध के शिष्य बहुत से चमत्कार बतलाया करते थे। पीछे म. बुद्ध ने अपने शिष्यों को चमत्कार दिखलाने की मनाई की थी। मनाई का कारण चाहे म. बुद्ध की उदारता हो, या इस विषय में उनके शिष्यों की असफलता हो, या जनता में फैलानेवाली अशांति का भय हो, निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता। फिर भी स्वयं महात्मा बुद्ध चमत्कार दिखलाते थे! शिष्यों को मना करने के बाद भी उनने चमत्कार दिखलाये हैं। सभी दर्शनों के प्रधान २ व्यक्ति चमत्कारों की प्रतियोगिता में शामिल होते थे और दर्शकों में राजा लोग भी होते थे, यह बात भी बौद्ध-साहित्य(१) से माळूम होती है।

ख़ैर, यहाँ मुझे इस विषय का विस्तृत इतिहास नहीं लिखना है; सिर्फ़ इतनी बात कहना है कि वाद-विवाद के विषयों में चमत्कारों का महत्वपूर्ण स्थान था, और यह बहुत पीछे तक रहा। इतना ही नहीं किंतु विद्यापीठों में यह शिक्षण का विषय भी बना रहा है। तक्षशिला के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में इस विषय का भी प्रोफ़ेसर नियत किया गया था। इससे जैनशास्त्रों में भी इस विषय को स्थान मिला और प्रश्नव्याकरण में ये सब चर्चाएँ आईं। इससे माळूम होता है कि प्रश्नव्याकरण में म. महावीर के समय में होने

(१) धम्मपदट्ठकथा।

वाले विवादों का वर्णन था और उस में प्रायः सभी विषयों पर चर्चाएँ थीं।

उपलब्ध प्रश्नव्याकरण के टीकाकार अभयदेव इस अंग का नाम 'प्रश्नव्याकरणदशा' भी बतलाते हैं। उनका कहना है कि कहीं कहीं 'प्रश्न व्याकरण दशा, यह नाम भी देखा(१) जाता है। परन्तु यह नाम ठीक नहीं मालूम होता और अर्वाचीन मालूम होता है। अन्तकृद्दशा सूत्र के वर्णन में मैंने बतलाया है कि दश अध्ययन होने से 'दशा' लगाना ठीक नहीं मालूम होता। अगर कदाचित् हो भी तो यह निश्चित है कि प्रश्नव्याकरण के दश अध्ययन अर्वाचीन हैं इस बात को स्वयं अभयदेव भी स्वीकार करते हैं। इसलिये प्राचीन समय में इस अंग के साथ 'दशा' यह प्रयोग कदापि संभव नहीं है।

११–**विपाकसूत्र**–इस अंग में पुण्यपाप का फल बताया जाता है। जिन लोगों ने महान् पाप किया है उसके दुष्फल की कथाएँ और पुण्यशालियों के सुफल की कथाएँ इस अंग में हैं। वर्तमान में दस कथाएँ पुण्य फल और दस कथायें पाप फल की पाई जातीं हैं।

१२–**दृष्टिवाद**–इस अंग में सब मतों की ख़ास कर ३६३ मतों की आलोचना है। सच पूछा जाय तो जितना जैनागम है उस सबका संग्रह इस अंग में है। उस समय की जितनी विद्याएं जैनियों को मिल सकीं, उन सबका किसी न किसी रूप में इसमें

(१) कचित्प्रश्नव्याकरणदशा इत्यपि दृश्यते।

संग्रह है। पहिले ग्यारह अंग इस अंग के सामने बहुत छोटे हैं और इसी अंग की सामग्री लेकर उपर्युक्त ग्यारह अंग पीछे से बनाये गये हैं। चौदह पूर्व इसी अंग के भीतर शामिल हैं, जो कि जैनागम के सर्वप्रथम संग्रह हैं इसीलिये उनका नाम पूर्व है। यह बात आगे के विवेचन से माळूम होगी। आजकल यह अंग ग्यारह अंगों की तरह विकृत रूप में भी उपलब्ध नहीं है। इसका विवेचन इसके भेद-प्रभेदों के विवेचन के बिना ठीक २ न होगा, इसलिये इसके भेदों का वर्णन किया जाता है। दृष्टिवाद के पाँच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका।

परिकर्म—परिकर्म का अर्थ है योग्यता प्राप्त[१] करना सूत्र, अनुयोग, पूर्व आदि के विषय को समझने के लिये जो गणित आदि विषयों की शिक्षा है, वह परिकर्म है।

दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार इसमें गणित के करण (२) सूत्र हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि परिकर्म में प्रधानतया गणित का विवेचन है। यह बात ठीक भी है क्योंकि एक तो गणित से बुद्धि का विकास होता है, दूसरे उस समय कोष और व्याकरण आदि के ज्ञान की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि म. महावीरने लोकभाषा पर

---

(१) तत्र परिकर्म नाम योग्यतापादनं। तद्धेतुः शास्त्रमपि परिकर्म किमुक्तम्भवति, सूत्रादिपूर्वगतानुयोगसूत्रार्थग्रहणयोग्यतासम्पादनसमर्थानि परिकर्माणि। —नन्दीसूत्र टीका ५६।

(२) तत्र परितःसर्वतः कर्माणि गणितकरण सूत्राणि यस्मिन् तत्परिकर्म तच्च पचविधम्। —गोम्मटसार जीव–कांड टीका ३६१।

बहुत ज़ोर दिया था। इसलिये कोष और व्याकरण निरुपयोगी थे तथा लिखने की प्रथा बहुत कम थी। आगमको लोग सुनकर ही स्मरण में रखते थे, इसलिये लिखने पढ़ने की शिक्षा भी आवश्यक न थी। सिर्फ़ गणित ही बहुत आवश्यक था। सम्भव है और भी किसी विषय की थोड़ी बहुत तैयारी कराई जाती हो परन्तु गणीत की मुख्यता होने से परिकर्म में गणित के विषय को समझने के पहिले उसमें सरलता से ठीक ठीक प्रवेश करने के लिये जिस का शिक्षण लेना पड़ता है, वह परिकर्म कहलाता है।

दिगम्बर सम्प्रदाय में परिकर्म के पांच भेद बतलाये गये हैं– (१) चन्द्रप्रज्ञप्ति (२) सूर्यप्रज्ञप्ति, (३) जम्बूदीप प्रज्ञप्ति, (४) द्वीप-समुद्र प्रज्ञप्ति, (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति। चन्द्रसूर्य आदि की गतियों और जम्बूद्वीप आदि के वर्णनों में अंकगणित और रेखागणित की अच्छी शिक्षा मिल जाती है। व्याख्याप्रज्ञप्ति में लक्षणों का परिचय कराया जाता है। एक तरह से यह पारिभाषिक शब्दों के कोष की शिक्षा है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में परिकर्म के सातभेद कहे गये हैं। सिद्ध सेणिआ, मणुस्ससेणिआ, पुट्ठसेणिआ, आगाढ़ सेणिआ, उव-संपज्जणसेणिआ, विप्पजहण सेणिआ, चुआचुअसेणिआ। इनमें से पहिले दो के चौदह (१) चौदह भेद और पिछले पांच के ग्यारह ग्यारह (२) भेद हैं। इस प्रकार कुल तेरासी (८३) भेद हैं।

---

१ माउगापयाइं, एगट्ठिया, पयाइं, अट्ठपयाइं, पादोआमासपाइं, केउभूअं, रासिबद्धं, एगगुणं, दुगुणं, तिगुणं, केउभूअं, पडिग्गहो, संसारपडिग्गहो, नंदावत्तं, सिद्धावत्तं। नन्दी सूत्र ५६।

२ उपर्युक्त चौदहमें से प्रारम्भ के तीन छोड़कर।

नंदीसूत्र और उसके टीकाकार का कथन है कि प्रारम्भके छः परिकर्म तो अपने सिद्धान्त के अनुसार हैं और चुआचुअसेणिआ सहित सात परिकर्म आजीविक (१) सम्प्रदाय के अनुसार हैं। जैन मान्यता में चार (२) नय हैं। संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, और शब्द। नैगम नय का संग्रह और व्यवहार-में समभिरूढ़ और एवंभूत का शब्द नय में अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिये जैन मान्यता चतुर्नयिक कहलाती है। आजीविक लोग त्रैराशिक (३) कहलाते हैं क्योंकि ये सब वस्तुओं को तीन तीन भेदों में विभक्त करते हैं। नय भी इनके मत में तीन हैं:—द्रव्यास्तिक पर्यायास्तिक उभयास्तिक। इससे मालूम होता है कि पहिले आचार्य नय चिन्तामें आजीविक मत का अवलम्बन लेकर सातों ही परिकर्म तीन प्रकार के नयों से विचारते थे।'

---

१) छ चउक्कनइआई सत्त तेरासियाइं सेत्तं परिकम्मे। नन्दीसूत्र ५६। सप्तानाम् परिकर्मणामाद्यानि षट् परिकर्माणि स्वसमयवक्तव्यतानुगतानि स्वसिद्धान्तप्रकाशकानि इत्यर्थः। ये तु गोशालप्रवर्तिता आजीविकाः पाखंडिनस्तन्मतेन च्युताच्युतश्रेणिका षट्परिकर्मसहिता तानि सप्तापि परिकर्माणि प्रज्ञाप्यन्ते।

(२) नेगमो दुविहो—संगहिओ असंगहिओ य। तत्थ संगहिओ संगहं पविट्ठो असंगहिओ ववहारं, तम्हा संगहो ववहारो उज्जुसुओ सद्दाइआ य एक्को, एवं चउरो नया एएहिं चउहिं नएहिं छ ससमइगा परिकम्मा चिंतिज्जंति। नन्दीचूर्णि ५६।

(३) ...त एव गोशालप्रवर्तिता आजीविकाः पाखण्डिनस्त्रैराशिका उच्यन्ते। कस्मादिति चेदुच्यते, इह ते सर्वं वस्तु त्र्यात्मकमिच्छन्ति तद्यथा जीवोऽजीवो जीवाजीवश्च, लोका अलोका लोकालोकाश्च, सदसत्सदसत्, नयचिन्तायामपि त्रिविधं नयमिच्छन्ति तद्यथा द्रव्यास्तिकं पर्यायास्तिकं उभयास्तिकं

परिकर्म के भेदों का विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है परन्तु इससे इतना अवश्य मालूम होता है कि इस में लिपिविज्ञान [मातृकापद] गणित, न्यायशास्त्र [नय] आदि का वर्णन था।

सूत्र–दृष्टिवाद का दूसरा भेद सूत्र है। पूर्वसाहित्य का सूत्र रूप में लिखा गया सार 'सूत्र' (१) कहलाता था। परिकर्म के बाद सूत्ररूप में जैनागम का सार पढ़ाने के लिये इनकी रचना हुई थी। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार इसमें मिथ्या मतों की सूचना है। दृष्टिवाद का मुख्य विषय सब दर्शनों की आलोचना है इसलिये सूत्र में भी उस आलोचना का साररूप में कथन हो यह उचित ही है। तात्पर्य यह है कि दोनों सम्प्रदायों में सूत्र की परिभाषा एकसी है।

सूत्र अठासी हैं अर्थात् बाईस सूत्र चारचार तरह से अठासी तरह के हैं। ये चार प्रकार, व्याख्या करने के ढंग हैं। व्याख्या के चार भेद ये हैं–छिन्नच्छेदनय, अच्छिन्नच्छेदनय, त्रिकनय, चतुर्नय।

च, ततस्त्रिभी राशिभिश्चितयन्तीति त्रैराशिकाः तन्मतेन सप्तापि परिकर्माणि उच्यन्ते ...एतदुक्तम्भवति पूर्वं सूरयो नयचिन्तायाम् त्रैराशिकमतमवलम्बमानाः सप्तापि परिकर्माणि त्रिविधयाऽपि नयचिन्तया चिन्तयन्तिस्म। नन्दी टीका ५६

(१) सव्वस्स पुव्वगयस्स सुयस्स अत्थस्सय सुयगत्ति सूयणत्ताउ वा सुया भणिया जहाभिहाणत्था। चूर्णि। सूत्रमपि–सूत्रयति कुदृष्टिदर्शनानीति सूत्रं। गो० जी० ३६१

(२) उज्जुसुयं, परिणयापरिणयं, बहुभंगिअं, विजयचरियं, अणंतरं, परंपरं, मासाणं, संजूहं, संभिण्णं, आहव्वायं, सोवत्थिअवत्तं, नंदावत्तं, बहुलं, पुट्ठापुट्ठं, विआवत्तं, एवंभूअं, दुआवत्तं, वत्तमाणप्पयं समभिरूढं, सव्वओभद्दं, पस्सासं, दुप्पडिग्गाहं।

छिन्नच्छेदनय (१) इस व्याख्या के अनुसार सूत्रों की अलग अलग व्याख्या की जाती है। एक पद का दूसरे पदके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रक्खा जाता। यह व्याख्या जैन परम्परा में चालू रही है।

अच्छिन्नच्छेदनय (२) इस व्याख्या के अनुसार सूत्रों का अर्थ आगे पीछे के श्लोकों के साथ मिलाकर किया जाता है। मतलब यह है कि यह सापेक्ष व्याख्या है। यह व्याख्या आजीवक मत के सूत्र के अनुसार अथवा उसके लिये है।

त्रिकनय (३) आजीवक मत की नयव्यवस्था के अनुसार जब इन सूत्रों की व्याख्या की जाती हैं तब वह त्रिकनयिक कहलाती है।

( ) यो नाम नयः सूत्रं छेदेन छिन्नमेवाभिप्रैति न द्वितीयेन सूत्रेण सह सम्बन्धमति।...... तथासूत्राण्यपि यन्नयाभिप्रायेण परस्परं निरपेक्षाणि व्याख्यान्तिस्म स छिन्नच्छेदे नयः। छिन्नो द्विधाकृतः भेदः पर्यन्तो येन स छिन्नच्छेदः...। इत्येतानि द्वाविंशतिः सूत्राणि स्वसमय सूत्रपरिपाट्यां स्वसमयवक्तव्यतामधिकृत्य सूत्र परिपाट्यां विवक्षितायां छिन्नछेदनायिकानि। नन्दी टीका ५६।

(२) इत्येतानि द्वाविंशतिः सूत्राणि आजीविक सूत्रपरिपाट्यां गोशालाप्रवर्तिताजीविक पाखण्डिमतेन सूत्र परिपाट्यां विवक्षितायामच्छिन्नच्छेद नयिकानि। इयमत्र भावना-अच्छिन्नच्छेदनयो नाम यः सूत्रं सूत्रान्तरेण सहाच्छिन्नमर्थतः सम्बद्धमभिप्रैति।

(३) इत्येतानि द्वाविंशतिः सूत्राणि त्रैराशिक सूत्रपरिपाट्यां त्रैराशिक नयमतेन सूत्र परिपाट्यां विवक्षितायां त्रिकनयिकानि। नन्दी टीका ५६

चतुर्नय (१) जैन मान्यता के अनुसार जब वह व्याख्या की जाती है तब वह चतुर्नयिक कहलाती है।

पहिली दो व्याख्याएँ सम्बन्धासम्बन्धकी अपेक्षासे भेद बतलाती हैं और पिछली दो व्याख्याएं नय-विवक्षा की दृष्टि से भेद बतलाती हैं। चारों में दो जैन हैं और दो आजीवक। इस प्रकार बाईस सूत्र चार तरह की व्याख्या (२) से अठासी हो गये हैं।

परिकर्म और सूत्रके इन वर्णनों से जैन सम्प्रदाय और आजीवक सम्प्रदाय के इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। अनेक इतिहासज्ञों का मत है कि आजीवक सम्प्रदाय जैन सम्प्रदाय में विलीन हो गया। उपर्युक्त विवरण से यह मत बहुत ठीक मालूम होता है। जैनियों ने आजीवकों के साहित्य को अपना लिया है। आजकल आजीवक साहित्य नहीं मिलता इसका एक कारण यह भी है।

सूत्र के व्याख्याभेदों से यह भी पता चलता है कि आजीवक साहित्य की व्याख्या जैनमतानुसार की जाने लगी थी। जो कुछ विरोध मालूम होता था वह अच्छिन्नच्छेदनय के अनुसार दूर

---

(१) इत्येतानि द्वाविंशतिः सूत्राणि स्वसमयसूत्रपरिपाट्यां-स्वसमयवक्तव्यतामधिकृत्यसूत्रपरिपाट्यां विवक्षितायां चतुर्नयिकानि-संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्रशब्दनयचतुष्टयार्पितानि संग्रहादिनय चतुष्टयेन चिन्त्यन्ते इत्यर्थः।

(२) इच्चेइआइं बावीसं सुत्ताइं छिन्नच्छेदनइआणि ससमयसुत्तपरिवाडीए, इच्चेइआइं बावीसं सुत्ताइं अच्छिन्नच्छेअनइआणि आजीविअ सुत्तपरिवाडीए, इच्चेइआइं बावीसं सुत्ताइं तिगणिआइं तेरासिअसुत्तपरिवाडीए, इच्चेइआइं बावीसं सुत्ताइं चउक्कनइआणि ससमयसुत्तपरिवाडीए, एवामेव सपुव्वावरेणं अट्ठासीई सुत्ताइं भवंतीतिमक्खायं। नन्दीसूत्र ५६।

कर दिया गया था। यह सापेक्ष व्याख्या समन्वयके लिये अत्युपयोगी है।

आजकल सात नय प्रचलित हैं। परन्तु नन्दीसूत्रके कथनानुसार पहिले चारही नय थे और आजीवकों में तीन नय थे। सम्भव है कि ये दोनों मत मिलाकर सात नय बने हों, और प्राचीन मत के ठीक ठीक नाम उपलब्ध न हों। कुछ भी हो परन्तु इतना निश्चित है कि वर्तमान की नय-व्यवस्था में आजीवकों का भी कुछ हाथ है। 'पहिले आचार्य आजीवक मत का अवलम्बन लेकर तीन प्रकार के नयों से विचारते थे'—नन्दीटीका का यह वक्तव्य बहुत महत्वपूर्ण है।

जन और आजीवकों में इतना अधिक आदान--प्रदान हुआ है और वह मिश्रण इतना अधिक है कि दोनों का विश्लेषण करना कठिन हो जाता है। अन्य सब दर्शनों की अपेक्षा आजीवकों के विषयमें जैनियों का आदर भी बहुत रहा है। जैनाचार्यों ने जैनेतर मतानुयायिओं को अधिक से अधिक पांचवें स्वर्ग तक पहुँचाया है जब कि आजीवकों को अन्तिम [बारह अथवा सोलह] स्वर्गतक पहुंचाया है। इसकें अतिरिक्त जैनाचार्यों के मतानुसार गोशाल अंगपूर्व पाठी थे। इन सब वर्णनों से स्पष्ट ही मालूम होता है कि जैनाचार्योंने गोशाल की निन्दा करते हुए भी उनके आजीवक सम्प्रदाय को अपना लिया है और उनके साहित्य से अपने बाह्य साहित्य (परिकर्म और सूत्र) को अलंकृत किया है, उनकी नयविवक्षा से अपने नयभेदों को बढ़ाया है और सापेक्ष व्याख्या से

आजीवकों के विचारों का और शास्त्रों का समन्वय किया है। इस से जैनाचार्यों की उदारता, समयज्ञता और समन्वयशीलता का पता लगता है। यद्यपि वह बहुत मर्यादित है, परन्तु उस समय को देखते हुए अधिक ही है। इससे यह भी मालूम होता है कि जिन-वाणी का वर्तमान रूप अनेक संगमों का फल है। यह हरिद्वार की गंगा नहीं, किन्तु गंगासागर की गंगा है।

पूर्वगत—जैन साहित्य का मूलसे मूल साहित्य यही है। ग्यारह अंग तथा दृष्टिवाद के अन्य भेद सब इसके बाद के हैं। सब से पहिले का होने से इसे पूर्व कहते हैं। नन्दीसूत्रके टीका-कार कहते हैं--

"तीर्थंकर [?] तीर्थरचना के समय में पहिले पूर्वगत का कथन करते हैं इसलिये उसको पूर्वगत कहते हैं। फिर गणधर उसको आचार आदि के क्रमसे बनाते हैं या स्थापित करते हैं। आचारांग को जो प्रथम स्थान मिला है वह स्थापना की दृष्टि से मिला है, अक्षर-रचना की दृष्टि से तो पूर्वगत ही प्रथम है।"

ग्यारह अंगमें जितना विषय है वह सब दृष्टिवाद में आ जाता

---

(१) इह तीर्थकरस्तीर्थप्रवर्तनकाले गणधरान् सकल श्रुतार्थावगाहनसमर्था-नधिकृत्य पूर्वं पूर्वगतंसूत्रार्थंभाषते ततस्तानि पूर्वाण्युच्यन्ते गणधराः पुनः सूत्ररचनां विदधतः आचारादिक्रमेण विदधति स्थापयन्ति वा। नन्विदं पूर्वापरविरुद्धं यस्मादादौ निर्युक्तावुक्तं-सव्वेसिं आयारो पढमो इत्यादि, सत्यमुक्तं, किन्तु तत्स्थापनामधिकृत्योक्तमक्षर रचनामधिकृत्य पुनः पूर्वं पूर्वाणि कृतानि ततो न कश्चित्पूर्वापरविरोधः। नन्दी टीका ५६।

है। ग्यारह अंगकी जो रचना है वह अल्पबुद्धियों के (१) लिये है। ग्यारह अंगोंमें सरलता से विषयवार विवेचन है। पूर्वगत के चौदह भाग हैं। उनका लक्षणसहित विवेचन यह है।

उत्पाद–पदार्थों की उत्पत्ति का वर्णन है। जगत कैसे बना, कौन पदार्थ कबसे है? आदि बातों का विवेचन इस पूर्वमें है।

अग्रायणीय—अग्र अर्थात् परिमाण (सीमा) उनका अयन अर्थात् जानना। इसमें द्रव्यादिका परिमाण बताया जाता है। दिगंबर सम्प्रदायके अनुसार इसमें सातसौ सुनय दुर्णय, पंच अस्तिकाय, छः द्रव्य, सात तत्व, नव पदार्थ का विवेचन है।

वीर्यप्रवाद—इसमें संसारी और मुक्तजीवों की तथा जड़ पदार्थों की शक्ति का वर्णन है।

अस्तिनास्तिप्रवाद—इसमें सप्तभंगी न्याय अर्थात स्याद्वाद सिद्धान्त का विवेचन है।

ज्ञानप्रवाद—इसमें ज्ञानके भेद-प्रभेद तथा उनके स्वरूप का विवेचन है।

सत्यप्रवाद—इसमें सत्यके भेद-प्रभेद तथा उनके स्वरूपका विवेचन है। साथ में असत्य आदि की भी मीमांसा है।

आत्मप्रवाद—इसमें आत्माका विवेचन है। आत्माके विषय में जो विविध मत हैं, उनकी आलोचना है।

---

(१) जइवि य भूयावाए सव्वस्स वओगयस्सओयारो। निज्जूहणा तहाविहु दुम्मेहे पप्प इत्थी ए। ५५१। विशेषावश्यक।

(२) गोम्मटसार जी० टी० ३६५।

कर्मप्रवाद—आत्मा के साथ जो एक अनेक प्रकार के कर्म [एक प्रकार के सूक्ष्म शरीर] लगे हुए हैं जिनसे किये हुए कार्योंका अच्छा बुरा फल मिलता है, उनका विवेचन है।

प्रत्याख्यान--इसमें त्याग करने योग्य कार्यों का (पापोंका) विवेचन है। यह आचार-शास्त्र है।

विद्यानुवाद--इसमें विद्याओं-मन्त्रतन्त्रों का वर्णन है।

कल्याणवाद--इसमें महर्द्धिक लोगों की ऋद्धि सिद्धियोंका वर्णन है जिससे लोग पुण्य पाप के फल को समझें। शकुन आदि का विवेचन भी इसमें बताया जाता है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में इस पूर्व का नाम 'अवन्ध्य' है। इस नामके अनुसार इस पूर्व में यह बताया गया है कि संयम आदि शुभकर्म और असंयम आदि अशुभ कर्म निष्फल नहीं जाते अर्थात् ये अवन्ध्य (अनिष्फल=सफल) हैं। इस प्रकार नाम और अर्थ भिन्न होने पर भी मतलब में कुछ अन्तर नहीं है। ऋद्धि आदि का वर्णन पुण्यपाप का फल बतलाने के लिये है।

प्राणवाद--इसमें अनेक तरह की चिकित्साओं का वर्णन है। प्राणायाम आदि का वर्णन और आलोचना है।

क्रियाविशाल--इसमें नृत्यगान छन्द अलंकार आदि का वर्णन है। पुरुषोंकी बहत्तर और स्त्रियों की चौसठ कलाओं का भी वर्णन है। और भी नित्य नैमित्तिक क्रियाओं का वर्णन है।

लोकबिन्दुसार--त्रिलोकबिन्दुसार भी इसका नाम है। इसमें सर्वोत्तम वस्तुओं का विवेचन है। नन्दीसूत्र के टीकाकार कहते हैं

कि जिस प्रकार अक्षर के ऊपर बिन्दु श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार जगत् और श्रुतलोक में जो सार अर्थात् सर्वोत्तम है वह लोक-बिन्दुसार (१) है। परन्तु नन्दी के इस वक्तव्य से इस पूर्व के विषय का ठीक ठीक पता नहीं लगता। तत्त्वार्थ राजवार्त्तिककार [२] कहते हैं कि 'इसमें आठ व्यवहार, चार बीज, परिकर्मराशि-क्रियाविभाग इस प्रकार सर्वश्रुतसंपत् का उपदेश है।' इससे मालूम होता है कि इसमें गणित की मुख्यता है, और इसमें भूगोल खगोल आदि का भी वर्णन आ गया है।

यद्यपि दृष्टिवाद के प्रथमभेद परिकर्म में भी इस का वर्णन है तथापि वहाँ पर वह उतना ही है जिससे पूर्व साहित्य में प्रवेश हो सके। यहाँ पर कुछ विशेषरूप में है।

पिछले पाँचपूर्व लौकिक चमत्कारोंके लिये विशेष उपयोगी हो सकते हैं। ऐसा मालूम होता है कि इन पूर्वों को पढ़ने से अनेक मुनि ख्याति लाभ पूजा आदि के प्रलोभन में फँसकर भ्रष्ट हुए थे, इसलिये मिथ्यादृष्टियों को पिछले पाँच पूर्व नहीं पढ़ाये जाते। मिथ्यादृष्टियों को ग्यारह अंग नव पूर्व तक का ही ज्ञान हो सकता है, इस प्रकार जो जैनशास्त्रों की मान्यता है उस का यही रहस्य है। यह मतलब नहीं है कि मिथ्यादृष्टियों में पिछले पाँच पूर्व पढ़ने की

---

(१) लोके जगतिश्रुतलोके च अक्षरस्योपरि बिन्दुरिवसारं सर्वोत्तमं सर्वाक्षरसन्निपातलब्धि हेतुत्वात् लोकबिन्दुसारं। सूत्र ५६

(२) यत्राष्टौ व्यवहाराश्चत्वारि बीजानि परिकर्मराशिः क्रियाविभागश्च सर्वश्रुतसम्पदुपदिष्टा तत्खलु लोकबिन्दुसारं। १-२०-१२

योग्यता नहीं है। योग्यता होने पर भी दुरुपयोग होने के भयसे उन्हें पिछले पूर्व पढ़ाना बन्द कर दिया गया था।

अनुयोग

इसमें जैनधर्म का कथा-साहित्य है। श्वेताम्बर ग्रन्थों में इसको अनुयोग शब्द से कहा है, जब कि दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रंथ इसे प्रथमानुयोग कहते हैं। अर्थ में कुछ अन्तर नहीं है। श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार इसका नम्बर दृष्टिवादके भेदों में चौथा है; जब कि दिगम्बर ग्रन्थों में तीसरा। ये मतभेद कुछ महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, न इनके निर्णय करने के साधन ही उपलब्ध हैं। पठन-क्रमके अनुसार परिकर्म के बाद सूत्र पढ़ाना उचित है। बाद में पूर्व या प्रथमानुयोग कोई भी पढ़ाया जा सकता है। प्रथमानुयोग की आवश्यकता धर्म के स्वरूप को स्पष्ट और व्यावहारिक रूप में समझनेके लिये है। इसलिये कोई सूत्रके बाद ही प्रथमानुयोग पढ़े तो कोई हानि नहीं है, अथवा कोई सूत्रके बाद पूर्व पढ़े और पूर्व के बाद प्रथमानुयोग पढ़े तो भी कोई हानि नहीं है। इसीलिये कहीं तीसरा नम्बर और कहीं चौथा नम्बर दिया गया है।

अनुयोग का अर्थ है अनुकूल सम्बन्ध। हरएक सम्प्रदाय का कथासाहित्य अपने सिद्धान्त के पोषण और प्रचार के लिये बनाया जाता है। कथा चाहे सत्य हो या कल्पित, उसका चित्रण इसी उद्देश्य को लेकर किया जाता है। जैनाचार्य इस बात को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं कि कथाएँ घटित भी हैं, और

कल्पित भी हैं। समवायांग [१] में णायधम्मकहा का परिचय देते हुए कहा है कि 'इन अध्ययनों में आयी हुई कथाएँ चरित [घटित= सत्य] भी हैं और कल्पित भी।' इसलिये इन्हें इतिहास समझना भूल है। वास्तव में ये अनुयोग हैं- ये धर्मशास्त्र हैं। अधिकांश कथाएँ कल्पित और अर्धकल्पित हैं। जैन कथासाहित्य में या अन्य कथासाहित्य में अगर इतिहास का बीज मिलता हो तो स्वतन्त्रता से उसकी परीक्षा करके ग्रहण करना चाहिये; बाकी इन कथाओं को कथा ही समझना चाहिये, न कि इतिहास। इस बात के विस्तृत विवेचन के पहिले इसके भेदों का वर्णन करना उचित है।

दिगम्बर ग्रन्थों में प्रथमानुयोग के भेद नहीं किये गये हैं, किन्तु श्वेताम्बर [२] ग्रन्थों में इसके दो भेद किये गये हैं। मूल प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग। मूल प्रथमानुयोग में तीर्थंकर और उनके सहयोगी परिवार का विस्तृत वर्णन है। और गण्डिकानुयोग में एक सरीखे चरित्रवाले या अन्य किसी तरह से समानता रखने वाले लोगों की कथाएं हैं। जैसे-जिसमें कुलकरों की कथा है वह कुलकर गण्डिका, जिसमें तीर्थंकरों की कथा है वह तीर्थंकर गण्डिका इसी प्रकार चक्रिवर्त्ति गण्डिका, दसार गण्डिका, बलदेवगण्डिका वासुदेव गंडिका, गणधर गंडिका, भद्रबाहु गंडिका, तपः कर्म-गंडिका, हरिवंशगण्डिका आदि।

---

(१)... एगूणवीसं अज्झयणा ते समासओ दुविहा पण्णता। तं जहा— चरिता कप्पिया य।

(२) अणुनोगे दुविहे पण्णते, तं जहा मूल पढमाणुओगे गंडिआणुओगेय।

गन्ने आदि की एक गांठसे दूसरी गांठ तकके हिस्से को गंडिका [१] कहते हैं। 'पोर' या 'गंडेरी' भी इसके प्रचलित नाम हैं। गन्ने की एक पोर में रसकी कुछ समानता और दूसरी पोर से कुछ विषमता होती है। इसी प्रकार एक एक गंडिका की कथाओं में किसी दृष्टि से समानता पाई जाती है जो समानता दूसरी गंडिका की कथाओं के साथ नहीं होती।

ऊपर के भेद प्रभेद हमारे साम्हने कुछ प्रश्न उपस्थित करते हैं जिससे हमारे कथासाहित्य पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है:—

[क] मूल प्रथमानुयोग में भी तीर्थंकर-चरित्र है और गण्डिकानुयोग में जो तीर्थंकर-गंडिका है उसमें भी तीर्थंकर-चरित्र है, तब दोनों में क्या अन्तर है?

[ख] मूल प्रथमानुयोग यह नाम किस अपेक्षा से है? क्या गंडिकानुयोग मूल नहीं है? एक भेद के साथ हम 'मूल' विशेषण लगाते हैं. और दूसरे के साथ नहीं लगाते—इस भेद का क्या कारण है?

[ग] भद्रबाहुगण्डिका का काल क्या है? क्या महात्मा महावीर के समय में भी यह गंडिका होसकती है? परन्तु उस समय तो भद्रबाहु का पता भी न था। यदि यह पीछेसे आई तो इसका यह अर्थ हुआ कि हमारा दृष्टिवाद अंग भी धीरे धीरे बढ़ता रहा है और महात्मा महावीर के पीछे इन गंडिकाओं की रचना हुई।

---

(१) इक्ष्वादीनां पूर्वापरपर्वपरिच्छिन्नो मध्यभागो गण्डिका। गण्डिकेव गण्डिका एकार्थाधिकारा ग्रन्थपद्धतिरित्यर्थः। नन्दीसूत्र टीका ५६।

उपर्युक्त समस्याओं की जब हम पूर्ति करने जाते हैं, तब हमें कथासाहित्य के विषय में एक नया प्रकाश मिलता है। मूल प्रथमानुयोग में जो तीर्थंकर-चरित्र है वह महात्मा महावीर का जीवन चरित्र है, सत्य है, और मौलिक है। इसीलिये उसे मूल-प्रथमानुयोग कहा है। म. महावीर के जीवन के साथ उनके शिष्यों का, और भक्त राजाओं का वर्णन भी आजाता है। यह वर्णन ही अन्य गंडिकाओं के लिये मौलिक अवलम्बन बनता है। महात्मा महावीर का जीवन-चरित्र तो मूलप्रथमानुयोग कहलाया किन्तु उस जीवन के आधार पर जब अन्य तीर्थंकरों की कथाएं बनाईं गईं तब वे तीर्थंकर-गण्डिका कहलाईं। इसी प्रकार उनके गणधरों के चरित्र के आधार पर जो प्राचीन गणधरों की कल्पना की गई वह गणधर-गंडिका कहलाई। संक्षेप में कहें तो मूलप्रथमानुयोग ऐतिहासिक दृष्टि से बनाया गया था, और गंडिकानुयोग उसका कल्पित, पल्लवित और गुणित रूप है। यही कारण है कि एक तीर्थंकर के जीवन चरित्र में चौबीस का गुणा करने से चौबीस का जीवन चरित्र बन जाता है। यही बात अन्य चरित्रों के बारे में भी कही जा सकती है। यह बात फिर दुहराई जाती है कि मूलप्रथमानुयोग मौलिक और गंडिकानुयोग कल्पित है।

'भद्रबाहु गण्डिका' इस नाम से पता चलता है कि जब तक दृष्टिवाद व्युच्छिन्न नहीं हुआ तबतक उसमें कुछ न कुछ मिलता ही रहा। अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे इसलिये भद्रबाहु तकसे सम्बन्ध रखनेवाले परिवर्तन आदि, अंग-साहित्य में शामिल

होते रहे हैं। इस प्रकार कथासाहित्य बढ़ता ही रहा है और यह बढ़ना स्वाभाविक है।

मालूम होता है कि म. महावीर के समय में जैन कथा-साहित्य बहुत थोड़ा था। दूसरे अंग पूर्वों के पदों की संख्या जब लाखों और करोड़ों तक है तब प्रथमानुयोग की पदसंख्या सिर्फ़ पांच हज़ार है। इससे कथासाहित्य की संक्षिप्तता अच्छी तरह मालूम होती है।

मैं पहिले कह चुका हूं कि दृष्टिवाद अंग से बाकी अंग रचे गये हैं। इस प्रकार बाकी अंग दृष्टिवाद के टुकड़े ही हैं। ऐसी हालतमें यह बात निःसंकोच कही जा सकती है कि दृष्टि-वाद के प्रथमानुयोग में से ही अन्य अंगों का कथासाहित्य तैयार हुआ है। ऐसी हालत में अंगों का कथासाहित्य पांच हज़ार पदों से भी थोड़ा होना चाहिये। परन्तु अंगों का कथासाहित्य लाखों पदों का है, यह बात उवासगदसा, अंतगड़, अणुत्तरोववाइयदसा, विपाक-सूत्र आदि की पदसंख्यासे मालूम हो जाती है। इससे मालूम होता है कि दृष्टिवाद के प्रथमानुयोग को खूब ही बढ़ाचढ़ाकर अन्य अंगों का कथासाहित्य तैयार किया गया है और अंगों के नष्ट हो जाने के बाद भी कथासाहित्य बढ़ता रहा है यहां तक कि वह वीरनिर्वाण के दोहज़ारवर्ष बाद तक तैयार होता रहा है।

कथासाहित्य के रचने में और बढ़ाने में कैसी कैसी सामग्री ली गई है, उसके हम चार भाग कर सकते हैं।

१—म० महावीर और उनके समकालीन तथा उनके पीछे होनेवाले अनेक व्यक्तियों के चरित्र। मूलप्रथमानुयोग का वर्णनीय विषय यही है।

२--मूलप्रथमानुयोग के समान अनेक कल्पित चरित्र। जैसे चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव वासुदेव, नव प्रतिवासुदेव आदि के चरित्र। ये चरित्र गण्डिकानुयोग में आते हैं।

३ धर्म का महत्व बतलाने के लिये या अनुकरण करने की शिक्षा देने के लिये अनेक कल्पित कहानियाँ। जैसे णायधम्म-कहा में रोहिणी आदि की कथाएं अथवा विपाकसूत्र की कथाएं।

४ लोक में प्रचलित कथाओं को अथवा दूसरे सम्प्रदाय की कथाओं को अपनाकर उन्हें अपने ढांचे में ढालकर परिवर्तित की गई कथाएं। जैसे रामायण, महाभारत की कथाएं, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण आदि में परिवर्तित करके अपनालीगई हैं। विष्णु-कुमार मुनि की कथा भी इसी तरह की कथा है। अनेक ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र भी परिवार्तित करके अपना लिये गये हैं।

इन चार श्रेणियों में से पहिली श्रेणी ही ऐसी है जो कुछ ऐतिहासिक महत्व रखती है। बाकी तीन श्रेणियाँ ऐतिहासिक दृष्टिसे सत्यसे कोसों दूर हैं। हां, वे धार्मिक दृष्टि से अवश्य सत्यके पास हो सकती हैं। फिर भी, हमें यह भूल न जाना चाहिये कि हमारा समस्त कथासाहित्य ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं लिखा गया है। उस की जितनी उपयोगिता है वह धार्मिक दृष्टिसे ही है।

अपने कथासाहित्य का इस प्रकार श्रेणीविभाग एक श्रद्धालु भक्त के हृदय को अवश्य आघात पहुंचायेगा, क्योंकि श्रद्धालु हृदय हर एक छोटी से छोटी और अस्वाभाविक कथा को ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य, सर्वज्ञकथित समझता है। और ख़ास कर एक संप्र-

दाय भक्त व्यक्ति यह बात सुनने को तैयार नहीं होता कि हमारा कथासाहित्य दूसरों के कथासाहित्य के आधार से तैयार हुआ है।

परन्तु जैन कथासाहित्य के निरीक्षण से साफ़ माळूम होता है कि इसका बहुभाग कल्पित, तथा दूसरों की कथाओं को लेकर तैयार हुआ है।

परन्तु पुराणों में 'पउमचरिय' सब से अधिक पुराना है। उसीके आधार पर संस्कृत पद्मपुराण बना है जो कि पउमचरिय के छायाके समान है। जैन संस्कृतपुराणों में यह सब से पुराना है। इनके पढ़ने से साफ़ माळूम होता है कि ये पुराण रामायण के आधार पर बनाये गये हैं और रामायण की कथावस्तुको लेकर उसे जैनधर्म के अनुकूल वैज्ञानिक या प्राकृतिक रूप दिया गया है।

द्वितीय उद्देश में राजा श्रेणिक विचार (१) करते हैं—

'लौकिक शास्त्रों में यह सुनते हैं कि रावण वग़ैरह राक्षस

---

(१) सुव्वंति लोयसत्थ रावणपमुहाय रक्खसा सव्व। वसलोहियमंसाई-भक्खण-पाणे कयाहारा। १०७। किर रावणस्स भाया महाबलो नाम कुम्भयण्णोत्ति। छम्मासं विगयभओ सेज्जासु निरन्तरं सुयइ। १०८। जइ वि य गएसु अंगं पेल्लिज्जइ गरुय पव्वय समेसु तेल्लघडेसु य कण्णा पूरिज्जन्ते सुयंतस्स। १०९। पडु पडहतूरसद्दं न सुणइ सो सम्मुहं पि वज्जन्त। न य उट्ठेइ महप्पा सेज्जाए, अपुण्ण कालम्हि। ११०। अह उट्ठिओ विसंतो असण महाघोर परिगयसरीरो। पुरओ हवेज्ज जो सो कुंजरमहिसाइणो गिलइ १११। काऊण उदर भरणं सुरमाणुस कुंजराइ बहुएसु। पुणरवि सेज्जारूढो भयरहिओ सुयइ छम्मासं ११२। अन्नापि एव सुव्वइ जह इंदो रावणेण संगामे। जिणिऊण नियलबद्धो लंका नयरी समाणीओ। ११३।

थे, और वे रक्त मांस, पीप वगैरह का भोजन करते थे। रावण का भाई कुम्भकर्ण छः महीने तक निरन्तर सोता था, भले ही हाथियों से उसका मर्दन कराओ या तेल के घड़ों से उसके कान भर दो। सामने बजते हुए बाजों को भी वह नहीं सुनता था, न छः महीने के पहिले उसकी नींद टूटती थी। उठ करके भूखसे व्याकुल हो कर साम्हने आये हुए हाथी भैंसे आदि को निगल जाता था। इस प्रकार देव, मनुष्य, हाथी आदि को खाकर वह फिर छः महीने के लिये सो जाता था। और भी सुनते हैं कि रावण ने इन्द्रको बेड़ियों से जकड़ा था और लंका नगरी में ले आया था। परन्तु जो इन्द्र जम्बूद्वीपको भी उठा सकता है, उस इन्द्रको इस तीन लोक में कौन जीत सकता है, जिसके पास ऐरावत सरीखा गजेन्द्र है, कभी व्यर्थ न जाने वाला जिस का वज्र है, जिसके चिन्तनमात्र से दूसरा भस्म हो सकता है? यह तो ऐसी ही बात है जैसे कोई कहे कि—मृगने शेर को मारडाला, कुत्तेने हाथी को परास्त कर दिया! कवियों ने यह सब औंधी रामायण रचदी है। यह सब मिथ्या है, युक्ति से विरुद्ध है। पंडित लोग कभी इस पर विश्वास नहीं रखते।

को जिणिऊण समत्थो इंद ससुरासुरे वि तेलोंके। जो सागरपेरन्तं जम्बूदीवं समुद्धरइ। ११४। एरावणो गइंदो जस्स य वज्जं अमोहपहरत्थं। तस्स किर चिंतिएण वि अन्नो वि भवेज्ज भसिरासी। ११५। सीहो मयेण निहओ साणेण य कुंजरी जहा भग्गो। तह विवरीय पयत्थं कईहि रामायणं रइयं। ११६। अलियंपि सव्वमेय उववत्ति विरुद्ध पच्चय गुणेहिं। न य सद्दहन्ति पुरिसा हवंति जे पंडिया लोए। ११७।

दूसरे दिन राजाने गौतम गणधर से पूछा (१)

"हे महायश ! कुशास्त्रवादियोंने बहुत उल्टी बातें फैला रक्खीं हैं; मैं उनको साफ़ सुनना चाहता हूं। हे महायश ! यदि रावण था और इन्द्रके समान शक्तिशाली था तो वानर पशुओंने उसे युद्ध में कैसे जीतलिया ? रामने सोने का मृग जंगल में मार डाला, सुग्रीव की सुतारा के लिये छिप कर वाली को मारा ! स्वर्ग में जाकर युद्ध में देवेन्द्रको जीतकर उसे बेड़ियों से जकड़ कर कैद-खाने में रक्खा ! सब पुरुषार्थ और शास्त्रों में कुशल कुम्भकर्ण छः महीने सोता था ! बन्दरोंने समुद्र में पुल कैसे बाँधा ? भगवन् ! कृपाकर असली बात बताइये जो युक्तियुक्त हो। मनरूपी प्रकाश से मेरे संदेहरूपी अन्धकार को नष्ट कीजिये !'

तब गणधरने कहा 'रावण राक्षस (२) नहीं था, न वह मांस खाता था। ये सब बातें मिथ्या हैं, जो कि मूर्ख कुकवि कहते हैं।

---

(१) पउमचरियं महायस अहयं इच्छामि परिफुडं सोउं । उप्पाइया पसिद्धी कुसत्थवादीहि विवरीया। ३–८। जइ रावणो महायस निसायरो सुर वरो व्व अइचरिओ। कह सो परिहूआ च्चिय वाणर तिरियेहि रणमज्झे । ९ । रामेण कणयदेहो सरेण भिन्नो मओ अरण्णम्मि। सुग्गीवसुतारत्थं छिद्देण विवाइओ वाली। १० । गन्तूण देवनिलयं सुरवइ जिणिऊण समरमज्झम्मि दढकठिण-निलयबद्धो पवेसिओ चार गेहम्मि। ११। सव्वत्थ सत्थकुसलो छम्मासं सुवइ कुम्भकण्णावि कह वाणरेहि बद्धो सेउच्चिय सायरवरम्मि । १२। भयवं कुणह पसायं कहेह तच्चत्थ हेउसंजुत्तं। संदेहअन्धकारं नाणुज्जोएण नासेह ।१३।

(२) नय रक्खसो त्ति भण्णइ दसाणणो णेय आमिसाहारो। अलियं ति सव्वमेयं भणति जं कुकइणो मूढा। ३–१५।

ठीक ऐसा ही वर्णन रविषेण कृत पद्मपुराण में (१) है जिसके श्लोक पउमचरिय की छाया कहे जा सकते हैं।

दोनों ग्रंथों के इस कथन से यह बात साफ मालूम होती है कि जब यह कथा जैनशास्त्रों में आई होगी उसके पहिले अन्य लोगों में वह रामकथा प्रचलित थी जो कि आजकल रामायण में पाई जाती है। परन्तु जैनाचार्यों को वह कथा युक्तियुक्त नहीं मालूम हुई, इसलिये उनने यह कथा बदलकर जैन साँचेमें ढली हुई रामकथा बनाई।

ज्यों ज्यों मनुष्य का विकास होता जाता है त्यों त्यों कथासाहित्य का भी होता जाता है। आज का युग भूत, पिशाच आदि की अलौलिक घटनाओं पर विश्वास नहीं करता, इसलिये आजकल ऐसी कहानियाँ भी नहीं लिखी जातीं। कथाएं लोकरुचि और लोकविश्वासके अनुसार लिखी जाती हैं। वैज्ञानिक युगके समान कथाएं भी वैज्ञानिक होती जाती हैं।

प्रकृति के रहस्य का ज्ञान, विज्ञान है। साधारण मनुष्य जिन घटनाओं को अद्भुत समझता है, वैज्ञानिक उसके कार्य-कारण सम्बन्ध का पता लगाकर उसे एक नियम के अन्तर्गत सिद्ध करता है। यही नियमज्ञान, विज्ञान है। इसी विज्ञान के सहारे कथाओं का भी विकास हुआ है।

---

(१) विस्तारभय से पद्मपुराण के श्लोक उद्धृत नहीं किये जाते। विशेष जिज्ञासुओं को द्वितीय पर्व के २३० वें श्लोक से २४८ तक, और तृतीय पर्व के १७ वें श्लोक से २७ वें तक देखना चाहिये।

एक युग वह था जब लोग अपने पूर्वजों को देव-दैत्यों के समान महान समझते थे। उनमें अनेक अद्भुत शक्तियाँ मानते थे और व्यक्तिविशेष का ऐसा अद्भुत चित्रण करते थे जिसे कि विचारशक्ति सहन नहीं कर सकती। उस युग का मनुष्य हाथियों को खा जाता था, नाक की श्वास से पहाड़ों को उड़ा देता था, उसके दस दस मुख और सैकड़ों तक हाथ होते थे। यह बिलकुल अवैज्ञानिक युग था।

दूसरे युग में हम कुछ विज्ञानके दर्शन पाते हैं। इस युग में अनेक विचित्र घटनाएं असम्भव कहकर दूर कर दी जाती हैं। कुछ सुसंस्कृत कर दी जाती हैं, कुछ एक नियम के आधीन कर दी जाती हैं। जैसे कुम्भकर्ण हाथियों को खा जाता था, छः महीने तक सोता था, ये बातें असम्भव कहकर उड़ादी गई हैं। हनुमान वगैरह बंदर थे, यह सब ठीक नहीं; वे वानरवंशी राजा थे, उन की ध्वजामें वानर का चिह्न था, राक्षस भी मनुष्यों के एक वंश का नाम था, ऋक्ष आदि भी ध्वजाचिह्नों के कारण कहलाते थे। रावण के दस सिर नहीं थे, किन्तु वह एक हार पहिनता था जिस में उसके सिर का प्रतिबिम्ब पड़ता था—इससे वह दशमुख कहलाने लगा। यह सब घटनाओं का सुसंस्कार था। राक्षस लोग विशालकाय थे, यह ठीक है परन्तु अकेले राक्षस ही विशालकाय न थे किन्तु उस युगके सब मनुष्य विशालकाय थे, राम और सीता भी विशालकाय थे। अन्य था छोटीसी सीता को रावण क्यों चुराता? सीता का शरीर इतना बड़ा अवश्य होना चाहिये जिससे रावण पत्नी बनाने के लिये चुरासके। इस प्रकार कुछ घटनाएं नियमा-

धीन करदीं गई । जैनियों में जो उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी-काल की कल्पना की गई है उसका मूल, कथासाहित्य के इसी वैज्ञानिक सुधार में है । प्रथम युगमें मनुष्य और देव बहुत पास पास हैं। इनमें परस्पर सम्बन्ध होता है, एक दूसेर पर विजय भी प्राप्त करते हैं । द्वितीय युगमें देवों का स्थान तो वैसाही अद्भुत बना रहता है, परन्तु मनुष्यों का स्थान छोटा हो जाता है । विद्याधर-मनुष्यों में देवों के समान कुछ अद्भुतताएँ रह जाती हैं, परन्तु देवों से बहुत कम । शरीर आदि में सब मनुष्य प्रायः समान होते हैं । बलवान होने से कोई मनुष्य पहाड़ जैसा नहीं माना जाता ।

तीसरे युगमें मनुष्य तो बिलकुल मनुष्य हो जाता है, परन्तु प्रेमवश, भक्तिवश, कृपावश देव उसे सहायता पहुंचाते हैं ।

चौथे युगमें देवों का सम्बन्ध टूट जाता है । प्रकृति के साधारण नियमानुसार सब कार्य होने लगते हैं । यह आधुनिक युग है ।

कथासाहित्य के इन चार युगों में जैन पुराणों का युग दूसरा है । उनमें प्रथम युगकी कथाएं भी दूसरे युगके अनुरूप चित्रित की गई हैं । यह कोई इतिहास नहीं है, किन्तु प्रथम युग की कथाओं का अर्धवैज्ञानिक संस्करण है । यही कारण है कि प्रथम युग की कथाओं से द्वितीय युगकी कथाएं कुछ विश्वसनीय मालूम होती हैं ।

द्वितीय युगके संस्करण में जैनियोंने कथाको जो जैनीरूप दिया है, उसमें कथाको रूपान्तरित तो किया ही है—जैसे, कैलाश उठाने की घटना जो कि शिवके साथ सम्बन्ध रखती है

में रहे। पद्मपुराण के अनुसार राम अयोध्या में रहे, भरत ने तुरंत दीक्षा लेली। लवकुश वगैरह का जिकर भी उत्तर पुराण में नहीं है। लक्ष्मण की अचानक मृत्यु नहीं हुई, किन्तु रोगसे मरे। रामचन्द्रने तुरन्त संस्कार कर दिया, पद्मपुराण के अनुसार छः महीने तक पागल के समान नहीं घूमते रहे।

दो जैनाचार्य एक ही कथा को कितने विचित्र ढंगसे चित्रित करते हैं इसका यह अच्छा से अच्छा नमूना है। इससे हमारे कथा-साहित्य का रहस्योद्घाटन हो जाता है। जो लोग यह समझते हैं कि हमारे आचार्य महात्मा महावीर के कथन को ही ज्यों का त्यों लिखते हैं, वे नयी कल्पना नहीं करते, उनको उपर्युक्त कथा पर विचार करना चाहिये। और जब 'आचार्य नयी कल्पना करते हैं' यह सिद्ध हो जाय तब आचार्यों की प्रत्येक बात को महात्मा महावीर की बाणी न समझना चाहिये।

उत्तर पुराण की कथा पर बौद्धरामायण का प्रभाव स्पष्ट ही मालूम होता है। हिन्दू और जैनग्रंथों में अयोध्या को जितना महत्व प्राप्त है उतना महत्व बौद्धसाहित्य में बनारस को प्राप्त है। इसलिये बौद्धसाहित्य में रामायण का स्थान भी बनारस है। उत्तरपुराणकार ने वैदिक रामायणकी अपेक्षा बौद्ध रामायण को अधिक अपनाया है। कथा-साहित्य के इस भेद से हम दो में से किसी भी आचार्य को दोष नहीं दे सकते। इसमें उन आचार्यों का दोष नहीं किन्तु उन लोगों का दोष है जो प्रथमानुयोग को इतिहास समझते हैं। आचार्यों ने धर्म-शिक्षा के लिये काव्य रचना की। उनकी रचना

को कोई इतिहास समझ कर बैठ जाय या धोखा खाय तो बेचारा आचार्य क्या करे ? कवि तो काव्य का विधाता होता है, उसे मनमानी सृष्टि करने का अधिकार है। जो उसके इस अधिकार को नहीं समझते और ठोक पीटकर उसे इतिहास-निर्माता की कठोर कुर्सीपर बिठाते हैं, वे कविसे कुछ काम नहीं ले सकते; वे अच्छी तरह धोखा खाते हैं।

ये कवि कथाकार इतिहास की कितनी अवहेलना करते हैं, इस पर अगर विस्तार से लिखा जाय तो एक पोथा बन जाय। सब सम्प्रदायों के कथा-साहित्य की अगर आलोचना की जाय तो यह कार्य भी एक समर्थ विद्वान की आजीवन तपस्या माँगता है। यहां न तो इतना समय है, न इतना स्थान। यहां तो सिर्फ़ दिशा-निर्देश किया गया है। स्पष्टता के लिये एक उदाहरण और दिया जाता है।

आराधना-कथा-कोष में ७२ वीं कथा चाणिक्यकी है। चाणिक्य ब्राह्मण था, उसने नन्द का नाश किया था, इसके लिये नन्दके द्वेषी मन्त्रीने उसे निमन्त्रित कर भोजमें अपमानित किया था, आदि कथा प्रसिद्ध है। आराधनाकथाकोषमें चाणिक्य का चित्रण इसी तरह है जिससे मालूम होता है कि यह वही प्रसिद्ध चाणिक्य है, न कि कोई दूसरा चाणिक्य।

कथाकोष में यह कहानी ज्यों की त्यों है, परन्तु पीछे से चाणिक्य महाशय जैनमुनि हो गये हैं, उनके पांचसौ शिष्य हुए हैं, उनके ऊपर चाणिक्य के एक शत्रु [सुबन्धु] ने उप-र्ग

किया है अर्थात् चाणिक्य के साथ उस मुनि संघ को जला डाला है। तब सब के सब मुनि आठ कर्मों को नाश कर मुक्त (१) हुए हैं।

कवि महाशय आखिर कवि हैं, वे इतिहास की ज़रा भी पर्वाह नहीं करते। वे इस बात को भूल जाते हैं कि जम्बूस्वामी के बाद किसी भी व्यक्ति को यहां केवलज्ञान नहीं हुआ और चाणिक्य का समय जम्बूस्वामी के सौ वर्ष बाद है, तब ये ५०० मुक्तिगामी कहां से आ गये ! महावीर के पीछे सिर्फ़ तीन ही केवली हुए हैं, सो भी ६२ वर्ष के भीतर। फिर क़रीब पौने दो सौ वर्ष बाद इकदम इतने केवलियों का वर्णन करना कवि-कल्पना नहीं तो क्या है !

यह तो एक नमूना है परन्तु हमारा कथा-साहित्य, ही नहीं किन्तु सभी सम्प्रदायों का कथा-साहित्य, ऐसी घटनाओं से भरा पड़ा है।

बात यह है कि लेखक का कोई लक्ष्य होता है। कथा तो उसका सहारा मात्र है। जब लेखक अपने धर्म को सार्वधर्म सिद्ध करना चाहता है, तब वह सभी धर्मोंके पात्रों को अपने धर्म में चित्रित करता है। जब वह अपने धर्म और सम्प्रदायको प्राचीन सिद्ध करना चाहता है, तब वह प्रायः सभी अन्य सम्प्रदायों के संस्थापकों और संचालकों को आधुनिक और अपने धर्म से भ्रष्ट

---

(१) पापी सुबुन्धु नामा च मंत्री मिथ्यात्वदूषितः। समीपे तन्मुनीन्द्राणां कारीषाग्निं कुधीर्ददौ। ७३। ४१। तदा ते मुनयो धीराः शुक्लध्यानेन संस्थिताः हत्वा कर्माणि निःशेषं प्राप्ताः सिद्धिं जगद्धितां। ७३-४२।

चित्रित करता है। अगर वह शूद्रों को समानाधिकार देना चाहता है तब वह ऐसी कथाएं बनाता है जिनमें शूद्रोंने तप किया है, धर्म का पालन किया है, स्वर्ग मोक्ष पाया है। कवि का यह आशय ही कथा का प्राण होता है। जो लोग कथा को इतिहास मानते हैं, वे कवि के आशय की अवहेलना करते हैं और सत्यसे वंचित रहते हैं। यह याद रखना चाहिये कि इतिहास आदर्श नहीं होता, किन्तु कथा आदर्श का प्रदर्शन करने के लिये बनाई जाती है। इसी क्षेत्र में उसकी उपयोगिता है और इसी दृष्टि से वह सत्य या असत्य होती है।

मेरे इस वक्तव्य का समर्थन भावदेव कृत पार्श्वनाथ चरित के निम्न लिखित वक्तव्य [१] से भी होता है।

"उदाहरण दो तरह के हैं, चरित और कल्पित। जिस प्रकार भातके लिये ईंधन की आवश्यकता है उसी प्रकार अर्थ की सिद्धि के लिये अर्थात् दूसरे को समझाने के लिये ये उदाहरण हैं। अथवा काल अनादि है, जीवों के कर्म भी विचित्र हैं, इसलिये ऐसी कौनसी घटना है जो इस संसार में संभव न हो।"

ऊपर के वक्तव्य से कथानकों का ऐतिहासिक मूल्य अच्छी तरह से समझा जा सकता है।

---

(१) चरितं कल्पितं चापि द्विधोदाहरणं मतम्।
परस्मिन् साध्यमानार्थस्यौदनस्य यथेन्धनम्।१७।
अथवोक्तम्—
अनादि निधने काले जीवानां चित्रकर्मणां।
संधानं हि तन्नास्ति संसारे यन्न संभवेत्। १८।

समन्तभद्रसूरिने भी प्रथमानुयोग को अर्थाख्यान [१] कहा है। अर्थाख्यान अर्थात् अर्थ का आख्यान। इससे भी मालूम होता है कि प्रथमानुयोग धर्म के अर्थ का व्याख्यान है न कि इतिहास।

धर्मकथाओं में जो थोड़ी बहुत ऐतिहासिक सामग्री मिलती है उसको निकालने के लिये कठोर परीक्षा की आवश्यकता है। सुवर्ण में अगर थोड़ा भी मैल हो तो उसे धधकते अंगारमें डालने की ज़रूरत होती है। कपड़े में अगर थोड़ासा भी मैल हो तो उसे पछाड़ पछाड़ कर ठिकाने लाना पड़ता है। ऐसी हालत में भोले आदमी तो सुनार और धोबी को निर्दय ही कहेंगे परन्तु जानकार उन्हें चतुर तथा विवेकी कहेंगे।

जब शास्त्रों की आलोचना की जाती है तब भी इसी तरह विवेकपूर्ण कठोरता से काम लेना पड़ता है। भोले भाई उस समालोचक को कृतघ्न, निर्दय, धर्मभ्रष्ट आदि समझते हैं, परन्तु जानकार उसके मूल्य को जानते हैं, और जानते हैं कि सत्यकी प्राप्ति के लिये ऐसा करना अनिवार्य है। कथासाहित्य की परीक्षा किस ढंगसे करना चाहिये, और उसके ऐतिहासिक सत्यासत्य को कैसे समझना चाहिये, इस विषय की कुछ सूचनाएं यहां उदाहरणपूर्वक लिखी जाती हैं।

परीक्षा का ढंग—प्रथमानुयोग इतिहास नहीं है, फिर भी उसमें इतिहास की सामग्री कभी कभी मिल जाती है। उस

---

(१) प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यं।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः॥
। ४३। रत्नकरण्ड०।

सामग्री को खोजने के लिये पूर्ण निष्पक्षता की ज़रूरत होती है। साथ ही कठोर परीक्षण करना पड़ता है।

वचन की सत्यता को जाँच करने के लिये यह देखना पड़ता है कि वह आप्त का वचन है या नहीं ? असत्यता के दो कारण हैं, अज्ञान और कषाय। जिसमें ये दो कारण न हो, वह आप्त कहलाता है। यह आवश्यक नहीं है कि उसमें अज्ञान और कषाय का पूर्ण अभाव हो। सिर्फ़ इतना देखना चाहिये कि जो बात वह कह रहा है, उस विषय में वह अज्ञानी या कषायी तो नहीं है यदि दो में से एक भी कारण वहां सिद्ध हो जाय तो उस कथा को इतिहास नहीं कह सकते। जैसे समन्तभद्र के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे आगामी उत्सर्पिणी कालमें तीर्थंकर [१] होंगे। जिसने यह बात कही है उस में अज्ञान दोष है। क्योंकि कौन मनुष्य मरने के बाद क्या होगा, इस विषय का वक्तव्य ऐतिहासिक जगत में प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त और भी इसमें बाधाएं हैं। जैनशास्त्रों के अनुसार समन्तभद्र के बाद ऐसा एक भी आचार्य नहीं हुआ, जिस को परलोक आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान हो। तब इस बात को कौन कह सकता है ? इससे यह कविकल्पना ही सिद्ध हुई। हां, इससे समन्तभद्र का [४] व्यक्तित्व बहुत महान था, यह बात अवश्य साबित होती है। यहां

(१) उक्तं च समंतभद्रेणोत्सर्पिणीकाले आगामिनि भविष्यत्तीर्थंकरपरमदेवेन
—षट प्राभृतटीका।

(२) श्रीमूलसंघव्योमेन्दुर्भारते भावितीर्थकृत।
देशे समन्तभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदार्द्धिकः ॥—विक्रान्तकौरव

वक्ता की अज्ञानता स्पष्ट है, इसलिये आगामी तीर्थंकर होने की बात असत्य है।

कषायजन्य असत्य उदाहरण दिगम्बर और श्वेताम्बर आदि सम्प्रदायों के उत्पन्न होने की कथाएं हैं; क्योंकि इन कथाओं के बनाने वाले सम्प्रदायिक दोष से दूषित हैं, इसलिये एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिये ये कथाएं गढ़ीगई हैं। कहा जा सकता है कि कथाकार तो मुनि या महाव्रती थे इसलिये वे मिथ्या कल्पना कैसे कर सकते हैं? इसके उत्तर में निम्न लिखित बातें कही जा सकती हैं।

वे वीतराग थे, इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है। प्रमाणके आधार पर जो कुछ कहा जा सकता है, वह इतना ही कि वे मुनिवेषमें रहते थे और विद्वान् थे। परन्तु जैनशास्त्रों के अनुसार शुक्लेश्या वाला पूर्वपाठी मुनि भी द्रव्यलिंगी–मिथ्यादृष्टि हो सकता है, इसलिये विद्वत्ता और मुनिवेष सत्यवादिता से अविनाभाव सम्बन्ध नहीं रखते।

दूसरी बात यह कि महाव्रती होने से कोई व्यवहार में असत्य नहीं बोल सकता, परन्तु धर्मरक्षा धर्म--प्रभावनाके लिये महाव्रती भी असत्य बोल जाते हैं, इसके उदाहरण प्रथमानुयोग में भी बहुत मिलते हैं। व्यवहार में जो असत्य बोला जाता है, उस का हिंसा और संक्लेश के साथ जितना निकट सम्बन्ध है, उतना धर्मप्रभावनाके लिये बोले गये असत्य में नहीं समझा जाता। इस लिये संप्रदायिक मामलों में असत्य की बहुत अधिक सम्भावना है।

तीसरी बात यह कि जब दोनों संप्रदायके व्यक्ति विद्वान और मुनिवेषी हों और परस्पर विरुद्ध लिखते हों तो निःपक्ष परीक्षक दोनों में से एक की बात पर विश्वास नहीं रख सकता। उसके लिये दोनों समान हैं।

बुद्ध, वशिष्ट आदि की जो कथाएं जैनशास्त्रों में पाई जाती हैं, वे भी ईर्षा सांप्रदायिक पक्षपात का फल हैं, इसलिये ऐतिहासिक दृष्टि से उनका कुछ भी मूल्य नहीं है। कथाकारों में निंदा करने के भाव हैं, यह बात उन कथाओं को पढ़ने से स्पष्ट मालूम होती है।

अस्वाभाविक होने से कथावस्तुकी कल्पितता सिद्ध हो जाती है। जैसे आचार्य कुन्दकुन्द का सशरीर विदेह जाना। मूर्ति में से दूध की धारा छूटना, रत्नवर्षा, सुवर्णवर्षा, केशरवर्षा आदि अतिशयोंके आधार पर रची गई कथाएं अप्रामाणिक हैं। हां, देव-दानवों का अर्थ मनुष्य विशेष करने से अगर कथा की संगति बैठती हो तो इस तरह वह कथावस्तु प्रामाणिक हो सकती है। परन्तु वास्तविक घटना कारणवश रूपान्तरित हुई है, इस बात के सूचक कारण अवश्य मिलना चाहिये।

घटनाओं की समता कथावस्तु को संदेहकोटि में डाल देती है। जैसे हरिभद्र के शिष्यों की कथा और अकलंक निःकलंक की कथा आपस में इतनी अधिक मिलती है कि यह कहना पड़ता है कि एकने दूसरे से नकल अवश्य की है, अथवा दोनों ने किसी तीसरे से नकल की है। अगर दूसरे और बाधक कारण मिल

जांय तो संदेह निश्चय में परिणत हो जाता है। जैसे अकलंक की कथा में अकलंक निःकलंक, मंत्री के पुत्र बताये जाते हैं, जबकि राजवार्तिक में वे अपने को लघुहव्व नृपति के पुत्र कहते हैं, अपने लिये प्राण-समर्पण करने पर भी वे निःकलंक का कहीं नाम भी नहीं लेते, इसके बाद तारादेवी के साथ शास्त्रार्थ से यह कथा इतिहास के बाहर चली जाती है और कई कारण इस कथा की अप्रामाणिकता को निश्चित करते हैं।

कभी कभी उपदेश देने के लिये व्याख्याता कुछ कथाएं कह जाता है; वहाँ यह देखना चाहिये कि वक्ता का मुख्य लक्ष्य क्या है ? जैसे महात्मा बुद्ध बाह्य तप आदि की निःसारता बतलाने के लिये कहते हैं कि मैंने पहिले जन्मोंमें सब प्रकार के बाह्य तप किये हैं आदि। यहाँ यह न समझना चाहिये कि म. बुद्धने सचमुच पहिले जन्मोंमें बाह्य तप किये हैं, इसलिये जिन जिन सम्प्रदाय के तप किये हैं, वे सम्प्रदाय पुराने हैं। इससे सिर्फ इतना ही सिद्ध होता है कि महात्मा बुद्धके समय वे सम्प्रदाय प्रचलित थे और उनकी बाह्य तपस्याओं को महात्मा बुद्ध ठीक नहीं समझते थे।

कहीं कहीं आलंकारिक वर्णन कथाओं का रूप धारण कर लेते हैं। जैसे वैदिक पुराणों में एक कथा है कि अग्निने अपनी माता को पैदा किया। यह असंभव वर्णन ऋग्वेद (१) के एक रूपक का रूपान्तर है। वैदिक शास्त्रोंके अनुसार यज्ञ के धुएँ से

---

(१) क इमं वो निण्यमा चिकेत वत्सो मातॄर्जनयत स्वधाभिः। बह्वीनां गर्भो अपसामुपस्थात् महान् कविर्निश्चरति स्वधावान्।

ऋग्वेद मं० १ सू० ९५ श्लोक ४।

मेघ बमते हैं इसलिये यह कहलाया कि अग्नि मेघों को पैदा करती है। परन्तु मेघमाला स्वयं अग्नि को पैदा करती है, उससे विद्युत् रूप अग्नि पैदा होती है। इस प्रकार अग्नि जिसको पैदा करती है, उससे पैदा भी होती है।

हाँ किसी को आलंकारिक ठहराते समय बहुत सावधानी की ज़रूरत है अन्यथा अलंकार का क्षेत्र इतना विशाल है कि उसमें वास्तविक इतिहास भी विलीन हो सकता है। जहाँ वास्तविक अर्थ न घट सकता हो वहाँ आलंकारिक अर्थ करना चाहिये।

जिस प्रकार हम कृत्रिम और अकृत्रिम वस्तुओं को देखते ही पहिचान लेते हैं, उसी प्रकार कथाओं की भी पहिचान की जाती है। चरित्र लेखक की भावनाएँ चरित्रके ऊपर कुछ ऐसी छाप मार जाती हैं तथा घटनाक्रम कुछ ऐसा चलता है, जिससे उसकी कृत्रिमता मालूम होने लगती है। उदाहरणार्थ कोई राजा रतिकर्म में अधिक लगा रहता है, इसलिये कथाकार उसका नाम 'सुरत' रख देता है। इस प्रकार कथाकार अपने पात्रों के नाम उनके चरित्र के अनुसार रखता है, इससे उस कथा-वस्तुकी कल्पितता सिद्ध होती है। यद्यपि यह नियम नहीं है कि प्रत्येक कल्पित कथा के नाम इसप्रकार गुणानुसार ही होते हैं, परन्तु जहाँ ऐसे नाम होते हैं, वहाँ पर कथानक प्रायः कल्पित होते हैं। अपवाद नगण्य हैं।

इस विषय को और भी बढ़ाकर लिखा जा सकता है, परंतु स्थानाभाव से बहुत संक्षेप में लिखा गया है। यद्यपि कथासाहित्य

में इतिहास इस तरह मिल गया है कि उसका विश्लेषण करना कठिन अवश्य है; फिर भी निःपक्षता से जाँच की जाय तो मालूम हो जायगा कि श्रद्धालु लोग जिसे इतिहास समझते हैं, उसका ऐतिहासिक मूल्य आजकल के उपन्यासों से भी बहुत कम है। हाँ, वे धर्मशास्त्र अवश्य हैं। अनेक कथाकारों की प्रशंसा मुक्त-कंठ से करना पड़ती है।

अन्त में यह बात फिर कहना पड़ती है कि हमारा कथा-साहित्य आखिर धर्मशास्त्र है, और उसे धर्मशास्त्र की दृष्टि से ही देखना चाहिये। ऐतिहासिक दृष्टि से वह भले ही सत्य, असत्य या अर्धसत्य रहे, परन्तु इससे उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ, अगर किसी कथा से असत्य उपदेश मिलता हो तो उसे असत्य कहना चाहिये। अन्यथा इतिहास की दृष्टि से असत्य होने पर भी वह सत्य है।

गणितानुयोग—यद्यपि यह प्रथमानुयोग का प्रकरण है, परन्तु जो बात प्रथमानुयोग के विषय में कही गई है वही गणितानुयोग के विषय में भी कही जा सकती है। इसलिये उसका उल्लेख भी यहां अनुचित नहीं है। जिस प्रकार प्रथमानुयोग इतिहास नहीं, धर्मशास्त्र है, उसी प्रकार गणितानुयोग भूगोल नहीं, धर्मशास्त्र है।

धर्मशास्त्र का काम प्राणी को सुखी बनाने के लिये सदाचारी बनाना है। सदाचार का फल सुख है और दुराचार का फल दुःख है, इस बात को अच्छी तरह से समझाने के लिये जिस प्रकार कथाओं की आवश्यकता है उसी प्रकार भूगोल अथवा

चित्रवर्णन की भी आवश्यकता है। जो लोग मर्मज्ञ हैं, उनको कथा-साहित्य और चित्रवर्णन की ज़रा भी ज़रूरत नहीं है, परन्तु जो लोग सदाचार के सहजानन्द को प्राप्त नहीं कर पाये, वे स्वर्ग का प्रलोभन और नरक का भय चाहते हैं और चाहते हैं सीताराम की विजय और रावण का सर्वनाश, ऐसे ही लोगों के लिये स्वर्गोंका मनोहर वर्णन करना पड़ता है, नरकों का बीभत्स और भयंकर चित्रण करना पड़ता है, भोगभूमिके अनुपम दाम्पत्य सुखका दर्शन कराना पड़ता है।

धर्मशास्त्रकार कोई तीर्थंकर या आचार्य इस बात की ज़रा भी पर्वाह नहीं करता कि मेरा भौगोलिक वर्णन सत्य है या असत्य, वह तो यह देखता है कि मेरे युगके मनुष्यों के लिये यह वर्णन विश्वसनीय है या नहीं? यदि उसके युगमें वह विश्वसनीय है, और लोगों को सदाचारी बनानेके लिये वह उपयुक्त है तो उसका काम सिद्ध हो जाता है; वह असथ्य होकरके भी सत्य है।

महात्मा महावीर के युगमें या उसके कुछ पीछे जब भी जैन भूगोल तैयार हुआ हो, उसका लक्ष्य यही था। इसके लिये उन्हें जो सामग्री मिली, उसको कल्पनासे बढ़ाकर, सुन्दर बनाकर उनने जैनभूगोल की इमारत तैयार कर दी। यह भौगोलिक वर्णन कर्मतत्त्वज्ञानरूपी देवताका मन्दिर है। यदि आज भौगोलिक वर्णन-रूपी मन्दिर जीर्णशीर्ण हो गया है, वर्तमान वातावरण में अगर उसका स्थिर रहना असम्भव हो गया है, तो कोई हानि नहीं है। हमें दूसरा मन्दिर बनालेना चाहिये। कर्मतत्त्वज्ञानरूपी देवता की मूर्ति उस नये मंदिर में स्थापित करना चाहिये।

धर्मशास्त्र में जो भौगोलिक वर्णन है, उसका रेखाचित्र तो तर्कसिद्ध है, किन्तु उसमें जो रंग भरा गया है, वह कल्पित है। तीसरे अध्यायमें मैं आत्मा के अस्तित्व पर लिख चुका हूं। जब आत्मा कोई स्वतन्त्र द्रव्य तत्त्व--सिद्ध हो जाता है, तब उसका परलोक में जाना----इस शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करना---- आनिवार्य है। वह शरीर या वह जगत्त वर्तमान शरीर से या वर्तमान जगत् से अच्छा है तो स्वर्ग और बुरा है तो नरक है। बस, भोगोलिक वर्णन का यह रेखाचित्र तर्कसिद्ध है। बाकी कल्पित है। जब इस मौलिक अंशको धक्का नहीं लगता--और वर्तमान जैनभूगोल मिथ्या सिद्ध हो जाने पर भी अच्छे और बुरे परलोक का अभाव सिद्ध नहीं होता--तब जैनभूगोल से चिपके रहने की ही क्या आवश्यकता है? उसके लिये किसी को विज्ञान की नयी नयी खोजों का बहिष्कार क्यों करना चाहिये?

जिस प्रकार सत्य, असत्य अर्धसत्य कथाओं का उपयोग धार्मिक शिक्षा के काम में किया जाता है उसी प्रकार सत्य, असत्य अर्धसत्य भूगोल का उपयोग भी धर्मशास्त्र करता है। धर्मशास्त्र सभी शास्त्रों का उपयोग करता है। अगर कोई शास्त्र परिवर्तनशील है तो उसका परिवर्तन हो जाने पर उसके परिवर्तित रूप का धर्मशास्त्र उपयोग करने लगेगा। यह परिवर्तन उस शास्त्र का ही परिवर्तन है न कि धर्मशास्त्र का।

लोगों की बड़ी भारी भूल यह होती है कि धर्मशास्त्र जिन जिन शास्त्रोंका उपयोग करता है उन सब को भी वे धर्मशास्त्र समझने लगते हैं। एक ग्रन्थकार कवित्व का और न्यायमत का

सत्फल बताने के लिये रामायण की कथा लिखता है और उसमें यह भी लिख जाता है कि अयोध्या बारह योजन लम्बी थी मानलो किसी जबर्दस्त प्रमाणसे वह सिद्ध हो जाय कि अयोध्या उस समय बारह योजन लम्बी नहीं थी, तो क्या इससे न्यायपक्ष की असफलता नष्ट हो गई ? धर्मशास्त्र के वर्णन धर्मशास्त्र रूपमें सत्य हैं अगर अन्य रूपमें असत्य हैं तो इससे धर्मशास्त्र असत्य नहीं हो जाता।

दो और दो चार होते है, इस विषय में कोई यह नहीं पूछता कि जैनधर्म के अनुसार दो और दो कितने होते हैं और बौद्धधर्म के अनुसार कितने होते हैं ? बात यह है कि गणित गणित है, इसलिये वह जैनगणित आदि भेदों म विभक्त नहीं होता। जैन, बौद्ध आदि धर्मशास्त्र के भेद हैं, और गणितशास्त्र धर्मशास्त्र से स्वतन्त्र शास्त्र है। इसलिये धर्मशास्त्र के भेद गणितशास्त्र के साथ लगाना अनुचित है। जिस प्रकार गणितको हम जैन, बौद्ध आदि भेदोंमें विभक्त करना ठीक नहीं समझते, उसीप्रकार भूगोल, इतिहास आदिको भी इसप्रकार विभक्त न करना चाहिये। धर्मशास्त्रकी पूँछसे सभी शास्त्रों को लटका देनेसे बेचारे धर्मशास्त्रकी तथा अन्य शास्त्रोंकी बड़ी दुर्दशा होजाती है। इससे धर्मशास्त्र सभी शास्त्रोंके विकासको रोकने लगता है तथा दूसरे शास्त्र जब नई खोजोंके सामने नहीं टिकपाते तो धर्मशास्त्र को भी ले डूबते हैं। धर्मशास्त्रकी कैदसे सब शास्त्रोंको मुक्त करके तथा शास्त्रोंके सिरसे सब शास्त्रोंका बोझ हटादेने से हम सब शास्त्रोंसे पूरा लाभ उठा सकते हैं, तथा शास्त्रोंका विकास कर सकते हैं। इस विवेचनसे यह बात अच्छी तरह मालूम होजाती है कि गणितानुयोग और प्रथमानुयोगका क्या स्थान है ?

चूलिका ।

पूर्वसाहित्य का पाँचवाँ भेद चूलिका है । परिकर्मसूत्र पूर्वगत और प्रथमानुयोग में जो बातें कहने से रहगईं हैं उनका कथन चूलिका में (१) है । ग्रन्थमें जैसे परिशिष्ट भाग होता है, उसी प्रकार दृष्टिवाद में चूलिका है । कहा जाता है कि चौदह पूर्वों में सिर्फ पहिले चार पूर्वों में ही चूलिका है । पहिले पूर्व की चार, दूसरे की बारह, तीसरे की आठ, चौथे की दस चूलिकाएँ हैं । परिकर्म सूत्र और प्रथमानुयोग की भी चूलिकाएँ होगीं परन्तु उनका पता नहीं है कि वे कितनी थीं ।

दिगम्बर ग्रन्थों में किस पूर्वकी कितनी चूलिकाएं हैं, इसका वर्णन नहीं हैं, परन्तु वहां चूलिकाके पांच भेद किये गये हैं:-

जलगता-इसमें जल अग्निमें प्रवेश करने, स्तंभन करने आदि का वर्णन है ।

स्थलगता-इसमें शीघ्र चलना, मेरु आदि की चोटीपर पहुंचना आदि का वर्णन है ।

मायागता--इन्द्रजाल आदिका वर्णन है ।

रूपगता--इसमें अनेक रूप बनाने का, चित्र आदि बनाने का वर्णन है ।

---

(१) दिट्ठिवाए जं परिकम्म सुत्त पुव्वाणुयोगे न भणियं तं चूलासु भणियं । नंदी ५६ ।

(१) ता एव चूला आइल्ल पुव्वाहं चउण्यं चुल्ल वत्थूणि भणिता चत्तारि दुवालस अट्ट चेव दस चेव चूलवत्थूणि आइल्लाण चउण्हं सेसाणं चूलिया नत्थि । नंदी टीका ५६ ।

आकाशगता--इसमें आकाशगमन आदि के मंत्रतंत्र हैं।

इससे मालूम होता है कि उस ज़माने में इस विषयका जो आश्चर्यजनक भौतिक विज्ञान प्राप्त था उसका विस्तृत वर्णन इन चूलिकाओं में था। मालूम होता है कि इन भौतिक विषयों का विशेष वर्णन मूलग्रंथ में उचित न मालूम हुआ, इसलिये परिशिष्ट बनाकर इनका वर्णन किया गया।

उस ज़माने में धर्मविद्याको बहुत महत्व प्राप्त था। समाज के लिये आवश्यक और समाज में प्रचलित प्रत्येक विद्याकी पूर्ति करने का भार भी धर्मगुरुओं पर था। परन्तु यह सब कार्य कोरे धर्म के गीतों से नहीं हो सकता था। इसलिये हम देखते हैं कि धर्मशास्त्रों में प्रायः सभी शास्त्रों का समावेश किया गया है। इस प्रकार धर्मशास्त्र अन्य अनेक शास्त्रों के अजायबघर बन गये हैं। उस ज़माने पर विचार करते हुए यह बात न तो अनुचित है, न आश्चर्यजनक है।

हां, इतनी बात ध्यान में रखना चाहिये कि धर्मशास्त्रोंमें धार्मिक बातों का जितना महत्त्व है, उतना अन्य शास्त्रों की बातों का नहीं है, धर्माचार्य धार्मिक विषयका वर्णन अनुभव से करते थे, परन्तु दूसरे विषयों का वर्णन तो उस ज़माने के अन्य विद्वानों के वक्तव्य के आधार पर किया है। यह तो सम्भव नहीं है कि उस ज़माने की सारी भौतिक विद्याओं का अनुभव स्वयं तीर्थंकर करते हों। तीर्थंकर तो धर्मतीर्थके अनुभवी थे, धर्मतीर्थ के संस्थापक थे। अन्य विषय तो उनके लिये भी परोक्षज्ञान से-सुनकर मालूम हुए थे। इसलिये धार्मिक मामलों में उनकी वाणी जितनी

अभ्रान्त और पूर्ण थी उतनी भौतिक विषयों में कदापि नहीं थी। इसलिये धर्मशास्त्र के भीतर आये हुए किसी भौतिक विषय में अगर आज कुछ निरुपयोगी मालूम हो, असत्य मालूम हो तो इससे धर्मशास्त्र का महत्व कम नहीं होता। इसलिये खींचतान कर निरुपयोगी को उपयोगी, असत्यको सत्य, अनुन्नत को उन्नत सिद्ध करने की ज़रा भी ज़रूरत नहीं है, और न धर्मशास्त्रों के भीतर आये हुए अन्य शास्त्रों को धर्मशास्त्र मानने की ज़रूरत है।

अङ्गबाह्य

अङ्गबाह्य का स्वरूप बतलाया गया है। गणधरों के पीछे होनेवाले आचार्यों की यह रचना है। यद्यपि महात्मा महावीर के पीछे क़रीब ढाई हज़ार वर्षमें जितना जैनधर्मसाहित्य तैयार हुआ है, वह सब अङ्गबाह्य साहित्य ही है, परन्तु आजकल अमुक प्राचीन ग्रंथोंके लिये यह शब्द रूढ़ होगया है। अंगप्रविष्टकी तरह अंगबाह्य साहित्य नियत नहीं है इसीलिये उमास्वाति आदि आचार्य इसके नियत भेद नहीं कहते हैं। वे अंगप्रविष्टके तो बारह भेद बतलाते हैं परन्तु अंगबाह्यके विषयमें सिर्फ़ इतना ही कहते हैं कि वह अनेक (१) प्रकारका है। अकलंक देव भी अंगबाह्य के भेदों को नियत नहीं करते। वे भी 'आदि' शब्द से कहजाते हैं। परन्तु इसके बाद गोम्मटसारमें चौदह भेद मिलते हैं।

१—सामायिक—आत्मामें लीन होना, सामायिक है। इस शास्त्रमें सामायिक की विधि, समय आदिका वर्णन है।

---

(१) श्रुतं मतिपूर्वंद्वयनेक द्वादश भेदं। १-२०॥

(१) तदनेकविधं कालिकोत्कालिकादिविकल्पात्। रा. वा. १-२०-१४॥

२--चतुर्विंशस्तव- इसमें चौबीस तीर्थकरोंकी स्तुतियाँ हैं।

३--वंदना--इसमें चैत्य, चैत्यालय आदिकी स्तुतियाँ हैं।

४--प्रतिक्रमण -इसमें देवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ऐर्यापथिक (गमनका प्रतिक्रमण), उत्तमार्थ [सर्व पर्यायका प्रतिक्रमण) इस प्रकार सात प्रकारके प्रतिक्रमणका वर्णन है।

५--वैनयिक---इसमें ज्ञान--विनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, तपोविनय, उपचारविनय, इसप्रकार पाँच प्रकारके विनय का वर्णन है।

६--कृतिकर्म--इसमें विनय आदि बाह्य क्रियाओं, प्रदक्षिणा देना, नमस्कार करना आदि का वर्णन है।

७--दशवैकालिक--मुनियोंके आचारका वर्णन है।

८-,उत्तराध्ययन--इसमें उपसर्ग परीषह सहनकरने वालों का वर्णन है।

दशवैकालिक और उत्तराध्यन श्वेताम्बर संप्रदायमें बहुत प्रसिद्ध और प्रचलित सूत्र हैं। दिगम्बर सम्प्रदायमें ये सूत्र भी उपलब्ध नहीं होते, यह अत्यंत आश्चर्य और खेदकी बात है। मूलसूत्र(अंगप्रविष्ट) विशाल होनेसे सुरक्षित नहीं रहसकता तो किसी तरह यह क्षन्तव्य है, परन्तु अंगबाह्य भी अगर नामशेष होगया तब तो हद ही हो गई।

९--कल्यव्यहार--इसमें साधुओंके योग्य अनुष्ठानका तथा अयोग्यके प्रायश्चित्तका वर्णन है।

१०--कल्प्याकल्प्य--कौनसा कार्य कब कहाँ उचित है और वही कहाँ अनुचित है, इस प्रकार द्रव्यक्षेत्रकालभावके अनुसार मुनियोंके योग्यायोग्य कार्यका निरुपण है।

११——महाकल्प्य—— इसमें जिनकल्प और स्थविरकल्प साधुओंके आचार, रहनसहन आदिका वर्णन है।

१२——पुंडरीक——देवगतिमें उत्पन्न करने वाले दानपूजा, तपश्चरण आदिका वर्णन है।

१३——महापुंडरीक——इन्द्रादिपद प्राप्त करने योग्य तपश्चरण आदिका वर्णन है।

१४——निषिद्धिका——वह प्रायश्चित्त-शास्त्र है। इसे निशीथिका भी कहते हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें अङ्गबाह्यके दो भेद किये गये हैं—आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त। जो क्रियायें अवश्य करना चाहिये उनका जिसमें वर्णन है वह आवश्यक है। इससे भिन्न आवश्यक व्यतिरिक्त हैं। इसके छः भेद हैं——सामायिक, चतुर्विंशस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान। इनके विषय नामसे प्रगट हैं।

आवश्यकव्यतिरिक्त दो तरहका है——कालिक, उत्कालिक। जो नियत समय पर पढ़ा जाय वह कालिक और जो अन्य समय पर पढ़ा जाय वह उत्कालिक। उत्तराध्ययन आदि कालिक हैं। दशवैकालिक आदि उत्कालिक हैं १। श्वेताम्बरोंमें जो बारह उपांग प्रचलित हैं, वे भी अङ्गबाह्यके अन्तर्गत हैं।

---

(१) विस्तारभय से उन सबका वर्णन यहाँ नहीं किया गया है। नंदीसूत्र ४३ में विस्तृत वर्णन है। वहाँ कालिक श्रुत के ३६ ग्रंथों के नाम लिखे हैं। फिर भी आदि कहकर छोड़ दिया है, इसी प्रकार उत्कालिक श्रुतके भी २९ नाम लिखे हैं और आदि कहकर नामों की अपूर्णता बतलाई है।

श्रुतपरिमाण

श्रुतज्ञान का परिमाण बहुत विशाल है। दोनों ही संप्रदायों में श्रुतज्ञान के जितने पद बताये गये हैं, उनका होना एक आश्चर्य ही समझना चाहिये। दिगम्बर संप्रदाय में श्रुतज्ञान के कुल एक अर्ब बारह करोड़ तेरासी लाख अट्ठावन हज़ार पाँच पद हैं। किसी के व्याख्यानों का संग्रह इतना बड़ा हो, यह ज़रा आश्चर्यजनक ही है। परन्तु इससे भी आश्चर्यजनक है पदका परिमाण। पद कितना बड़ा है, इस विषय में नाना मुनियों के नाना मत हैं। दिगम्बर ग्रंथों में पद के तीन भेद हैं। अर्थपद वही है जो व्याकरण में प्रसिद्ध है। विभक्तिसहित शब्दको पद कहते हैं। अक्षरों के परिमित प्रमाण को प्रमाणपद कहते हैं, जैसे एक श्लोक में चार पद हैं इसलिये आठ अक्षर का एक पद कहलाया। तीसरा मध्यमपद है जो कि सोलह अर्ब चौंतीस करोड़ तेरासी लाख सात हज़ार आठसौ अठासी अक्षरों का होता है। दि० शास्त्रकारों ने श्रुतज्ञान का परिमाण इसी पदसे मापा है। इस प्रकार के विशालकाय पद अगर एक अर्बसे भी ऊपर माने जावें तो एक जीवन में इनका उच्चारण करना भी कठिन है। यदि कोई मनुष्य प्रत्येक मिनिट में दस श्लोक का उच्चारण करे और प्रतिदिन बीस घंटे इसी काम में लगा रहे तो सालभर में तेतालीस लाख बीस हज़ार श्लोकों का ही उच्चारण कर सकता है। म. महावीर को कैवल्य प्राप्त हुआ उसदिन से ४२ वर्ष तक इन्द्रभूति गौतम अगर इसप्रकार रचना करते रहते तो वे अठारह करोड़ चौदह लाख बयालीस हज़ार श्लोकों की रचना कर पाते, जब कि एक पदका परिमाण इकावन करोड़ आठ लाख चौरा-

सौ हजार छः सौ इक्कीस है। श्वेतांबर संप्रदाय में भी करीब करीब यही संख्या है। सिर्फ चौरासी हजार छःसौ इक्कीस के बदले छयासी हजार आठसौ चालीस है। एकतो किसी आदमी का सब काम बंद करके जीवन भर दिनरात इस प्रकार रचना करते रहना कठिन है; अगर कदाचित् करे भी तो इतने श्लोक बनाना कठिन है; अगर बना भी ले तो वह एक पदका तीसरा हिस्साही होगा। एक पद को पूरा करना भी मुश्किल है, फिर एक अर्ब बारह करोड़ से भी अधिक पदों का बनाना या पढ़ना असंभव ही है।

इसके बाद अक्षर के प्रमाण पर विचार करने से आश्चर्य और भी अधिक होता है। जैन शास्त्रों में तेतीस व्यञ्जन, सत्ताईस स्वर [नव स्वर ह्रस्व दीर्घ प्लुत के भेद से] अनुस्वार विसर्ग जिह्वामूलीय और उपध्मानीय इस प्रकार ६४ मूलाक्षर हैं। इनके द्विसंयोगी त्रिसंयोगी आदि भंग बनाने से एक सौ चौरासी शंख से १ भी अधिक अक्षर बनते हैं। बहुत से अक्षर तो ऐसे हैं जिन में सत्ताईस स्वर मिश्रित होते हैं। एक अक्षर में एक से अधिक स्वर का उच्चारण असंभव है। अगर स्वर दो हैं तो अक्षर भी दो हो जाते हैं। तेतीस व्यञ्जनों के साथ सत्ताईस स्वर लगाना, फिर उसे अक्षर कहते रहना, अक्षरका अक्षरत्व नष्ट कर देना है। इस प्रकार अक्षरका स्वरूप, पदका स्वरूप ठीक नहीं बैठता, न उसकी विशाल संख्या ही विश्वसनीय मालूम होती है।

---

(१) १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ [इस लंबी संख्या का संक्षिप्त नाम 'एक हि' है।

निम्नलिखित तालिका से मालूम होगा कि किस अंग और किस पूर्वमें कितने पद हैं ? इसके बाद पद और अक्षरके वास्तविक स्वरूप पर विचार किया जायगा ।

	दिगम्बर मान्यता	श्वेताम्बर मान्यता	
१ आचार	१८०००	१८०००	
२ सूत्रकृत्	३६०००	३६०००	
३ स्थान	४२०००	७२०००	
४ समवाय	१६४०००	१४४०००	
५ व्याख्या प्र०	२२८०००	२८८०००	
६ न्यायधर्म	५५६०००	५७६०००	सं. इ.
७ उपासक	११७०००	११५२०००	,,
८ अंतकृत्	२३२८०००	२३०४०००	,,
९ अनुत्तर	९२४४०००	४६०८०००	,,
१० प्रश्न व्या०	९३१६०००	९२१६०००	,,
११ विपाक	१८४०००००	१८४३२०००	,,
१ उत्पादपूर्व	१ करोड़	१ करोड़	
२ अग्रा.	९६ लाख	९६ लाख	
३ वीर्य.	७० लाख	७० लाख	
४ अस्तिनास्ति	६० लाख	६० लाख	
५ ज्ञान प्र.	९९९९९९९	९९९९९९९	
६ सत्य प्र.	१००००००००६	१००००००६	
७ आत्म प्र.	२६ करोड़	२६ करोड़	

८	कर्म प्र.	१८००००००	१००८०००
९	प्रत्याख्यान	८४ लाख	८४ लाख
१०	विद्यानुवाद	११००००००	११००००००
११	कल्याणवाद अवंध्य	२६ क.	२६ करोड़
१२	प्राणवाद	१३ करोड	१५३००००००
१३	क्रिया विशाल	९ करोड	९ करोड
१४	लोकबिन्दु	१२५००००००,	१२५००००००

इसके अतिरिक्त परिकर्म सूत्र प्रथमानुयोग और चूलिकाके भी पद हैं जोकि करोड़ों की संख्या में हैं । मैं कहचुका हूँ कि कोई भी मनुष्य इतने पदोंकी रचना तो क्या, उच्चारण भी नहीं करसकता । तब क्या शास्त्र की महत्ता बताने के लिये ही यह कल्पना की गई है ? अथवा इस में कुछ तथ्य भी है ? मेरे खयालसे इस में कुछ तथ्य अवश्य है । इस बात को सिद्ध करने के लिये पहिले 'पद' पर विचार करना जरूरी है ।

दिगम्बर सम्प्रदाय में उस पद के परिमाणके विषय में मत-भेद नहीं है जिससे श्रुतका परिमाण बताया जाता है । दिगम्बर सम्प्रदायका यह मत कोई कोई श्वेताम्बराचर्य भी मानते हैं । परन्तु इस मत के अनुसार श्रुतका जीवनभर उच्चारण भी नहीं हो सकता इसके अतिरिक्त चार मत और हैं—

१—विभक्ति सहित शब्दको एक पद मानना । जैसे 'करेमि' 'भन्ते' ये दो पद हुए ।

२—वाक्य को पद मानना ।

३–वाक्यों के समूहको (आलापक=छेदक पैराग्राफ़) पद मानना।

४–सम्प्रदाय-परम्परा के नष्ट हो जाने से पद का प्रमाण वास्तव में अप्राप्य है।

इन चारों मतों में पहिला ही मत ऐसा है जो ठीक मालूम होता है। फिर भी श्रुतपरिमाणकी विशालता अस्वाभाविक बनी ही रहती है या अतिशयोक्ति मालूम होती है। परन्तु वर्तमान के श्वेताम्बर सूत्र देखने से इस शंकाका समाधान हो जाता है।

सूत्र साहित्य में, फिर चाहे वह जैनियों का हो या बौद्धों का हो उसमें, हरएक बात के वर्णन रहते हैं, जोकि बारबार दुहराये जाते हैं। जैसे कहीं पर एक रानीका वर्णन आया। कल्पना करो उस वर्णन में एक हज़ार पद लगे, अब अगर किसी सूत्र में सौ रानियों के नाम आये तो सब के साथ एक एक हज़ार पद का वर्णन न तो लिखा जायगा, न बोला जायगा। परन्तु एक पद लिख कर 'इत्यादि' कहकर प्रत्येक के साथ एक एक हज़ार पद समझे जावेंगे। इस प्रकार सौ रानियों के नाम लिखने से ही एक लाख पद बन जाँयगे। इसी प्रकार राजा, राजकुमार, राजपुत्री, वन, नगर उपवन, मंदिर, नदी, तालाब, श्रावक, श्राविका, मुनि, आर्जिका, तीर्थंकर आदि सबके वर्णन हैं। इनमें से एक एक नाम के आने से ही सैकड़ों पद बन जाते हैं। यही कारण है कि सूत्र के लाखों पद कहे जाते हैं। परन्तु उनके ज्ञान के लिये लाखों पद नहीं पढ़ना पढ़ते। इस ढंगसे दस पाँच हज़ार पदों की पुस्तक के लाखों पद बताये जा सकते हैं। जैनसूत्रों की पदगणना इसी आधार पर हुई है।

परिचय इस तरह भी दिया गया है कि श्रुतज्ञान को एकट्ठि से भाग देने पर जो लब्धि आवे उसे अर्थाक्षर [१] कहते हैं। अर्थात् यहां पर ज्ञानके अमुक परिमाणका नाम अक्षर है न कि स्वर-व्यंजन आदि।

जैनाचार्यों ने यह बताने के लिये कि किस अंग, पूर्व और शास्त्र को पढ़ने से कितना ज्ञान होता है—सम्पूर्ण श्रुतज्ञान को एक सौ चौरासी संख से भी अधिक टुकड़ों में कल्पना से विभक्त किया और इस एक एक टुकड़े को अक्षर कहा। जैसे हम एक देश को अनेक मीलों, योजनों आदि में विभक्त करते हैं, परन्तु इससे उस देश के उतने टुकड़े नहीं हो जाते किन्तु उस कल्पना से हम उसकी लघुता या महत्ता जान लेते हैं, इसी प्रकार श्रुतज्ञान का अक्षरविभाग ज्ञान की माप तौल के लिये उपयोगी है। उससे इतना मालूम होता है कि किस शास्त्र का, ज्ञान की दृष्टि से कितना मूल्य है?

जिस प्रकार हम एक देश को ज़िलों, तहसीलों में विभक्त करके उनके जुदे जुदे नाम रख देते हैं, उसी प्रकार जैनाचार्यों ने श्रुतज्ञान के १८४ संख से भी अधिक टुकड़े कर के प्रत्येक टुकड़े का अलग अलग नाम रख दिया है। किसी का नाम 'क' किसी का नाम 'ख' किसी का नाम 'ग' किसी का नाम 'कख', किसी का नाम 'कग', किसी का नाम 'खग', किसी का नाम'कखग', इस प्रकार बढ़ते बढ़ते चौसठ अक्षरोंवाला नाम भी है। गणितसूत्र

१ अर्थाक्षरंरूपोनैकाविभक्त श्रुतकेवलमात्मैकाक्षर ज्ञानम्।

के अनुसार कुल नाम एक सौ चौरासी संख से भी अधिक होते हैं। इस प्रकार अनेक स्वर व्यंजनों के संयोगवाले जो अक्षर बताये गये हैं, वे वास्तव में अक्षर नहीं हैं किंतु श्रुतज्ञान के एकएक अंश के नाम हैं जिन अंशों को यहां अक्षर कहा गया है। जब हम कहते हैं कि एक पद में १६३४८३७०८८८ अक्षर हैं तो इस का मतलब यह नहीं है कि पदज्ञानी को क ख आदि इतने अक्षरों का उच्चारण करना पड़ता है, या इतने अक्षरों को जानना पड़ता है। उसका मतलब सिर्फ इतना ही है कि पदज्ञानीका ज्ञान अक्षरज्ञानी से सोलह अर्ब चौंतीस करोड़ आदि गुणा उच्च है। इस विवेचन से अक्षरों की इतनी अधिक गणना और पद का विशाल परिमाण समझ में आ जाता है।

एकसौ चौरासी संखसे भी अधिक अक्षर अपुनरुक्त कहेजाते हैं। परन्तु क्या किसी पुस्तक में एक अक्षर दो बार नहीं आता ? एक हजार शब्दोंके बारबार प्रयोगसे बड़ेसे बड़ा पोथा बनसकता है और उस में ज्ञानका अक्षय भंडार रक्खा जा सकता है और उससे अधिक अपुनरुक्त शब्दोंमें ज्ञानकी सामग्री कम रह-सकती है। जैन सूत्रोंमें भी एकही शब्द सैकड़ों बार आता है, तब फिर अपुनरुक्त अक्षरोंका परिमाण बतानेकी आवश्यकता क्या है ? और उसका व्यावहारिक उपयोग भी क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर भी इसी बात से हो जाता है कि उपर्युक्त अक्षर, अक्षर नहीं है किन्तु ज्ञानाक्षरोंके जुदे जुदे नाम हैं। नामोंको अपुनरुक्त होना चाहिये अन्यथा नाम रखनेका प्रयोजन ही नष्ट हो जाता है। इसलिये वे सब अक्षर अपुनरुक्त बनाये गये हैं।

है--समझ लेने पर वह भी विश्वसनीय हो जाता है। परन्तु अवधि और मन:पर्यय की समस्या और भी जटिल है। इनकी जटिलता बिलकुल दूसरे ढंग की है। वे दोनों ही भौतिक ज्ञान हैं। जैन-शास्त्रों के अनुसार अवधिज्ञानी मनुष्य हजारों लाखों कोसों के ही नहीं, सारे विश्व के पदार्थों को इसी तरह देख सकता है जैसे हम आँखों के सामने की वस्तु को देख सकते हैं बल्कि इसकी स्पष्टता इन्द्रिय-ज्ञान से भी अधिक बतलाई जाती है। साथ ही इसके द्वारा उन गुणों का भी ज्ञान होता है जिनका हमें पता नहीं है। हमारे पास पाँच इन्द्रियां हैं, इसलिये हम पुद्गलके पांच गुण या पांच तरह की अवस्थाएं जान सकते हैं। परन्तु अवधिज्ञान से अगणित भवों का ज्ञान होता है।

प्राचीन समय से ही भारत में ऐसे अलौकिक ज्ञानों का अस्तित्व स्वीकार किया जा रहा है। यह योगज-प्रत्यक्ष या योगियों का ज्ञान कहलाता है, जिससे योगी लोग एक जगह बैठे बैठे सब जगह की चीज़ें इच्छानुसार जान सकते हैं, दूसरे के मनकी बातों को भी जान लेते हैं। इनसे कोई बात छुपाना असंभव है। देवों के भी ऐसे अलौकिक ज्ञान माने जाते हैं।

जैनधर्म अपने समय का वैज्ञानिक धर्म है इसलिये उस में इन सब बातों का एक नियम-बद्ध रूप मिलता है। तीनों लोकोंमें कौन कहाँ की कितनी बात जान सकता है, कौन किस किसके मानसिक भावोंको समझ सकता है, कितनी दूर का जाननेसे कितने भूत भविष्यका ज्ञान होता है, इनके असंख्य भेद किसप्रकार बनते हैं, किस गतिमें कितने भेद प्राप्त हो सकते हैं; किस ढंगसे प्राप्त हो

उनके अनेक रहस्य प्रगट हो गये हैं। इस समय अलौकिक घटनाओं का वर्गीकरण ही विज्ञान नहीं कहला सकता, किन्तु अब तो उसके रहस्य जानने की ज़रूरत है या उसके रहस्य की तरफ़ ठीकठीक संकेत करने की ज़रूरत है।

आज से कुछ वर्ष पहिले जो बातें अलौकिक चमत्कार समझी जाती थीं, वे आज प्रकृति के ज्ञात नियमों के भीतर आ गयी हैं। जिन घटनाओं के मूल में भूत-पिशाचों की या चमत्कारों की कल्पना की जाती है वे आज शारीरिक चिकित्सा-शास्त्र की अंगरूप हो गई हैं। यद्यपि आज मनोविज्ञान बिलकुल बाल्यावस्था में शैशवावस्था म—है फिर भी इतना तो मालूम होने लगा है कि अमुक घटना का सम्बन्ध अमुक विज्ञानसे है। जिस समय मनो-विज्ञान युवावस्था में पहुंचेगा तथा अन्य विज्ञान भी प्रौढ़ बनेंगे, उस समय अलौकिक चमत्कारों या अलौकिक ज्ञानों के लिये जगह न रह जायगी।

जैन शास्त्रोंमें अवधि और मनःपर्यय का जो वर्णन है वह भले ही अलौकिक हो परन्तु उसके मूल में उसका लौकिक रूप क्या है, यह खोजने की चीज़ है। जब हम अँधेरे में हाथ डालते हैं तब इच्छित वस्तुके ऊपर ही हमारा हाथ नहीं पड़ता किन्तु बीसों-बार इधरउधर भटकता है। इसी प्रकार अज्ञात जगत् की खोजमें हमारी कल्पना-बुद्धि की भी यही दशा होती है। अवधि, मनःपर्यय आदि अलौकिक विषयों में भी यही दशा हुई है।

आज अवधि मनःपर्यय का स्वरूप इतना विशाल बना दिया गया है कि उसपर विश्वास होना कठिन है। शास्त्रानुसार

अवधिज्ञानके द्वारा हम स्वर्ग नरक तथा लाखों वर्ष पुरानी घटनाओं का तथा लाखों वर्ष बाद होनेवाली घटनाओं का प्रत्यक्ष कर सकते हैं। परन्तु मैं चौथे अध्याय में सिद्ध कर आया हूं कि भूत भविष्य का प्रत्यक्ष असम्भव है, क्योंकि जो वस्तु है ही नहीं, उसका प्रत्यक्ष कैसा ? आदि।

जैनशास्त्रोंके देखने से हमें इस बात का आभास मिलता है कि शास्त्रों में जो अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञानका विशाल विषय बतलाया गया है वह ठीक नहीं है, बिलकुल कल्पित है। कल्पित कथाओं को छोड़ कर ऐतिहासिक घटनाओं में उसका ज़रा भी परिचय नहीं मिलता बल्कि इस ढंग का वर्णन मिलता है जिसस माळूम हो जाय कि अवधि मनःपर्यय की उपयोगिता कुछ दूसरी ही है। यहां मैं एक दो दृष्टान्त देता हूं।

उवासगदसा के आनन्द-अध्ययन का वर्णन है कि एकबार इन्द्रभूति गौतम आनन्द श्रावक की प्रोषधशाला में गये। उस समय आनन्द ने समाधिमरण के लिये संथारा लिया था। आनंद ने गौतम को नमस्कार करके पूछा--

भगवन्! क्या गृहस्थ को घर में रहते अवधिज्ञान हो सकता है ?

गौतम--हो ककता है।

आनन्द--मुझे भी अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है। मैं पांचसौ योजनतक लवणसमुद्रमें देख सकता हूं और लोलुपच्चय नरक तक भी।

गौतम–आनंद ! इतनी उच्च श्रेणी का अवधिज्ञान गृहस्थ को नहीं हो सकता, इसलिये तुम्हें अपने इस वक्तव्य की आलोचना करना चाहिये, प्रतिक्रमण करना चाहिये; अर्थात् अपने शब्द वापिस लेना चाहिये ।

आनन्द–भगवन् ! क्या सच्ची बात की भी आलोचना की जाती है ? क्या सत्यवचन भी वापिस लिया जाता है ?

गौतम–नहीं, असत्य की ही आलोचना की जाती है, वही वापिस लिया जाता है ?

आनन्द–तब तो भगवन्, आप ही अपने शब्दों की आलोचना कीजिये, आप ही अपने शब्दोंको वापिस लीजिये ।

आनन्द के शब्द सुनकर गौतम सन्देह में पड़ गये । उन्हें बड़ी ग्लानि हुई । उनने जाकर महात्मा महावीर से सब बात कही और पूछा कि—भगवन् ! किसे अपने शब्द वापिस लेना चाहिये ? म. महावीर बोले—गौतम ! इसमें तुम्हारी ही भूल है । तुम अपने शब्द वापिस लो और जाकर आनन्दसे माफ़ी मांगो । तब गौतम ने जाकर आनन्दसे माफ़ी माँगी और अपने शब्द वापिस लिये ।

यह वर्णन अन्य दृष्टियों से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है । परन्तु यहां तो सिर्फ़ गौतम के ज्ञान की ही आलोचना करना है । गौतम चार ज्ञानधारी थे । उन्हें उच्च श्रेणीके अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त थे । फिर भी वे यह न समझ सके कि आनन्द सच कहता है या मिथ्या ? आनन्द के मन में क्या था, यह बात उन्हें मनः-

करने वालों के लिये महत्वपूर्ण हैं। यदि अवधिज्ञान से स्वर्ग नरक दिखलाई देते तो गौतम के मुख से ये उद्गार कभी न निकलते कि मैंने नरक और नारकी नहीं देखे। एक साधारण अवधिज्ञानी भी नरक देख सकता है। आनंद का कहना था कि मुझे नरक दिखलाई दे रहा है। यह बात महात्मा महावीर ने भी स्वीकार की थी। तब गौतम का ज्ञान तो इन सबसे बहुत अधिक था! फिर भी नरक स्वर्ग के विषय में गौतम इस प्रकार उद्गार निकालते हैं! इससे मालूम होता है कि उस समय अवधि. मनः-पर्यय ज्ञान का विषय इतना विशाल नहीं माना जाता था। इस प्रकार अवधि और मनःपर्यय का इतना विशाल विषय न तो तर्क-सम्मत है न इतिहास सम्मत है। फिर भी कुछ है तो अवश्य! वह क्या है, इसी की खोज करना चाहिये।

जैनशास्त्रों में अवधिज्ञान के विषय में जो जो बातें कही गई हैं, उनपर गम्भीर विचार करने से अवधिज्ञान के विषय में कुछ कुछ आभास मिलता है।

यह ज्ञान अतीन्द्रिय माना जाता है। अर्थात् इसमें इन्द्रियोंकी आवश्यकता नहीं होती। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिये कि जहाँ इन्द्रियोंकी गति नहीं है, वहाँ इसकी गति है। यह इन्द्रियोंकी अपेक्षा कुछ दूरके विषयको जान सकता है, तथा जो गुण इन्द्रियों के विषय नहीं हैं उनको भी जान सकता है। जिस प्रकार आँख, कान, नाकका स्थान नियत है, वहीं से हम देखते सुनते हैं, उसी प्रकार अवधिज्ञानका भी शरीरमें स्थान नियत है। कोई कोई अवधि-

अवधिज्ञान भी कोई ऐसी इन्द्रिय है जो इन पांचों इद्रियोंसे भिन्न है, तथा अदृश्य है। अभी तक हम को पांच इद्रियों का ज्ञान है, इसलिये हम इंद्रियों के विषय भी पांच प्रकार के--स्पर्श रस गन्ध वर्ण शब्द--मानते हैं। कल्पना करो कि मनुष्यों के चक्षु इन्द्रिय न होती और पशुओं के होती, तो यह निश्चित है कि हमारी भाषा में 'रूप' नाम का कोई शब्द ही न होता, न हम अन्य किसी प्रकार से रूपकी कल्पना कर सकते। जिस समय कोई पशु दूरकी वस्तु देखकर ज्ञान कर लेता तो हम यही सोचते कि यह पशु नाकसे सूंघकर दूर के पदार्थ को जान लेता है; उसके आँख नाम की एक स्वतंत्र इन्द्रिय है, यह बात हम कभी न सोचपाते। इसी तरह आज भी सम्भव है कि किसी किसी पशु के अन्य कोई इन्द्रिय हो, जिसे हम नहीं जान पाते। जब उनमें किसी असाधारण ज्ञान का सद्भाव मालूम होता है तब यही कल्पना कर लेते हैं कि वे पाँच इन्द्रियों में किसी इन्द्रिय से ही यह असाधारण ज्ञान कर लेते हैं। हम उनके छट्ठी इन्द्रिय नहीं मानते। उदाहरणार्थ कई जानवर ऐसे होते हैं जिनको भूकम्पका ज्ञान महीनों पहिले से हो जाता है। चूहे वगैरह भी कई दिन पहिले से भूकंप का ज्ञान करके जगह छोड़ देते हैं। माउंट पीरी का ज्वालामुखी जब फटा था तब आसपास रहनेवाले पशुओं को महीनों पहिले ज्वालामुखी के फटने का पता लग गया था और वह प्रदेश पशुओं से उजाड़ हो गया था। महीनों पहिले से उन्हें ज्वालामुखी फटने का ज्ञान हुआ, यह ज्ञान किस इन्द्रिय से हुआ यह जानना कठिन है। फटने के पहिले ज्वालामुखी

में वे कौनसे विकार होते हैं जिनका प्रभाव वातावरण आदि पर पड़ता है और जिस प्रभाव का ज्ञान उन पशुओं को होता है ? उन विकारों को हमारी इन्द्रियाँ नहीं जान पातीं, इसका कारण विषय की सूक्ष्मता है, या उनके और कोई इन्द्रिय होती है जिसकी खोज हम नहीं कर पाये हैं—अभी तक यह एक जटिल समस्या ही है। जैन धर्म ने पशुओं को भी अवधिज्ञान माना है, इससे मालूम होता है कि वहाँ पाँच इन्द्रियों से भिन्न किसी अज्ञात इन्द्रिय के ज्ञान को अवधिज्ञान कहा है, जिस इन्द्रिय का स्थान किसी एक जगह नियत नहीं है। अवधिज्ञान का भी शरीर में कोई स्थान होता है इस बात से अवधिज्ञान एक प्रकार की विशेष इन्द्रिय का ज्ञान ही मालूम होता है। यह भी सम्भव है कि पाँच इन्द्रियों से भिन्न एक नहीं अनेक इन्द्रियाँ हों, जिन्हें अवधिज्ञान कहा गया हो।

ऊपर जो ज्वालामुखी का उदाहरण देकर विषय समझाया गया है, सम्भव है उस तरह की असाधारण इन्द्रिय या इन्द्रियाँ किसी किसी असाधारण मनुष्य को भी होती हों। जैनशास्त्रों के अनुसार पशुओं की अपेक्षा मनुष्यों को अवधिज्ञान उच्च श्रेणीका हो सकता है। इस प्रकार उच्च श्रेणी की इन्द्रिय रख करके भी मनुष्य दूसरे को अवधिज्ञान का स्वरूप नहीं बता सकता। जिस प्रकार जन्मांध को रूपका स्वरूप समझाना असम्भव है, उसी प्रकार अवधिरहित पुरुष को अवधिका स्वरूप समझाना असम्भव है।

अवधिज्ञानको कोई असाधारण इन्द्रिय मानने से अवधि-दर्शन का स्वरूप भी समझ में आने लगता है। सर्वज्ञ के प्रकरण में यह कहा गया है कि आत्मग्रहण दर्शन है और अर्थग्रहण ज्ञान

है । व्यञ्जनावग्रहके प्रकरण में भी यह बात समझायी गई है कि इन्द्रिय का (निर्वृति का) ग्रहण दर्शन है, उपकरण का ग्रहण व्यञ्जनावग्रह है और अर्थ का ग्रहण अर्थावग्रह [ज्ञान] है । अवधि-ज्ञान के जो इन्द्रिय के समान शंखादि चिह्न बतलाये गये हैं उनके ऊपर जो भौतिक पदार्थों का प्रभाव पडता है उन सहित जब उन चिह्नों का संवेदन होता है तब उसे अवधिदर्शन कहते हैं और उसके अनन्तर जो अर्थज्ञान होता है वह अवधिज्ञान है ।

किसी मनुष्यकी आँख अच्छी हो तो इसीसे वह महात्मा नहीं कहा जाता और अन्धा या बहिरा होने से वह पापी नहीं कहलाता । मतलब वह कि इन्द्रियों के होने न होने से आत्माकी उन्नति अवनति निर्भर नहीं है । अवधिज्ञानके विषय में भी यही बात है । अवधिज्ञान पशुओंको, मनुष्योंको, देवोंको और पापी नारकियोंको भी होता है; मुनियोंको, श्रावकोंको, असंयमियोंको और मिथ्यादृष्टियोंको भी होता है । मतलब यह कि अवधिज्ञान होने से आत्मोत्कर्ष भी होना चाहिये , यह नियम नहीं है । इससे भी मालूम होता है कि उसका दर्जा एक तरह की इन्द्रियके समान है। अवधिज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान माना जाता है । इन्द्रियज्ञानके सिवाय और किसी ज्ञानमें प्रत्यक्षता सिद्ध नहीं होती । इससे भी अवधिज्ञान एक प्रकार की इन्द्रियका ज्ञान है ।

'अवधिज्ञान से भूत-भविष्य का ज्ञान होता है' इस कथन का कारण दूसरा है । ऊपर ज्वालामुखी के उदाहरण में यह बात कही गई है कि पशुओं को महीनों पहिले ज्वालामुखी फटने का

कि वहाँ के किन्हीं खास तरहके परमाणुओंसे उस अवधि इन्द्रियकी रचना हुई है, जिनपर दूसरे क्षेत्रके परपाणुओंका (विजातीय होनेसे) असर नहीं पड़ता।

कोई कोई अवधिज्ञान निकटके पदार्थको नहीं जानता और दूसरे पदार्थको जान लेता है। यह बात आँखमें भी देखी जाती है। वह आँखसे लगे हुये पदार्थको नहीं देखपाती और दूसरे पदार्थको देख लेती है। रेडियोयंत्र पर अमुक प्रकारके दूरके शब्दों का ही प्रभाव पड़ता है और साधारण बोलचालके शब्दोंका प्रभाव नहीं पड़ता, आदिके समान अवधि इन्द्रियमें भी विशेषताएँ हैं।

कोई कोई आचार्य सम्यग्दृष्टि के अवधिज्ञान में अवधिदर्शन मानते हैं, मिथ्यादृष्टि को अवधिदर्शन नहीं मानते। परन्तु यह बात युक्ति-संगत नहीं मालूम होती, क्योंकि ज्ञानके पहिले दर्शन अवश्य होता है। अगर दर्शन न हो तो कोई दूसरा ज्ञान होता है। मिथ्यादृष्टि को जो विभंग-ज्ञान होता है, उसके पहिले अगर दर्शन न माना जाय तो कोई दूसरा ज्ञान मानना पड़ेगा। ऐसी हालत में अवधिज्ञान प्रत्यक्षज्ञान नहीं कहला सकता।

विशेषावश्यककार भी यह बात स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि अवधिज्ञान और विभंगज्ञान दोनों के पहिले अवधिदर्शन (१) समान होते हैं। इसलिये मिथ्यादृष्टि के भी अवधिदर्शन मानना आवश्यक है।

---

(१)— सविसेसं सागारं तं नाणं निव्विसेसमणगारं। त दंसणंति ताई ओहि विभंगाण तुल्लाइं। ७६४।

अवधिज्ञानी की एक विशेष बात और है कि परमावधि-ज्ञानी अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञानी (१) हो जाता है। अवधिज्ञान एक भौतिकज्ञान है और परमावधि का अर्थ है उत्तमश्रेणी का अवधि-ज्ञान। इसका मतलब हुआ कि परमावधि के द्वारा भौतिक जगत् का क़रीब क़रीब पूर्णज्ञान हो जाता है। भौतिक जगतका क़रीब क़रीब पूर्णज्ञान हो जाने से वह शीघ्र ही केवली क्यों हो जाता है, इस का समझना कठिन नहीं है।

यह जगत्-आत्मा और जड़ पदार्थों का सम्मिश्रण है। जो इस सम्मिश्रण का विवेक नहीं कर सकता वह आत्मा को नहीं जान सकता, इससे वह मिथ्यादृष्टि रहता है। मिली हुई दो चीज़ोंमेंसे अगर हम किसी एक चीज़ को अच्छी तरह अलग से जानलें तो दूसरी चीज़ के जानने में कुछ कठिनाई नहीं रहती। इसलिये जो मनुष्य भौतिक जगतका ठीक ठीक पूर्णज्ञान कर लेगा, उसको तुरन्त मालूम हो जायगा कि इससे भिन्न आत्मा क्या पदार्थ है। भौतिक जगत को ठीक ठीक जान लेने से उसकी आत्मभिन्नता भी पूर्ण रूप से जानी जाती है। इससे आत्मा का शुद्ध स्वरूप समझमें आ जाता है इससे वह शुद्ध आत्मा और शुद्ध श्रुत का पूर्ण अनुभव करता है। शुद्ध आत्मा का पूर्ण अनुभव ही केवलज्ञान है। मतलब यह है कि चेतनको जान कर जैसे हम जड़को अलग जान सकते हैं, उसी प्रकार जड़को जान कर भी हम चेतन को अलग जान सकते हैं।

---

(१)— परमोहिन्नाणवियो केवलमंतो मुहुत्तमेत्तेणं। विशेषावश्यक। ६८९।

मिली हुई दो चीज़ों में से एक के अनुभव हो जाने से दूसरे के अनुभव होने में देर नहीं लगती। यही कारण है कि पूर्ण भौतिक-ज्ञानी शीघ्रही पूर्ण आत्मज्ञानी अर्थात् केवली हो जाता है। विश्वके रहस्य का वह प्रत्यक्षदर्शी हो जाता है।

इस प्रकार जैन-शास्त्रों में जो अवधिज्ञान का निरूपण मिलता है उसकी सङ्गति बैठती है। पर उसकी सङ्गति बिठलाने के लिये एक जुदी इन्द्रिय की कल्पना जो मैंने की है उसे भी अभी कल्पना ही कहना चाहिये वह प्रामाणिक नहीं है।

अगर और भी निःष्पक्षता से विचार करना हो तो यही कहना ठीक होगा कि अवधिज्ञान एक मानसिक ज्ञान है जैसा कि नन्दी-सूत्रका कथन है। साधारण लोगोंकी अपेक्षा जिन की विचार-शक्ति कुछ तीव्र हो जाती है और जो भौतिक घटनाओं का कार्य कारणभाव जल्दी और अधिक समझने लगते हैं उन्हें अवधिज्ञानी कहते हैं।

कभी कभी ऐसा होता है कि हम अपने में या आसपास बहुतसी बातों का कार्यकारणभाव जल्दी समझजाते हैं क्योंकि उनका परिचय होता है जब कि दूसरी जगह हमारी अक्ल काम नहीं करती क्योंकि वहाँ परिचय नहीं होता। यही कारण है कि अवधिज्ञान अनुगामी आदि कहा जाता है।

अवधिज्ञान के द्वारा परलोक आदि की बातें बता देने की जो चर्चा आती है उसका मतलब यही है कि कर्मफल के कार्यका-रणभाव का ऐसा अच्छा ज्ञान जिससे मनुष्य कर्मफल के अनुसार

चरित्र-चित्रण करने की शीघ्रबुद्धि-प्रत्युत्पन्नमतित्व पासके ।

पहिले ज़माने में जैसा अवधिज्ञान हो सकता था वैसा आज भी हो सकता है बल्कि उससे अच्छा हो सकता है पर अब ज़माना ऐसा आगया है कि उस ज्ञान की अलौकिकता डंके की चोट घोषित नहीं की जा सकती । उसका वैज्ञानिक विश्लेषण इतना अच्छा हो सकता है कि लोग उसे अवधिज्ञान न कह कर मतिज्ञान का ही एक विशेषरूप कहेंगे । यही अवधिज्ञान का रहस्य है ।

मनःपर्यय ज्ञान ।

अवधिज्ञान के समान मनःपर्ययज्ञान भी है । अवधिज्ञानकी अपेक्षा अगर इसमें कुछ विशेषताएँ हैं, तो ये हैं:—

१—यह सिर्फ़ मन की हालतों का ज्ञान है । अवधिज्ञान की तरह यह प्रत्येक भौतिकपदार्थ को नहीं जानता है ।

२—मनःपर्ययज्ञान मुनियों के ही होता है ।

३—अवधिज्ञान का क्षेत्र सर्वलोक है, किन्तु इसका क्षेत्र सिर्फ़ मनुष्य लोक है ।

४—अवधिज्ञान के पहिले अवधिदर्शन होता है परन्तु मनःपर्यय के पहिले मनःपर्यय-दर्शन नहीं होता ।

आकृति, चेष्टा आदि से अनुमान लगाकर दूसरे के मानसिक भावों का पता लगा लेना कठिन नहीं है । यह कार्य थोड़ी बहुत मात्रा में हरएक आदमी कर सकता है परन्तु इसे मनःपर्ययज्ञान

नहीं कहते। मनःपर्ययज्ञानी तो सीधे मन का ज्ञान करता है। उसे आकृति वगैरह का विचार नहीं करना पड़ता।

मनःपर्यय का जो स्वरूप जैनशास्त्रों में बतलाया गया है, उसका वास्तविक रहस्य क्या है—यह चिंतनीय विषय है। अवधिज्ञान के विषयमें पाँच इन्द्रिय से भिन्न इन्द्रिय का जैसा उल्लेख किया गया है, वैसा मनःपर्यय के विषय में नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें एक वड़ी बाधा यह है कि मनःपर्यय-दर्शन का उल्लेख नहीं मिलता। जो ज्ञान, ज्ञानपूर्वक होता है उसका दर्शन नहीं माना जाता। इसीसे श्रुतदर्शन नहीं माना गया। मनःपर्यय दर्शन नहीं माना गया, इसका कारण सिर्फ यही हो सकता है कि यह भी ज्ञानपूर्वक ज्ञान है।

शास्त्रों में ऐसा उल्लेख भी मिलता है कि मनःपर्यय ज्ञान के पहिले ईहा मतिज्ञान होता है। यद्यपि यह बात सिर्फ ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान के विषय में कही गई है, तथापि इससे इतना तो सिद्ध होता है कि मनःपर्ययज्ञान के पहिले मतिज्ञान की आवश्यकता होती है।

हाँ, यहाँ यह प्रश्न अवश्य उठता है कि जो ज्ञान ज्ञानपूर्वक होता है उसे प्रत्यक्ष कैसे कह सकते हैं? परन्तु प्रत्यक्ष शब्दका अर्थ 'स्पष्ट' है हम लोग जिस प्रकार दूसरे के मनकी बातों को

---

(१)— परमणसिट्ठियमट्ठं ईहामदिणा उजुट्ठियं लहिय। पच्छा पच्चक्खेण य उजुमदिणा जाणदे नियमा। गोम्मटसार जीवकांड ४४८।

जानते हैं उससे अधिक सफ़ाईके साथ मनःपर्ययज्ञानी मनकी बातों को जानता है इसीसे वह प्रत्यक्ष कहा जाता है। प्रत्यक्ष, यह आपेक्षिक शब्द है। एक ज्ञान अपेक्षा भेद से प्रत्यक्ष और परोक्ष कहलाता है। अनुमानको हम श्रुतकी अपेक्षा प्रत्यक्ष और ऐन्द्रिय-ज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष कह सकते हैं। फिर भी अनुमानको परोक्षके भेदोंमें शामिल करने का कारण यह है कि हमारे सामने अनुमानसे भी स्पष्ट इन्द्रियज्ञान मौजूद है। अगर हमारे सामने कोई ऐसा ज्ञान होता जो कि मनःपर्ययकी अपेक्षा मानसिक भावोंको अधिक स्पष्टतासे जानता तो हम मनःपर्ययको भी परोक्ष कहते। मानसिक भावोंके ज्ञानकी अधिक से अधिक स्पष्टता मनःपर्ययज्ञान में पाई जाती है इसलिये उसे प्रत्यक्ष कहा है। मतलब यह है कि कोई ज्ञान ज्ञानपूर्वक हो या न हो इस पर उस की प्रत्यक्षता परोक्षता निर्भर नहीं है किन्तु दूसरे ज्ञानोंकी अपेक्षा प्रत्यक्षता परोक्षता निर्भर है; इसलिये ईहा-मतिज्ञानपूर्वक होने पर भी मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है।

जब मनःपर्ययज्ञान ज्ञानपूर्वक सिद्ध होगया तब मनःपर्यय दर्शन मानने की कोई जरूरत नहीं रहजाती इसलिये वह जैन-शास्त्रों में नहीं माना गया।

अवधिज्ञान के जैसे चिह्न बताये जाते हैं मनःपर्यय के नहीं बताये जाते किन्तु मनःपर्ययज्ञान मन से होता है यही बात कही (१)

---

(१)— सव्वंग अंग संभव चिण्हादुप्पज्जदे जहा ओही। मणपज्जवं च दव्वमणादो उप्पज्जदे णियमा गा० जी० ४४२।

जाती है। इससे मालूम होता है कि मनःपर्ययज्ञान एक प्रकार का मानसिक ज्ञान है।

मनःपर्ययज्ञानके विषयमें एक बड़ा भारी प्रश्न यह है कि वह अवधिज्ञान से ऊँचे दर्जे का तो कहा जाता है परन्तु न तो वह अवधिज्ञान की तरह निर्मल होता है न उसका क्षेत्र विशाल है, न काल अधिक है, न द्रव्य अधिक है। इस तरह अवधिज्ञान से अल्पशक्तिवाला होने पर भी उसका महत्त्व अधिक कहा जाता है। अवधिज्ञान तो पशु-पक्षी नारकी आदि चारों गतियों के प्राणियों के माना जाता है परन्तु मनःपर्यय तो सिर्फ़ मुनियों के माना जाता है और वह भी सच्चे मुनियोंके, उन्नतिशील मुनियोंके। मनःपर्यय ज्ञान को प्राप्त करने की यह शर्त मनःपर्ययज्ञान के स्वरूप पर अद्भुत प्रकाश डालती है। इससे मालूम होता है कि मनःपर्ययज्ञान विशेष-विचारणात्मक मानसिक ज्ञान है।

जिस प्रकार किसी मूर्ख और दुराचारी की आँख अच्छी हो तो वह खराब आँखवाले सदाचारी विद्वान्की अपेक्षा अधिक देखेगा किन्तु इसीसे उस मूर्ख दुराचारी मनुष्यका आसन ऊँचा नहीं हो जाता; ठीक यही बात अवधि और मनःपर्ययके विषय में है। अवधिज्ञान भौतिक विषय को ग्रहण करनेवाला है जब कि मनःपर्ययज्ञान आध्यात्मिक है; अथवा यों कहना चाहिये कि उसकी भौतिकता अवधिज्ञान की अपेक्षा बहुत कम और आध्यात्मिकता अधिक है। मनःपर्ययज्ञान का स्थान अवधिज्ञानकी अपेक्षा जो उच्च है वह भौतिक विषय की अपेक्षा से नहीं, किन्तु आध्यात्मिक विषय

की अपेक्षा से है ।

वर्तमान में मनःपर्ययज्ञान के विषय में जो मान्यता प्रचलित है उससे इसका स्पष्टीकरण नहीं होता । दूसरे के मनको जानना ही यदि मनःपर्यय हो तो यह काम अवधिज्ञान भी करता है । इसके लिये इतने बड़े संयमी तपस्वी और ऋद्धिधारी होने की कोई ज़रूरत नहीं है, जो कि मनःपर्यय की प्राप्ति में अनिवार्य शर्त बतलाई जाती है । इसलिये मनःपर्यय का विषय ऐसा होना चाहिये जिसके संयम के साथ अनिवार्य सम्बन्ध हो ।

विचार करने से मालूम होता है कि मनःपर्यय ज्ञान मानस-भावों के ज्ञान को ही कहते हैं किन्तु उसका मुख्य विषय दूसरे के मनोभावों की अपेक्षा अपने ही मनोभाव हैं ।

प्रश्न—अपने मनोभावों का ज्ञान तो हरएक को होता है । इसमें विशेषता क्या है, जिससे इसे मनःपर्यय कहा जाय ?

उत्तर--कलाई के ऊपर अंगुलियाँ जमाकर हरएक आदमी जान सकता है कि नाड़ी चल रही है परन्तु किस प्रकार की नाड़ीगति किसरोग की सूचना देती है इसका ठीक ठीक ज्ञान चतुर वैद्य ही कर सकता है । यह परिज्ञान नाड़ी की गति का अनुभव करने वाले रोगी को भी नहीं होता । भावों के विषय में भी यही बात है । अपनी समझसे कोई भी मनुष्य बुरा काम नहीं करता फिर भी प्रायः प्रत्येक प्राणी सदा अगणित बुराइयां करता ही रहता है । अगर वह मानता है कि यह कार्य बुरा है तो भी

उसका असंयम, आवश्यकता आदि का बहाना निकाल कर अपने को भुलाने की चेष्टा करता है। कभी कभी हम किसी घटना का इस तरह वर्णन करते हैं, मानों विवरण सुनाने के सिवाय हमारा उस घटना से कोई सम्बन्ध ही नहीं है; परन्तु उसके भीतर आत्मश्लाघा किस जगह छुपी बैठी है इसका हमें पता ही नहीं लगता। अपने सूक्ष्म से सूक्ष्म मानसिक भावों का निरीक्षण कर सकना बहुत कठिन है। हाँ, कभी कभी हम किसी के उपदेश की सूचनानुसार आत्मनिरीक्षण का नाटक कर सकते हैं, दंभ को दूर हटाने का भी दंभ हो सकता है, परन्तु सच्चा आत्म-निरीक्षण नहीं होता, अत्यन्त उच्चश्रेणी के संयम के बिना सच्चा आत्मनिरीक्षण नहीं हो सकता। अथवा यों कहना चाहिये कि जो इस प्रकार का आत्मनिरीक्षण कर सकता है, वह उत्कृष्ट संयमी है, किसी भी वेष में रहते हुए मुनि है।

जो मनुष्य इस प्रकार अपने मनोभावों का निरीक्षण कर सकता है, उसे दूसरोंके ऐसे ही मनोभावों को समझने में कठिनता नहीं रहती। कौन मनुष्य किस तरह आत्मवञ्चना कर रहा है, वह इस बातको अच्छी तरह जानता है। आत्मवञ्चक की अपेक्षा भी उसका ज्ञान इतना स्पष्ट और दृढ़ होता है कि उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। ऐसा मनुष्य मनोविज्ञान का अनुभवी विद्वान् विशेष बुद्धिमान (शास्त्रीय शब्दों में बुद्धि-ऋद्धिधारी) होता है।

प्रश्न– मनोविज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में क्या अन्तर है?

उत्तर– अपने शरीर में कौन कौन तत्त्व हैं और किस क्रियाका किस तत्त्व पर क्या प्रभाव पड़ता है; आदि बातोंका उत्तर

एक रसायन शास्त्री अच्छी तरह दे सकता है। फिर भी वह चतुर वैद्यका काम नहीं कर सकता। वैद्यका काम शरीर के तत्त्वोंका विश्लेषण नहीं, किन्तु स्वास्थ्य-अस्वास्थ्यका विश्लेषण करना है। मनःपर्ययज्ञानी आत्महिताहितकी दृष्टि से मानसिक जगत्का विश्लेषण करता है। दूसरी बात यह है कि मनोविज्ञान एक शास्त्र है इसीसे वह परोक्ष है जब कि मनःपर्ययज्ञान अनुभव की वह अवस्था है जो संयमी हुए बिना नहीं हो सकती। वह अनुभवात्मक होने से प्रत्यक्ष है। मनोविज्ञानका बड़ा से बड़ा पंडित बड़ा से बड़ा असंयमी हो सकता है किन्तु मनःपर्ययज्ञानी असंयमी नहीं हो सकता। इसलिये यह कहना चाहिये कि मनोविज्ञान एक भौतिक-विद्या है, जब कि मनःपर्ययज्ञान एक आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान या आत्मा की अशुद्ध परिणतियोंका सत्य प्रत्यक्ष है। हाँ, मनोविज्ञान मनःपर्ययके लिये बाहिरी भूमिकाका काम दे सकता है।

प्रश्न– थोड़ा बहुत आत्मनिरीक्षण तो सभी कर सकते हैं। ख़ासकर जो सम्यग्दृष्टि हैं, सच्चे मुनि हैं वे आत्म-निरीक्षण करते ही हैं परन्तु इन सबको मनःपर्ययज्ञान नहीं माना जाता। किसी किसी को होता है, यह बात दूसरी है; परन्तु सबको क्यों न कहा जाय?

उत्तर– भेदविज्ञान और मनोवृत्तियों का स्पष्टज्ञान, इन में बहुत अन्तर है। सम्यग्दृष्टि जो आत्मनिरीक्षण करता है वह भेदविज्ञान है, जिससे वह जड़ पदार्थों से आत्माको भिन्न समझता है या भिन्न अनुभव करता है। फिर भी वह मनोवृत्तियोंकी वास्तविकताका साक्षात्कार नहीं कर सकता, क्योंकि अगर ऐसा करे-तो वह

असंयमी न रह सके । संयमी हो जाने पर भी मनोवृत्तियों का साक्षात्कार अनिवार्य नहीं है । जैसे स्वास्थ्य-रक्षाके लिये पथ्यसे रहना एक बात है और वैद्य हो जाना दूसरी बात । उसी प्रकार संयमी होना एक बात है और मनःपर्ययज्ञानी होना दूसरी बात है।

मनःपर्ययज्ञानी होने के लिये संयम की जो शर्त लगाई गई है उससे उसके वास्तविक स्वरूपका संकेत मिलता है । उपर्युक्त विवेचन उसी संकेतका फल है । उपर्युक्त विवेचनका पूरा मर्म अनुभवगम्य है।

अवधि और मनःपर्यय के भेद प्रभेदों का बहुत ही विस्तृत वर्णन जैनशास्त्रों में पाया जाता है । उनमें परस्पर मतभेद भी बहुत हैं । परन्तु ज्ञान के प्रकरण में अवधि और मनःपर्यय का स्थान इतना महत्वपूर्ण नहीं है, जिससे यहाँ उनकी विस्तार से आलोचना की जाय । संक्षेप में यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि उनके ऊपर अलौकिकता का जितना रंग चढ़ाया गया है वह कृत्रिम है और उनके वास्तविक रूपको छुपाने वाला है ।

केवलज्ञान

इसके विस्तृत वर्णन के लिये चौथा अध्याय लिखा गया है । यहाँ तो सिर्फ़ खानापूर्ति के लिये कुछ लिखा जाता है ।

शुद्धात्मज्ञान की पराकाष्ठा केवलज्ञान है । जीवन्मुक्त अवस्था में जो आत्मानुभव होता है उसे केवलज्ञान कहते हैं । केवलज्ञानी को फिर कुछ जानने योग्य नहीं रहता, इसलिये उसे सर्वज्ञ भी कहते हैं ।

श्रुतकेवली और केवली में सिर्फ़ इतना ही अन्तर है कि जिस बात को श्रुतकेवली शास्त्र से जानता है, उसी बातको केवली

अनुभव से--प्रत्यक्ष से जानता है। जैनशास्त्रों में निश्चयश्रुतकेवली की परिभाषा यही की जाती है कि जो शुद्धात्मा को जानता है वह निश्चय-श्रुतकेवली (१) है। जब आत्मज्ञान से श्रुतकेवली बनता है तब आत्मा के ही प्रत्यक्ष से केवली होना चाहिये। जिसने आत्मा को जान लिया उसने सारा जिनशासन जान (२) लिया। इसलिये केवली को सर्वज्ञ कहते हैं।

उपनिषदों में जीवन्मुक्त अवस्था का जो वर्णन है वह भी आत्मा की एक अविकृत निश्चल दशा को बताता है। आत्मज्ञानी (३) को ही जीवन्मुक्त कहा जाता है। केवली, अर्हन्त, जीवन्मुक्त ये सब एक ही अवस्था के जुदे जुदे नाम हैं।

इस प्रकार केवलज्ञान और अन्यज्ञानों के विषय में जो जैन साहित्य में भ्रम है वह यथाशक्ति इस विवेचन से दूर किया गया है।

---

(१)— जो हि सुदेणभिगच्छादि अप्पाणमिण तु केवलं सुद्धं। तं सुदकेवलि मिसिणो भणंति लोगप्पादीवयरा। समय प्राभृत ९। यो भावश्रुतरूपेण स्वसंवेदन ज्ञानेन शुद्धात्मानं जानाति स निश्चय श्रुतकेवली भवति यस्तुस्वशुद्धात्मानं न संवेदयति न भावयति बहिर्विषयं द्रव्यश्रुतार्थं जानाति स व्यवहारश्रुतकेवली। तात्पर्यवृत्तिः।

(२)— जो पस्सादि अप्पाणं अवद्धपुट्ठं अणण्ण मविसेसं। अपदेस सुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं। समयप्राभृत १७।

(३)—यस्मिन्काले स्वमात्मानं योगी जानाति केवली तस्मात्कालात्समारभ्य जीवन्मुक्तो भवेदसौ। वराहोपनिषत् २-४२। चेतसो यदकर्तृत्वं तत्समाधानमीरितम्। तदेव केवलीभावं सा शुभा निर्वृतिः परा। महोपनिषत् ४-७।

मानव-जीवन के आनन्द-दायक मर्म को मौलिक-रूप से समझानेवाला--

सत्यभक्त-साहित्य

कर्तव्याकर्तव्य-निर्णय के समय पैदा होने वाले द्वन्द को शान्त करने के लिये एक असंदिग्ध, स्पष्ट और ठोस सन्देश देता है। नीचे लिखी हुई सूची ध्यानपूर्वक पढ़कर जल्दी से जल्दी ये पुस्तकें मँगवाइये इन्हें पारायण कर लेने के बाद आपको हरएक धर्म का सत्य रूप पूरी तरह से समझ में आ जायगा :-

(१) सत्यसंदेश [मासिक पत्र] वा. मू. ३)

हिन्दू, मुसलमान, जैन, बौद्ध, ईसाई, पारसी आदि सभी समाजा में धार्मिक और सांस्कृतिक एकता का सन्देश देनेवाला, शांतिप्रद क्रांतिका बिगुल बजानेवाला, मौलिक और गम्भीर लेख, रसपूर्ण कविताएँ, कलापूर्ण कहानियाँ, सामयिक टिप्पणियाँ और समाचार आदि से भरपूर, नमूना ।)

(२) कृष्ण-गीता-: पृष्ठ १५० मूल्य ॥।)

विविध दर्शनोंके जंजाल में फँसे हुए अर्जुनके बहाने से संसार को विशुद्ध कर्तव्य का सन्देश देने में इस ग्रन्थ के लेखक अपने युग को देखते हुए आचार्य्य व्यासदेव से भी अधिक सफल कहे जा सकते हैं । श्रीमद्भगवद्गीता के एक भी श्लोक का अनुवाद न होने पर भी यह ग्रन्थ पूर्णरूप से सु-संगत और समयोपयागी है ।

(३) **निरतिवाद** :---पृष्ठ ६० मूल्य ।=)

बुद्धि और हृदय को एकांगी आदर्शवाले अतिवादों के दलदल में फँसाकर हमने अपने व्यावहारिक जीवन को मटियामेट कर दिया है । यह ग्रन्थ हमें आसमानी कल्पनाओं के स्वर्ग में विचरण करनेवाले एकान्त साम्यवाद और नारकीय यंत्रणाओं में कैद करके पाताल में ढकेलने वाले एकान्त पूँजीवाद से मुक्त करके हमारे रहने लायक इस मर्त्यलोक का एक मध्यम-मार्गीय व्यावहारिक सन्देश देता है ।

(४) **शीलवती** [वेश्याओं की एक सुधार योजना]

यह छोटीसी पुस्तक आपको बतायगी कि वेश्याओं के जीवन को भी किस प्रकार शीलवान और उन्नत बनाया जाय? मूल्य -)

(५) **विवाह-पद्धति**:- पृष्ठ ३२ मूल्य -)

यह पुस्तक आपको सिखायगी कि दाम्पत्य जीवन के खेल को किस ज़िम्मेदारी के साथ खेला जाय ?

(६) **सत्यसमाज** [शंका-समाधान] पृ. ३२ मू. -)॥.

(७) **धर्म-मीमांसा** पृष्ठ १०० मूल्य ।)

धर्म की मौलिक व्याख्या और उसका सर्वव्यापक विशुद्ध स्वरूप । सत्यसमाज की शंकासमाधान सहित रूप-रेखा ।

(८) **जैन-धर्म-मीमांसा** [प्रथम भाग] पृष्ठ ३५०

धर्म की निष्पक्ष व्याख्या, म. महावीर का संशोधित और बुद्धि-संगत जीवन--चरित्र । सम्यग्दर्शन की असाम्प्रदायिक, मौलिक, गहरी और विस्तृत व्याख्या । मूल्य १) ।

४ दरबा

वीर सेवा मन्दिर

पुस्तकालय

काल नं० 2[redacted] ~~सत्य~~ दरबा

लेखक दरबारी लाल, सत्यभक्त।

शीर्षक जैन धर्म मीमांसा।

2 ६०४